

श्रीदेवणभट्टोपाध्यायविरचित

स्मृतिचन्द्रिका

SMṚTICANDRIKĀ

स्मृति चन्द्रिका

श्रीयान्निकदेवणभट्टोपाध्यायरचिता

संस्कारकाण्डः प्रथमः
आह्निककाण्डो द्वितीयः

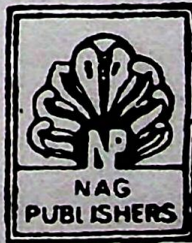
SMRITICHANDRIKA

BY
DEVANA-BHATTA

EDITED BY
L. SRINIVASACHARYA
Pandit, Govt. Oriental Library, Mysore

I. SAMSKARA KANDA

II. AHNIKA KANDA



नाग प्रकाशक

११ ए/यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७

This Publication has been brought out with the financial assistance from the Govt. of India, Ministry of Human Resource Development.

(If any defect is found in this volume, please return the copy per VPP for postage to the Publisher for free exchange.)

NAG PUBLISHERS

- (i) 11A/ U.A. Jawahar Nagar, Delhi-110007**
- (ii) 8A/3 U.A. Jawaharnagar, Delhi-110007**
- (iii) Jalalpur Mafi (Chunar-Mirzapur) U. P.**

ISBN 81-7081-177-5 (Set)

1988

PRICE Rs. 151.00 per set

PRINTED IN INDIA

Published by Nag Sharan Singh for Nag Publishers, 11A/U.A. Jawaharnagar, Delhi-110007 and printed at New Gian Offset Printers, Delhi.

उपोद्धातः.

इह खलु स्मृतिचन्द्रिकाख्यस्यास्य ग्रन्थस्य प्रणेता सकल-
विद्याविशारदकेशवादित्यभट्टोपाध्यायस्य सूनुः याज्ञिकदेवण-
भट्टोपाध्यायसोमयाजीति तत्तत्काण्डान्ते लिखितया प्रशस्ति-
पङ्क्त्या स्पष्टं ज्ञायते. स तु कुत्र कदा वाऽऽसीदिति स्पष्टं नाव-
गम्यते. अथापि १२६० तमात्किस्ताब्दादा च १२७१ तमकि-
स्ताब्दाद्देवगिरिमाधिष्ठितस्य यादववंश्यस्य महादेवनृपतेः प्राङ्घ्रि-
वाकेन हेमाद्रिणा स्वीये चतुर्वर्गाचिन्तामणौ श्राद्धकल्पे स्मृति-
चन्द्रिकाकारस्यास्य तात्पर्याण्युपन्यस्तानि, कचित्खण्डितानि
च^१ अतश्च १२६०—१२७१ क्रिस्ताब्दकालिकाद्धेमाद्रेर्देवणभट्टोऽयं
प्राचीन इति स्पष्टमाकल्यते.

स्मृतिचन्द्रिकायां सङ्ग्रहकारश्चतुर्विंशतिमतसङ्ग्रहकारश्चेति^२
द्वावेव निबन्धग्रन्थकृतौ परामृष्टौ दृश्येते. कोऽयं संग्रहकार
इति तु न कुत्रापि विशदीकृतं दृश्यते. चतुर्विंशतिमतसङ्ग्र-
हकारस्य नामधेयमपि चतुर्विंशतिमतस्य व्याख्यातुर्भट्टोजिदी-
क्षितस्यापि न विदितमासीदिति “कश्चन शिष्यः”^३ इति वदता
व्याख्यात्रैव प्रकटीकृतम्.

^१ श्राद्धकल्पः. अध्याय ११, पु. ११३९; पु. ११४३; अध्याय १३,
१२१३; १२६३; १३३४; अध्याय. १५, १४०८. Asiatic Society
of Bengal, Ed. १८७३.

^२ संस्कारकाण्डः—पु. ७३, ८१, १३४, १७१, १८२, १९४, २१३.

^३ चतुर्विंशतिमतव्याख्या. पु. २.

सङ्ग्रहकारवाक्यानि चन्द्रिकायामनूदितानि चतुर्विंशतिमत्-
सङ्ग्रहे न दृश्यन्ते. अतश्च सङ्ग्रहकारविरचितस्सङ्ग्रहश्चतुर्विंश-
तिमत्सङ्ग्रहादन्य एवेति बाढं ज्ञायते. तथा च क्रिस्ताब्दानां
चतुर्दशशतके प्रख्याते विजयनगरसंस्थाने चन्द्रिकाकारस्व-
ग्रन्थं प्राणैषीदिति सर् थामस् स्ट्रैज्नामकेन प्राङ्घ्रिकाकेनोक्तमिति
कृष्णस्वामिविदुषा स्वीये स्मृतिचन्द्रिकाया आङ्ग्रेयभाषानुवादे
सूचितो देवणभट्टकालो निर्मूल एव.

किंच “अत्र विशेषमाह नारायणः” इति आह्निककाण्डे
५६७ तमपुटे ग्रन्थकृता परामृष्टो नारायणः मनुस्मृतेर्व्याख्याता
सर्वज्ञनारायणो वाऽन्यो वेति न ज्ञायते. यदि मनुव्याख्यातैव स
स्यात्तदा स क्रिस्ताब्दानां त्रयोदशशतकात्प्राचीन एवेति ज्ञा-
यते. अतश्च चतुर्दशशतकालिकस्स इति यद्भूलर्नाम्ना पाश्चा-
त्यविदुषा स्वीये मनुस्मृतेराङ्ग्रेयभाषानुवादे उपोद्धाते १२९ तम
पत्रे लिखितं तदपि निर्मूलं भवति.

द्राविडसम्प्रदायविरुद्धस्य मातुलदुहितृपैतृस्वसेयीपरिणय-
नस्यानुष्ठेयत्व^१ प्रतिपादनादयं ग्रन्थकर्ता दाक्षिणात्यस्त्वान्ध इति
स्पष्टमाकल्यते.

ग्रन्थश्चायं संस्काराह्निकव्यवहारश्राद्धाशौचप्रायश्चित्तात्मकैः
षड्भिः काण्डैर्विभक्तो वर्तते. तत्र संस्काराह्निकव्यवहारश्रा-
द्धकाण्डा बाढं संशोध्यत्र मुद्रापिताः प्रख्यापिताश्च. आशौ-
चकाण्डश्चेदानीं मुद्रामाधिरूढोऽस्ति. नैकाऽपि प्रायश्चित्तकाण्ड-
मातृकाऽद्याप्यत्र लब्धा. “प्रायश्चित्ते वक्ष्यामः” इति तत्रतत्र

^१ संस्कारकाण्डः, पु. १००.

वदता ग्रन्थकृता प्रायश्चित्तकाण्डोऽपि प्रायेण विराचितस्सङ्क-
लिप्तो वाऽसीदिति सूच्यते. स्वीयपुस्तकभाण्डागारे स्थितिच-
न्द्रिकायाः प्रायश्चित्तकाण्डं वहन्तो महाशया मातृकादानेन
यशो लभेरन्.

श्राद्धकाण्डस्यास्य शोधनेऽधस्ताद्दर्शिता मातृकाकोशाः
उपयुक्ताः—

No. 2848 तालपत्रात्मकमान्त्रालिप्या लिखितमशुद्धम्.

No. 2581 तालपत्रात्मकं नागरालिप्या लिखितं प्रायेण
शुद्धम्.

No. 4316 ,, ,,

No. 4339 तालपत्रात्मकं ग्रन्थालिप्या लिखितं नात्य-
शुद्धम्.

पुस्तकचतुष्टयमप्येतत्पुस्तकभाण्डागारीयमेवेति सर्वमन-
वद्यम्.

R. S.

आशुतोष अवस्थी

अध्यक्ष

श्री नारायणेश्वर देव देवाङ्ग सभित्ति (उ.प्र.)

स्मृतिचन्द्रिकायां परामृष्टानि स्मृतिकर्तृपुराणादिनामानि.

अत्रिः
अङ्गिराः
आदिपुराणम्
आपस्तम्बः
आश्वलायनः
उशना
ऋष्यशृङ्गः
कश्यपः
कल्पभाष्यम्
ऋतुः
कात्यायनः
कार्ष्णाजिनिः
कूर्मपुराणम्
कौशिकः
गर्गः
गृह्यपरिशिष्टम्
गृह्यशौनकः
गृह्यकात्यायनः
गोभिलः
गौतमः
चतुर्विंशतिमतम्
छागलेयः
जमदग्निः
जाबालिः
जातूकर्णः
ज्योतिषशास्त्रम्
दक्षः

देवलः
धौम्यः
तन्दिकेश्वरः
नारदः
नारायणः
निरुक्तम्
नृसिंहपुराणम्
पद्मपुराणम्
पराशरः
प्रजापतिः
प्रचेताः
पारस्करः
पितामहः
पुलस्त्यः
पुलहः
पैठीनसिः
बृहचब्राह्मणम्
बृहस्पतिः
ब्रह्मगर्भः
ब्रह्माण्डपुराणम्
ब्राह्मपुराणम्
बोधायनः
बैजात्रापः
भविष्यत्पुराणम्
भविष्योत्तरम्
भारद्वाजः
भृगुः

मनुः
 मत्स्यपुराणम्
 मरीचिः
 मार्कण्डेयः
 मार्कण्डेयपुराणम्
 यमः
 यज्ञपार्श्वः
 याज्ञवल्क्यः
 योगयाज्ञवल्क्यः
 रत्नकोशः
 लघुव्यासः
 लघुहारीतः
 लिङ्गपुराणम्
 लोणाक्षिः
 वराहपुराणम्
 वगहमिहिरः
 वसिष्ठः
 वायुपुराणम्
 वार्तिककाराः
 व्याघ्रपादः
 व्यासः
 विवस्वान्
 विश्वामित्रः
 विष्णुः
 विष्णुधर्मोत्तरम्
 विष्णुपुराणम्

वृद्धपराशरः
 वृद्धमनुः
 वृद्धवसिष्ठः
 वृद्धयाज्ञवल्क्यः
 वृद्धशातातपः
 वृद्धशङ्खः
 वैयाघ्रपादः
 शङ्करः
 शङ्खः
 शङ्खलिखितौ
 शाठ्यायनिः
 शातातपः
 शिवधर्मशास्त्रम्
 शौनकः
 षट्त्रिंशन्मतम्
 सङ्ग्रहकारः
 सत्यतपाः
 सत्यव्रतः
 संवर्तः
 साङ्ख्यायनः
 साङ्ख्यायनगृह्यम्
 सुमन्तुः
 सुश्रुतः
 स्कन्दपुराणम्
 हारीत

स्मृतिचन्द्रिकायां संस्कारकाण्डे विषयसूचिका

| विषयाः | पत्रसंख्या. |
|------------------------|-------------|
| प्रमाणसाधनम् | 1 |
| धर्मप्रमाणानि | 5 |
| धर्मस्वरूपनिरूपणम् | 13 |
| श्रुत्यादिबलावलनिर्णयः | 15 |
| देशनिर्णयः | 17 |
| निषिद्धदेशाः | 22 |
| देशधर्माः | 24 |
| युगधर्माः | 27 |
| कलियुगधर्माः | 28 |
| संस्कारपरिभाषा | 32 |
| गर्भाधानम् | 36 |
| पुंसवनम् | 43 |
| सीमन्तोन्नयनम् | 44 |
| गर्भिणीधर्माः | 45 |
| जातकर्म | 48 |
| नामकरणम् | 52 |
| निष्क्रमणम् | 55 |
| कर्णवेधः | 56 |
| अन्नप्राशनम् | 57 |

| विषयाः. | पत्रसंख्या. |
|------------------------|-------------|
| चूडाकरणम् | 58 |
| स्त्रीसंस्काराः | 60 |
| अनुपनीतधर्माः | 62 |
| विद्यारम्भः | 66 |
| उपनयनम् तस्य मुख्यकालः | 67 |
| उपनयनस्य गौणकालाः | 72 |
| अजिनानि | 74 |
| वासांसि | 75 |
| दण्डाः ... | 76 |
| मेखलाः ... | 79 |
| यज्ञोपवीतम् | 80 |
| अभिकार्यम् | 85 |
| गुर्वादिस्वरूपनिरूपणम् | 88 |
| अभिवादनम् | 95 |
| मान्यत्वानिमित्तानि | 106 |
| भिक्षाटनम् | 108 |
| उपनीतधर्माः | 117 |
| वेदप्रशंसा | 128 |
| श्रुतप्रशंसा | 130 |
| अध्ययनविधिः | 132 |
| उपाकरणम् | 145 |
| उत्सर्जनम् | 147 |
| अनध्यायाः | 149 |
| ब्रह्मचर्यकालावधिः | 165 |

III

| विषयः. | पत्रसंख्य. |
|----------------------------------|------------|
| ब्रह्मचारिद्वैविध्यम् | 167 |
| आश्रमसमुच्चयविकल्पौ | 172 |
| समावर्तनम् | 177 |
| विवाहः | 179 |
| सापिण्ड्यस्वरूपम् | 180 |
| समानप्रवरत्वनिर्वचनम् | 182 |
| सापिण्ड्यसगोत्रत्वनिवृत्तिः | 185 |
| मातुलसुतापारिणयनसमर्थनम् ... | 187 |
| कन्यालक्षणानि | 200 |
| असवर्णापारिणयनसमर्थनम् | 205-208 |
| वरलक्षणानि | 209 |
| कन्यादानकालः | 211 |
| कन्यादानफलम् | 214 |
| पुनरुद्वाहनिषेधः | 221 |
| कन्यादातृनिर्णयः | 223 |
| विधवानियोजनम् | 224 |
| विवाहभेदाः | 227 |

इति संस्कारकाण्डविषयसूचिका.



स्मृतिचन्द्रिकायां आह्निककाण्डे विषयसूचिका.

| विषयाः. | पत्रसंख्या. |
|-------------------------|-------------|
| मूत्रपुरीषोत्सर्जनविधिः | 234 |
| शौचविधिः | 240 |
| शारीरमलशौचम् | 250 |
| आचमनविधिः | 252 |
| आचमननिमित्तानि | 260 |
| द्विराचमननिमित्तानि | 264 |
| आचमनापवादः | 265 |
| आचमनप्रतिषेधः | 268 |
| आचमनविषयाः | 273 |
| दन्तधावनविधिः | 276 |
| कुशमहिमा | 282 |
| कुशोत्पाटनविधिः | 284 |
| स्नानप्रशंसा | 289 |
| स्नानभेदाः | 290 |
| नित्यस्नानम् | 291 |
| वासोविषयाः | 298 |
| ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिः | 302 |
| नैमित्तिकस्नानानि | 304 |
| काम्यस्नानानि | 320 |

| विषयाः | पत्रसंख्याः. |
|------------------------|--------------|
| माघस्नानविधिः | 323 |
| मलापकर्षणस्नानम् | 326 |
| तिथिप्रयुक्तानिषेधाः | 329 |
| क्रियास्नानानि | 332 |
| स्नानार्हजलानि | 333 |
| नदीरजोदोषनिर्णयः | 340 |
| तीर्थस्नानमन्त्राः | 344 |
| गौणस्नानानि | 348 |
| सन्ध्याप्रशंसा | 351 |
| सन्ध्याशब्दार्थनिर्णयः | 352 |
| प्रातस्सन्ध्या | 357 |
| सू.सन्ध्याप्रयोगः | 358 |
| प्राणायाममहिमा | 368 |
| प्राणायामविधिः | 369 |
| ध्येयस्वरूपनिरूपणम् | 374 |
| गायत्रीमहिमा | 377 |
| आर्षादिनिर्णयः | 379 |
| न्यासविधिः | 381 |
| मुद्राः | 386 |
| गायत्रीकवचम् | 391 |
| गायत्रीजपविधिः | „ |
| गायत्रीजपविषयाः | 399 |
| जपमाला | 401 |
| अभ्युक्षणाहरणम् | 405 |

| विषयाः | पत्रसंख्या. |
|----------------------|-------------|
| अग्निहोत्रमहिमा | 409 |
| अग्निहोत्रादिकर्माणि | 411 |
| यज्ञाधिकारिनिरूपणम् | 417 |
| होमाविधिः | 422 |
| औपवसथ्यनियमाः | 433 |
| पुनराधानम् | 435 |
| अग्नयाधेयविषयः | 437 |
| आदर्शविक्षणादि | 445 |
| वेदाभ्यासः | 447 |
| धनार्जनम् | 448 |
| प्रतिग्रहादिनिरूपणम् | 456 |
| आपद्रुत्तयः | 469 |
| माध्यन्दिनस्नानम् | 482 |
| मध्याह्नसन्ध्या | 493 |
| जपयज्ञप्रशंसा | 497 |
| जप्यानि | „ |
| जपान्तरम् | 502 |
| ब्रह्मयज्ञः | 504 |
| तर्पणम् | 509 |
| यमतर्पणम् | 529 |
| भाधमतर्पणम् | 530 |
| देवतार्चनम् | 531 |
| देवतालानादिविषयाः | 539 |
| शिवार्चनम् | 549 |

| विषयाः. | | | पत्रसंख्या. |
|-------------------|------|------|-------------|
| शिवस्नानादिविषयाः | | | 553 |
| पञ्चमहायज्ञाः | | | 561 |
| वैश्वदेवविधिः | | | 570 |
| बलिहरणम् | .. | ... | 577 |
| अतिथिपूजा | ... | | 589 |
| अन्नदानादिविधिः | | | 597 |
| भोजनाविधिः | | | 598 |
| भोक्तृनियमाः | | | 613 |
| ग्रहणनियमाः | ... | | 619 |
| सायंसन्ध्या | | | 624 |
| शयनविधिः | | | 627 |

इत्याह्निककाण्डविषयानुक्रमणिका.

श्रीमहागणपतये नमः

याज्ञिक देवणभट्ट विरचिता

स्मृतिचन्द्रिका.

संस्कारकाण्डः.

वागीश्वरीं गणेशं च नत्वा विद्रदनुग्रहात् ।
सर्वलोकहितार्थाय क्रियते स्मृतिचन्द्रिका ॥
स्वाभिप्रायेण हि मया न किञ्चिदिह लिख्यते ।
किन्तु वाचनिकं सर्वं अतो ग्राह्यैव निर्भयेः ॥

प्रमाणसाधनम्.

मन्वादिप्रणीतानामेव धर्मशास्त्राणां वेदमूलत्वादेव तान्येव
धर्मे प्रमाणानीति तदधिगमोपयोगितया तच्छास्त्रप्रणेतारः
प्रथमं प्रदर्शयन्ते । तत्र पैठीनसिः—

तेषां मन्वाङ्गिरोव्यासगौतमात्र्युशनोयमाः ।

वसिष्ठदक्षसंवर्तशातातपपराशराः ॥

विष्ण्वापस्तम्बहारीताः शङ्खः कात्यायनो गुरुः ।

प्रचेता नारदो योगी बोधायनपितामहौ ॥

सुमन्तुः कश्यपो बभ्रुः पैठीनो व्याघ्र एव च ।
 सत्यव्रतो भरद्वाजो गार्ग्यः काष्णार्जिनिस्तथा ॥
 जाबालिर्जमदग्निश्च लोगाक्षिर्ब्रह्मसम्भवः ।
 इति धर्मप्रणेतारः षड्विंशदृषयस्स्मृताः ॥

इति । ननु किमियं परिसङ्ख्या ? मैवम्, तथा सति वत्सम-
 रीचिदेवलपारस्करपुलस्त्यपुलहक्रतुऋष्यशृङ्गलिखितच्छागलेया-
 दीनां धर्मशास्त्रप्रणेतृत्वं न स्यात् । न च तथाऽस्त्विति
 वाच्यम्, तेषामपि वेदमूलस्मृतिशास्त्रप्रणेतृत्वेन मन्वादिभ्योऽ-
 विशेषात् । अत एव शङ्कः—

“मनुयमदक्षविष्ण्वङ्गिरोबृहस्पत्युशनआपस्तम्बगौतमसंव-
 र्तात्रेयहारीतकात्यायनशङ्खलिखितपराशरव्यासशाता-
 तपप्रचेतोयाज्ञवल्क्यादयः.”

इत्यादिग्रहणं कृतवान् । अतः प्रदर्शनार्थमेव परिगणनं
 न्याय्यम् । अत्राङ्गिराः—

जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लोगाक्षिकाश्यपौ¹ ।
 व्यासस्सनत्कुमारश्च शन्तनुर्जनकस्तथा ॥
 व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्णः कपिञ्जलः ।
 बोधायनः कणादश्च विश्वामित्रस्तथैव च ॥
 उपस्मृतय इत्येताः प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

इति । अथ पुराणानि—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ।

तथाऽन्यन्नारदीयं च मार्काण्डेयं च सप्तमम् ।

आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यं नवमं तथा^१ ।

दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं तथा^१ ।

वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चैव त्रयोदशम् ।

चतुर्दशं वामनं च कौर्म पञ्चदशं स्मृतम् ॥

मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च तथाऽपरम् ॥

वक्रनपेक्षत्वेन वेदश्च प्रमाणम् । तन्मूलत्वेन स्मृत्याचारा
वपि । तन्मूलत्वं च तत्प्रतिपादितार्थाभिधायित्वात् । तथा
च भृगुः—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे ब्रह्मज्ञानमयो हि सः ॥

इति । शङ्खोऽपि—

‘तत्र वेदमूलास्स्मृतयः.’

इति । एतदप्यदृष्टार्थानामेव, न पुनर्दृष्टार्थानाम् । तथा
च पुराणम्—

सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थाः परिहृत्य तु ॥

इति । ननु यादे स्मृतिशास्त्रस्य वेदप्रतिपादितार्थपरत्वेन
वेदमूलत्वं तर्हि तेनैवालं किं धर्मशास्त्रेणेत्याशङ्क्याह मरीचिः—

^१ स्मृतम्.—क.

^२ सर्व.—क.

दुर्वोधा वैदिकाशब्दाः प्रकीर्णत्वाच्च ये खिलाः ।

तज्ज्ञैस्त एव स्पष्टार्थाः स्मृतितन्त्रे प्रतिष्ठिताः ॥

इति । एवं पुराणानामपि प्रामाण्यं प्रयोजनवत्त्वं च सिद्धम् । अत एव वेदचतुष्टयं दर्शयित्वाऽऽह श्रुतिः—

‘इतिहासपुराणं पञ्चमम्.’

इति । न च श्रुत्यादीनां पौरुषेयत्वादितर्कबलेनाप्रामाण्यं शङ्कनीयं, तस्याप्रातेष्ठितत्वादोषाभिधानाच्च । तथा च मनुः—

योऽवमन्येत ते तूभे हेतुशास्त्राश्रयो द्विजः ।

स साधुभिर्वहिष्कार्यः नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

इति । उभे श्रुतिस्मृती । यमोऽपि—

एतैर्यानि प्रणीतानि धर्मशास्त्राणि वै पुरा ।

तान्येतानि प्रमाणानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।

यस्तानि हेतुभिर्हन्यात् सोऽन्धे तमसि मज्जति ॥

इति । धर्मशास्त्रग्रहणं पुराणादेरपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव विष्णुः—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

इति । एवं च गृह्यकाराणामपि प्रामाण्यमविरुद्धम् । तेषामपि मन्वादिप्रणीतस्यैव संस्कारकलापस्य स्वशाखावगतमन्त्र-विनियोगद्वारेण प्रयोजकत्वात् । तथा च देवलः—

धर्मप्रमाणानि

मन्वादयः प्रयोक्तारो धर्मशास्त्रस्य कीर्तिताः ।

तत्प्रयुक्तप्रयोक्तारो गृह्यकारास्समूचिरे ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रमाणसाधनम् ॥

धर्मप्रमाणानि.

अथ धर्मप्रमाणानि तत्र याज्ञवल्क्यः—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इति । पुराणं ब्राह्मादि । न्यायः तर्कः । मीमांसा
वेदवाक्यविचारः । धर्मशास्त्रं मन्वादिस्मृतयः । अङ्गैः व्या-
करणादिभि युक्ताः चत्वारो वेदाः । एताश्चतुर्दश विद्यानां धर्म-
ज्ञानानां स्थानानि निमित्तानि प्रमाणानि धर्मस्य च विद्याद्वारेण ।
मनुरपि—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥

इति । अयमर्थः—वेदः धर्ममूलं धर्मे प्रमाणम्, तथा
वेदविदां स्मृतिशीले अपि, शीलं रागद्वेषादिवर्जनम् । आचारः
कङ्कणबन्धनादिः । आत्मतुष्टिः वैकल्पिकेषु पदार्थेषु यस्मिन्
क्रियमाणे आत्मनः प्रीतिः साऽपि प्रमाणमिति । व्या-
सोऽपि—

धर्ममूलं वेदमाहुः ग्रन्थराशिमकृत्रिमम् ।

तद्विदां स्मृतिशीले च साध्वाचारं मनःप्रियम् ॥

साधवः शिष्टाः । तथा च मनुः—

शिष्टाचारस्मृतिर्वेदान्निविधं धर्मलक्षणम् ।

इति । लक्षणं प्रमाणमित्यर्थः । शिष्टानामपि स्वरूपं स एवाह—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदस्सपरिवृंहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

इति । इतिहासपुराणान्यङ्गानि च वेदस्य परिवृंहणानि ।

तथा च बृहस्पतिः—

इतिहासपुराणेभ्यो वेदं समुपबृंहयेत् ।

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः मामयं प्रतरिष्यति ॥

श्रुतिः प्रत्यक्षहेतुः धर्माधिगतौ येषां ते तथोक्ताः । ननु यदि वेदविदाचारः प्रमाणं तर्हि इन्द्रचन्द्रादेरहल्यातारादिगमनमपि प्रमाणं स्यात् । न च तथा । अतः कथमाचारप्रामाण्यम्? तदाह गौतमः—

‘दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च (तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते.)¹)

इति । साहसं परशुरामादेः मातुः शिरश्छेदादि । उच्यते—सत्यं इन्द्रादीनामहल्यागमनमपि, तथाऽपि तेषां तप

¹ रेखाद्वयाङ्कितस्थाने ‘महताम्’ इत्येव मुद्रितपुस्तके पाठः.

स्संजनिततेजोविशेषेण योगिनां प्रत्यवायो न भवति । अस्म-
दादीनां तदभावेन तत्करणे भवत्येव प्रत्यवायः । तदा-
हापस्तम्बः—

तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते ।

तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवर(जोऽबल):¹ ॥

इति । मनुरपि—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्टो महतां साहसं तथा ।

तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरजोऽबलः ॥

इति । यत्र मनुस्मृत्यादयो न सन्ति तत्र परिषद्वचनं प्रमा-
णमित्याह मनुः—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

यं शिष्टा ब्राह्मणा भूयुः स धर्मस्स्यादशङ्कितः ॥

इति । धर्मेषु धर्मप्रमाणेष्वित्यर्थः । ते च शिष्टाः दशावराः ।
तदाह गौतमः—

‘अनाम्नाते’ दशावरैः शिष्टैः ऊहवद्भिः अलुब्धैः प्रश-
स्तं कार्यम्.’

इति । यत्तैः प्रशस्तमित्युक्तं तत्कार्यमित्यर्थः । बोधायनोऽपि—
‘तदभावे दशावरा परिषत्.’

¹ रेखाद्वयमध्यगतः पाठो न मुद्रितपुस्तके.

² अनाज्ञाते इति सूत्रपाठः.

इति । तदभावे श्रुत्याद्यभावे । याज्ञवल्क्योऽपि—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः परिषत्रैविद्यमेव वा ।

सा ब्रूते यं स धर्मस्सद्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥

इति । धर्मः धर्मशास्त्रम् । तिस्रो विद्या येषां ते त्रैविद्याः
तेषां समूहः त्रैविद्यम् । ऋगादिवेदत्रयज्ञा धर्मज्ञांश्च त्रयो वा
परिषत् इत्यभिप्रायः । तथा च मनुः—

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।

त्रयवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥

इति । अध्यात्मवित्तमः अध्यात्मविदां श्रेष्ठो धर्मज्ञश्च स
एको वा यमर्थं ब्रूते धर्मतया सोऽपि धर्मस्स्यात् । वसि-
ष्ठोऽपि—

त्रैविद्यवृद्धा यं ब्रूयुः धर्मं धर्मविदो जनाः ।

पतने पातने चैव स धर्मो नात्र संशयः ॥

इति । तदपि श्रुत्यादिवदेव प्रमाणमित्याह यमः—

वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणं

धर्मार्थयुक्तं वचनं प्रमाणम् ।

यस्य प्रमाणं न भवेत्प्रमाणं

न तस्य कुर्याद्वचनं प्रमाणम् ॥

यस्य श्रुत्यादिकं प्रमाणं न भवति तस्य वाक्यं न
प्रमाणम् । अतः तत्परित्याज्यमित्यभिप्रायः । अत एव

प्रचेताः—

अमीमांसा बहिःशास्त्राः ये चान्ये वेदवर्जिताः ।

यत्ते ब्रूयुः न तत्कुर्यात् वेदाद्धर्मो विधीयते ॥

इति । तथा सम्प्रदायोऽपि कचित्प्रमाणमित्याह मनुः—

येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः ।

तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

स्वकुलपरम्परायात आचारः सम्प्रदायः । सोऽपि शास्त्रविप्रति-
पत्तौ द्रष्टव्यः । तथा च सुमन्तुः—

यत्र शास्त्रगतिभिन्ना सर्वकर्मसु भारत ।

उदितेऽनुदिते चैव होमभेदो यथा भवेत् ॥

तस्मिन्कुलक्रमायातमाचारं त्वाचरेद्बुधः ।

स गरीयान्महाबाहो सर्वशास्त्रोदितादपि ॥

तथा धर्मज्ञसमयोऽपि प्रमाणमित्याह आपस्तम्बः—

‘ धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च ।’

इति । एतच्च धर्मशास्त्रस्यापि धर्मोपयोगित्वादध्ययने फलश्रवणाच्च
तदध्येतव्यमित्याह मनुः—

यथैव वेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।

अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥

यमोऽपि—

धन्यं¹ यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च ।

¹ धर्म्यं—क.

धारणं धर्मशास्त्रस्य वेदानां धारणं तथा ॥

ग्रहणाद्धर्मशास्त्रस्य ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

बृहस्पतिरपि—

श्रुतिस्मृती हि विप्राणां चक्षुषी परमे मते ।

काणस्तत्रैकया हीनः द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः ॥

अधीत्य चतुरो वेदान् सषडङ्गपदक्रमान् ।

स्मृतिहीना न शोभन्ते चन्द्रहीनेत्र शर्वरी ॥

इति । मनुरपि—

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणस्संशितव्रतः ।

मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥

इति । अत्र ब्राह्मणग्रहणं द्विजात्युपलक्षणार्थम्, अत एव यमः—

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि विद ।

पुनाति हि पितॄन् पूर्वान् सप्त सप्तावरानपि ॥

यत्पुनर्मनुनोक्तम्—

विदुषा ब्राह्मणेनेदं अध्येतव्यं प्रयत्नतः ।

विद्वद्भिश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥

तच्छूद्राधिकारनिवृत्तिपरम्, अत एव शूद्राधिकारं प्रकृत्य यमः—

तस्मादस्याधिकारोऽस्ति न वेदेषु न तु स्मृतौ ।

इति । अतस्सिद्धो द्विजातीनामेवाध्ययनेऽधिकारः.

इति । एवं तदर्थानुष्ठानेऽपि द्रष्टव्यम्, अत एव मनुः—

निषेकादिश्मशानान्तं¹ मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥

इति । निषेको गर्भाधानम्, श्मशानं प्रेतकर्म । व्यासोऽपि—

तेन स्मार्तमनुष्ठानमन्तरेण² तु वैदिकम् ।

प्रवर्तते द्विजातीनां धर्मशुद्धिमभीप्सुभिः ॥

इति । यत्पुनश्शाक्यादिप्रणीतं तन्नानुष्ठेयम्, तस्यावेदमूलत्वात् ।

तदुक्तं चतुर्विंशतिमते—

अर्हच्चावाकवाक्यानि बौद्धादिपठितान्यपि ।

विप्रलम्भकवाक्यानि तानि सर्वाणि वर्जयेत् ॥

व्यासोऽपि—

एतेभ्योऽपि यदन्यत्स्यात् किञ्चिद्धर्माभिधायकम् ।

तद्दूरतरतो विद्धि मोहस्तस्याश्रयो मतः ॥

इति । किं तर्हि अनुष्ठेयमित्यपेक्षिते स एवाह—

वेदार्थवित्तमैः कर्म यत्स्मृतं³ मुनिभिः पुरा ।

तद्यत्नेनानुतिष्ठेत तन्निषिद्धं तु वर्जयेत् ॥

ते हि वेदार्थतत्त्वज्ञाः लोकानां हितकाम्यया ।

आदिष्टवन्तो यं धर्मं तं धर्मं न विचालयेत् ॥

¹ नान्तो—ख.

² न—ख,

³ यत्कृतम्—ख.

इति । अत्र कात्यायनः—

यत्रोपदिश्यते कर्म कर्तुरङ्गं न वोच्यते ।

दक्षिणस्तत्र विज्ञेयः कर्मणां पारगः करः ॥

यत्र दिङ्मो न स्याज्जपहोमादिकर्मसु ।

तिस्रस्तत्र दिशः प्रोक्ता ऐन्द्री सौम्याऽपराजिता ॥

आसीन ऊर्ध्वः प्रहो वा नियमो यत्र नेदशः ।

तदाऽऽसीनेन कर्तव्यं न प्रहेण न तिष्ठता ॥

प्रवृत्तमन्यथा कुर्याद्यदि मोहात्कथंचन ।

यतस्तदन्यथाभूतं तत एव समापयेत् ॥

समाप्तं यदि जानीयान्मयैतदयथाकृतम् ।

तावदेव पुनः कुर्यान्नावृत्तिः सर्वकर्मणः ॥

प्रायो यस्यां क्रियायां तु साङ्गं तत्क्रियते पुनः ।

तदङ्गस्याक्रियायां तु नावृत्तिर्नैव तत्क्रिया ॥

इति । ननु किमत्र सकलस्मार्ताङ्गोपसंहारेणानुष्ठानं उत न (अन्येन)? यदि नोपसंहारः, तदा

सर्वशाखोपसंहारादुक्तः श्रौतो यथा विधिः ।

सर्वस्मृत्युपसंहारात् स्मार्तोऽप्युक्तस्तथा विधिः ॥

इत्यादिविरोधस्स्यात् । अथोपसंहारः, तदा नानुष्ठानं शक्यं विरुद्धोपसंहारसम्भवात् । उच्यते—सत्यं यदि सर्वोपसंहारः स्यात्; किन्तु यन्नाम्नातं स्वतन्त्रेण तावन्मात्रपरिपूरण^३मेवा-

^१ प्रधानस्याक्रियायां तु—ख. ^२ स्मार्तोपसंहारेणानुष्ठानमुत न वा? यदि—इति

स्मृतिरत्नाकरे.

^३ परिहरण—ख.

न्यतः क्रियत इत्यविरोधः । अत एव कात्यायनः—

यन्नास्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि च ।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयं अग्निहोत्रादिकर्मवत् ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं, 'सर्वस्मृत्युपसंहारात्' इति ॥

यत्तु कात्यायनेनोक्तम्—

बह्वलपं वा स्वगृह्योक्तं यस्य कर्म प्रकीर्तितम् ।

तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वं कृतं भवेत् ॥

इति, तन्निराकांक्षाभिप्रायं, यतस्स एवाह—

आत्मतन्त्रे तु यन्नोक्तं तत्कुर्यात्पारतन्त्रिकम् ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां धर्मप्रमाणानि ।

धर्मस्वरूपनिरूपणम् .

श्रुत्यादिप्रमाणको धर्म इत्युक्तम् । तस्य धर्मस्य सामान्यलक्षणमाह विश्वामित्रः—

यमार्याः क्रियमाणं तु शंसन्त्यागमवेदिनः ।

स धर्मो यं विगर्हन्ते तमधर्मं प्रचक्षते ॥

इति । मनुरापि—

विद्वद्भिस्सेवितस्सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातः यो धर्मस्तं निबोधत ॥

इति । तथा विशेषतोऽपि स एवाह—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

द्वीविद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इति । धृतिः धैर्यम् । अपराधेऽपि चित्तस्याविकारः क्षमा ।
 अन्तःकरणसंयमः दमः । अस्तेयं अदत्तास्वीकारः । शौचं
 बाह्यमाभ्यन्तरं च । इन्द्रियनिग्रहः निषिद्धेभ्यः इन्द्रियाणां
 निवारणम् । ह्रीः अकार्यनिवृत्तिः । विद्या आत्मज्ञानम् ।
 सत्यं यथार्थवचनम् । तच्च प्रियमेव वेदितव्यम् । तथा च मनुः—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सखमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मस्सनातनः ॥

इति । अक्रोधः क्रोधराहित्यम् । एतदशकं धर्मलक्षणं धर्म-
 स्वरूपमित्यर्थः । व्यासोपि—

सत्यं दमस्तपश्शौचं संतोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम् ।

ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मस्सनातनः ॥

इति । सत्यादीनां लक्षणं स एवाह—

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसा दमनं दमः ।

तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं सङ्कुरवर्जनम् ॥

संतोषो विषयत्यागः ह्रीरकार्यनिवर्तनम्¹ ।

क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं आर्जवं समचित्तता ॥

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमः चित्तप्रशान्तता ।

दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥

¹ हीरकार्यविलक्षणम् — क. हीरार्थ कार्यविसर्जनम् — ख.

इति । तथा च धर्मान्तराण्यपि स एवाह—

दानं यज्ञः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो ज्ञेयः फलवान्प्रेत्य चेह च ॥
भोगेष्वामाक्तिरहितं^१ तथैवात्मावलोकनम् ।
श्रेयः परं मनुष्याणां कपिलः प्राह पार्थिव ॥
सर्वत्र समदर्शित्वं निर्ममत्वमसङ्गिता ।
श्रेयः परं मनुष्याणां प्राह पञ्चशिखो मुनिः ॥

इति । सुमन्तुरपि—

वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मस्संप्रवर्तते ।
वर्णधर्मस्स उक्तस्तु यथोपनयनं किल ॥
यस्त्वाश्रमत्वमाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते ।
स एवाश्रमधर्मस्स्यात् भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु यथा मौञ्जी तु मेखला ॥
यो गुणेन प्रवर्तते गुणधर्मस्स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मस्संप्रवर्तते ।
नैमित्तिकस्स विज्ञेयः प्रायश्चित्ताविधिर्यथा ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां धर्मस्वरूपनिरूपणम् ।

श्रुत्यादिवलाबलनिर्णयः.

अथ श्रुत्यादीनां बलाबलम् । तत्र मनुः—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।

^१ भवसक्तिस्सततं—क. ६ स्व.

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

इति । यत्र श्रुत्योः द्वैविध्यं परस्परविरोधतः तत्र श्रुतिप्रति-
पादितौ द्वावपि धर्मौ, यतः मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि तौ
धर्मावित्युक्तौ । तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वादनयोः विकल्प इत्यभि-
प्रायः । अनेनैव स्मृत्योर्विरोधेऽपि विकल्प इत्युक्तं भवति ।
अत एव स्मृत्यधिकारे गौतमः—

‘तुल्यबलविरोधे विकल्पः’

इति । श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे स्मृतेः बाध एव । यथाऽऽह लोणाक्षिः—
श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा ॥

इति । एवमाचारस्यापि स्मृतिविरोधे बाध एव स्यात् ,
‘श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः तदभावे शिष्टाचारः प्रमाणम्’
इति वसिष्ठस्मरणात् । एवं परिषद्बचनेऽपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं
चतुर्विंशतौ—

स्मृतेर्वेदविरोधेन परित्यागो यथा भवेत् ।

तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधात्परित्यजेत् ॥

इति । यत्र पुनर्मानवस्य स्मृत्यन्तरेण विरोधः तत्र मनूक्त
एव श्रेयान् । तदाहाङ्गिराः—

यत्पूर्वं मनुना प्रोक्तं धर्मशास्त्रमनुत्तमम् ।

न हि तत्समतिक्रम्य वचनं हितमात्मनः ॥

इति । मनूक्तमतिक्रम्यान्यदीयं वचनं आत्मनो ज्ञानाय^१ न भवति । बृहस्पतिरापि—

वेदादुपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं तु मनोस्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिस्सा न शस्यते ॥

श्रुतिरापि—

यद्वै किं च मनुरवदत्तद्वेषजम् ।

इति । यत्र पुनर्धर्मद्वयविरोधस्तत्र लघीयस एव^२ बाध इत्याह व्यासः—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कथं चन ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मस्सद्भिर्बुध्यते ॥
तस्माद्विरोधे धर्मस्य निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
यतो भूयस्ततो विद्वान् कुर्याद्धर्मविनिर्णयम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां श्रुत्यादिवलावलनिर्णयः.

देशनिर्णयः.

अथ देशनिर्णयः । तत्र मनुः—

सरस्वतीद्विपद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्^३ ।
तं देवनिर्भितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥

इति ।

कुरुक्षेत्रं च मस्त्याश्च पाञ्चालाश्चूरसेनकाः^३ ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरम् ॥

^१ हिताय. — क.

^२ लघुधर्मस्यैव — ख.

^३ शूरसेनजाः.

अनन्तरं ईषदूनमित्यर्थः ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशना¹दपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥

विनशनं सरस्वत्या अन्तर्धानदेशः ।

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादा समुद्राच्च पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥

इति । अत्र च पूर्वः पूर्व उत्तरोत्तरात्प्रशस्तः । तथा च सुमन्तुः—

ब्रह्मावर्तः परो देश ऋषिदेशत्स्वनन्तरः ।

मध्यदेशस्ततो न्यूनः आर्यावर्तस्ततः परः ॥

इति । यत्पुनर्मनुनोक्तं —

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशः म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥

इति, तत्पूर्वोक्तदेशचतुष्टयालाभे द्रष्टव्यं, तदनन्तरमस्याभिधानात् । एतच्च न देशान्तरनिराकरणाय । यत आह विष्णुः—

चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन्देशे न विद्यते ।

स म्लेच्छदेशो विज्ञेय आर्यावर्तस्ततः परः ॥

इति । अतश्च यत्र कृष्णसारश्चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं वा स धर्मदेश इति मन्तव्यम् । तथा चादिपुराणम्—

¹ गिवमना. -- ख.

कृष्णसारैर्यवैर्दभैश्चातुर्वर्ण्याश्रमैस्तथा ।

समृद्धो धर्मदेशस्स्यादाश्रयेरन्विपाश्रितः ॥

इति । एतैर्विहीनो म्लेच्छदेश इत्यभिप्रायः । म्लेच्छदेश इति

वदन् तत्र धर्मक्रियानिषेधमाह । अत एव विष्णुः—

न म्लेच्छविषये श्राद्धं कुर्यान्न गच्छेत्तं विषयम्¹ ।

इति । आदिपुराणेऽपि—

अधर्मदेशमध्ये तु कृत्वा क्रतुशतान्यपि ।

न पश्यन्ति द्विजाश्श्रेयो यातुस्स्वर्गे महार्गळम् ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेण याज्ञवल्क्योऽप्याह—

यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥

इति । धर्मानुष्ठानतयेति शेषः । तस्य धर्मसाधनत्वात् । अत

एव संवर्तः—

स्वभावाद्यत्र विचरेत्कृष्णसारस्सदा मृगः ।

धर्मदेशस्स विज्ञेयो द्विजानां धर्मसाधनम् ॥

इति । स्वभावादनादित² इत्यर्थः । शङ्खस्वार्यावर्तमाह—

कृष्णमृगो यावद्विचरति तावदार्यावर्तस्स्यात् ।

इति । आर्यावर्त इत्यनुवृत्तौ वसिष्ठोऽपि—

यावत्कृष्ण³मृगो विचरति ।

¹ गच्छेन्म्लेच्छविषयं.—क. & ख

² दनिवारितः—ख.

³ यावद्वा न कृष्ण.—ख.

इति । आर्यावर्तोत्पन्नस्यादिपुराणे नियमविशेष उक्तः—

आर्यावर्ते समुत्पन्नो द्विजो वा यदि वाऽद्विजः ।

नर्मदां सिन्धुपारं च करतोयां न लङ्घयेत् ॥

आर्यावर्तमतिक्रम्य विना तीर्थक्रियां द्विजः ।

आज्ञां चैव तथा पित्रोरैन्दवेन विशुद्ध्यति ॥

करतोया नदी । एवमुक्तेष्वपि देशेषु केषु चिदपवादमाह मनुः—

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृतम् ।

न पाषण्डिद्विजाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥

इति । व्यासोऽपि—

देशांश्छूद्रावृतानन्यानधार्मिकजनावृतान् ।

प्लेच्छावृतान्प्रयत्नेन वर्जयेद्धार्मिको जनः^१ ॥

इति । अत्राप्यपवादमाह पितामहः—

शूद्रराज्येऽपि निवसेद्यत्र मध्ये तु जाह्नवी ।

सोऽतिपुण्यतमो देशो नरैरपि^२ समाश्रितः ॥

कुरुक्षेत्रनिवासेन वाराणस्यां च मानवः ।

अहिंसकः पाप^३रतः पापं हित्वा दिवं व्रजेत् ॥

न गङ्गाया विना वासः सर्वक्षत्रक्षयाहते ।

काश्यां हि मरणं श्रेष्ठं विना क्षेत्रं व्रजापतेः ॥

^१ द्विजः—क & ख.

^२ जनार्यैरपि—क.

^३ न्नानः—क & ख.

गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।

निवासो न विना पुण्यैर्नराणामिह जायते ॥

सर्वक्षत्रक्षयः कुरुक्षेत्रम् । व्यासोपि—

ते देशास्ते जनपदास्ते शैलास्ते तथाऽऽश्रमाः ।

पुण्या त्रिपथगा येषां मध्ये याति सरिद्वरा ॥

आदिपुराणेऽपि.—

यत्र गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा स देशस्तत्तपोवनम् ।

सिद्धक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातरिसमाश्रितम् ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

प्रभासे पुष्करे काश्यां नैमिशेऽमरकण्टके ।

गङ्गायां सरयूतीरे निवसेद्धार्मिको जनः ॥

व्यासोपि—

अन्तर्वेदिर्मध्यदेशं ब्रह्मावर्तं च यज्ञियम् ।

मिश्रितं सरयूतीरं पुष्करं नैमिशं तथा ॥

देशानेतान्निवासाय संश्रयेरन् द्विजातयः ।

इति । अत्र द्विजातिग्रहणं शूद्रस्य प्रदर्शनार्थं, तस्य आपद्येव मनुना देशानुग्रहस्मरणात्—

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।

शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्धृत्तिकर्षितः ॥

इति ।

निषिद्धदेशाः

अथ निषिद्धदेशाः । तत्र बोधायनः—

आनर्ता अङ्गमगधास्सौराष्ट्रा दक्षिणापथः ।
अपास्यास्सिन्धुसौवीरा एते सङ्कीर्णयोनयः ॥

इति । व्यासोऽपि—

अङ्गवङ्गान्ध्रविषयो ये चान्ये म्लेच्छजातयः ।
कृष्णसारविहीनाश्च देशानेतान्विसर्जयेत् ॥

आदिपुराणेऽपि—

काञ्चीकोसलसौराष्ट्रा देवराष्ट्रा द्विकच्छजाः¹ ।
सौवीर² कोङ्कणोद्भूता एतेऽष्टौ निन्दिता भृशम् ॥
पञ्च नद्यो बहन्त्येता यत्र निस्रस्य पर्वतात् ।
आरट्टा नाम ये देशा न तेष्वार्योऽन्वहं वसेत् ॥
नर्मदासिन्धुकाशीनां पारं पद्मस्य पश्चिमम् ।
गत्वा नरकमाप्नोति तीर्थकालाधिकं वसन् ॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च³ विन्ध्यमालवकास्तथा ।
नर्मदादक्षिणं यच्च सिन्धोरुत्तरमेव च ॥
पौण्ड्रश्चैव सुराष्ट्रश्च चैद्यकेरलमागधाः⁴ ।

¹ वेदराष्ट्रा द्विकच्छपाः. ख.

² कवेरी—क ; काश्मीर—ख.

³ शान्त्र—ख.

⁴ चैद्यमागधिकाः खगाः—ख.

न विवाहं तथा श्राद्धं यज्ञं चैव समाचरेत् ॥
 पापदेशाश्च ये केचित्पापैरध्युषिता जनैः ।
 गत्वा देशानपुण्यांस्तु कृत्स्नं पापं संश्रुते ॥
 सौराष्ट्रं सिन्धुसौवीरं आवन्त्यं दक्षिणापथम् ।
 गत्वैतान्कामतो देशान् कलिङ्गांश्च पतेद्विजः ॥

इति । एतत्पूर्वोक्तकृष्णसारादिविहनिदेशाभिप्रायं मन्तव्यं,
 तस्यापि धर्मसाधनत्वात् । बोधायनस्तु सिन्धुसौवीरादिगमने
 प्रायश्चित्तमाह—

सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रान् तथा प्रत्यन्तवासिनः^१ ।
 अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च गत्वा संस्कारमर्हति ॥

इति । प्रत्यन्तोऽन्तदेशः । तथा च श्रुतिः—
 तस्मान्न जघन्यान्प्रान्त्यान्

इति । आदिपुराणेऽपि.—

सौराष्ट्रसिन्धुसौवीरमावन्त्यं दक्षिणापथम् ।
 एतान्देशान्द्विजो गत्वा पुनस्संस्कारमर्हति ॥
 हिमवत्कौशिकं विन्ध्यं पारं पञ्चस्य पश्चिमम् ।
 तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनस्संस्कारमर्हति ॥
 तस्मात्प्रभातसमये गत्वा गङ्गातटं^२ शुभम् ।
 प्रत्यन्तवासिशुद्धयर्थं करिष्यामो महत्तपः ॥

^१ प्रत्यन्तवासिनश्चण्डालदेशाः — वैद्य.

^२ जलं—क. & ख.

इति । तथा द्विजानामापदि वृत्त्यर्थं देशानुग्रहः स्कन्दपुराणे दर्शितः—

अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च पार्वतांस्तत्समीपगान् ।
 सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रान् केरला^१न्ध्रकमालवान् ॥
 निवासाय द्विजो नित्यमनापदि विसर्जयेत् ।
 एतेष्वापदि गत्वा तु तन्निवृत्तौ पुनर्व्रजेत्^२ ॥

इति ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां निषिद्धदेशनिर्णयः ॥

देशधर्माः

अथ देशधर्माः । तत्र बोधायनः—

“पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतः अनुपनीतेन भार्यया च सह भोजनं पर्युषितभोजनं मातुलपितृष्वसृदुहितृपरिणयनमिति । तथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः सीधुपानमुभयतो-दद्विर्व्यवहारः आयुधीयकं समुद्रयानमिति । इतर इतरस्मिन्कुर्वन्दुष्यतीतर इतरस्मिन् । तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्” ।

इति । अयमर्थः इतरो दक्षिणात्य इतरस्मिन्नुदीच्ये देशेऽनुपनीतादिना सह भोजनादिकं कुर्वन् दुष्यति न स्वदेशे । तथोदीच्य इतरस्मिन्दक्षिणे ऊर्णाविक्रयादिकं कुर्वन् दुष्यति न स्वदेशे, कुतः देशप्रामाण्यात् देशनिबन्धनत्वात्प्रामाण्यस्येत्यर्थः । बृहस्पतिरपि—

^१ पारदा—क & ख. ^२ एतानप्यापदि गृही संश्रयेद्वृत्तिकार्षितः—क & ख.

उद्राह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुता द्विजैः ।
 मध्यदेशे कर्मकराश्शिखिनश्च^१ गवाशिनः ॥
 मत्स्यादाश्च नराः पूर्वे व्याभिचाररतास्त्रियः ।
 उत्तरे मद्यपा नार्यस्स्पृश्या नृणां रजस्वलाः ॥
 सहजाताः प्रगृह्णन्ति भ्रातृभार्यामभर्तुकाम् ।

इति । एतेषां च देशव्यवस्थया प्रामाण्यमाह स एव—

देशजातिकुलानां च ये धर्मास्तत्प्रवर्तिताः^२ ।
 तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा ॥

इति । देवलोऽपि—

येषु देशेषु ये देवाः येषु देशेषु ये द्विजाः ।
 येषु देशेषु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका^३ ॥
 येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः ।
 तत्र तान्नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः ॥
 यस्मिन्देशे पुरे ग्रामे त्रैविद्यनगरेऽपि वा ।
 यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचालयेत्^४ ॥

इति । एवमविशेषेण देशधर्माणां प्रामाण्यप्रसक्तौ मनुराह—

सद्भिराचरितं यच्च धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
 तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥

^१ शिखिनश्च—क. शिखाल्पनश्च—ख.

^२ तत्प्रकीर्तिताः । क, ख.

^३ मृत्तिका—क.

^४ विचारयेत्.—क.

इति । सद्भिराचरितं यच्छ्रुत्यादिप्रमाणाविरुद्धं तद्देशकुलजा-
तीनां धर्मत्वेन प्रकल्पयेदित्यर्थः । तथा च गौतमः—

देशजातिकुलधर्मा आम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम् ।

इति । तत्र विरुद्धा अपि कचित्कचिद्दृश्यन्ते । यथा—

विरुद्धास्तु प्रदृश्यन्ते दाक्षिणात्येषु सम्प्रति ।

स्वमातुलमुतोद्वाहो मातृबन्धुत्वदूषितः ॥

अभर्तकभ्रातृभार्याग्रहणं चातिदूषितम् ।

कुले कन्याप्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते ॥

तथा भ्रातृविवाहोऽपि पारसीकेषु दृश्यते ।

तथैकादशरात्रादौ श्राद्धे भुक्तं तु यैर्द्विजैः ॥

तेभ्यश्श्राद्धे पुनर्दानं केचिन्नेच्छन्ति देशिनः ।

दत्त्वा धान्यं वसन्तेऽन्ये शरदि द्विगुणं पुनः ॥

गृह्णन्ति बन्धुक्षेत्रं च प्रविष्टे द्विगुणे धने ।

भुज्यतेऽन्यैरप्राविष्टे मूले तच्च विकथ्यते ॥

इत्थं विरुद्धानाचारान्प्रभूतान्विनिवर्तयेत् ।

देशजात्यादिधर्मस्य प्रामाण्यमविरोधिनः ॥

शास्त्रेणातो नृपस्सर्वं शास्त्रं दृष्ट्वा प्रवर्तयेत् ।

इति । तथा लोकविरुद्धमपि परित्याज्यमेव । तदाह
वराहमिहिरः—

देशाचारस्तावदादौ विचिन्त्यः
देशेदेशे या स्थितिसैव कार्या ।
लोकविद्विष्टं पण्डिता वर्जयन्ति
दैवज्ञा ये लोकमार्गेण यान्ति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां देशधर्माः.

युगधर्माः.

अथ युगधर्माः । तत्र मनुः—

अन्ये कृतयुगे धर्माः त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगहासानुरूपतः ॥
तपः परं^१ कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमेव च ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेव कलौ युगे ॥

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि परं प्रधानमित्यर्थः । बृहस्पतिरपि.—

तपो धर्मः कृतयुगे ज्ञानं त्रेतायुगे स्मृतम् ।
द्वापरे चाध्वरः प्रोक्तस्तिष्ये दानं दया दमः ॥

तिष्यः कलिः । पराशरोऽपि.—

कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमस्य तु ।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरस्मृतः ॥
त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत् ।
द्वापरे कुलमेकं तु कर्तारं तु कलौ युगे ॥

^१ धर्मः.—खं.

कृते संभाष्य पतितस्त्रेतायां स्पर्शनेन तु ।

द्वापरे धनमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥

बृहस्पतिरपि.—

कृते यदब्दाद्यो धर्मस्स त्रेतायामृतुत्रयात् ।

द्वापरे तु त्रिपक्षेण कलावहा तु तद्भवेत् ॥

विष्णुपुराणेऽपि.—

यत्कृते दशभिर्वर्षेस्त्रेतायां हायनेन तु ।

द्वापरे तच्च¹ मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ ॥

ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

त्रेतायामाब्दिको धर्मो द्वापरे मासिकस्स्मृतः ।

यथाशक्ति चरेत्प्राज्ञः तमहा प्राप्नुयात्कलौ ॥

विष्णुधर्मोत्तरेऽपि.—

पुष्करं तु कृते सेव्यं त्रेतायां नैमिशं तथा ।

द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गां समाश्रयेत् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां युगधर्माः.

कलियुगधर्माः.

अथ कलियुगधर्माः । तत्र व्यासः—

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् ॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलौ ॥

इति । आदिपुराणेऽपि—

यस्तु कार्तियुगो धर्मो न कर्तव्यः कलौ युगे ।
पापप्रसक्तास्तु यतः कलौ नार्यो नरास्तथा ॥
न विद्वत्ता न शुद्धोऽर्थः न शुद्धिर्मनसः कलौ ।
यतोऽतस्सत्यमेवैकं नराणामुपकारकम् ॥

इति । कार्तः कृतयुगसम्बन्धी । तथा निषिद्धधर्मा अपि
तत्रैवोक्ताः—

दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं धारणं च कमण्डलोः ।
गोत्रान्मातृसपिण्डात्तु विवाहो गोवधस्तथा ॥
नराश्वमेधौ मद्यं च कलौ वर्ज्या द्विजातिभिः ।

क्रतुरपि—

देवराच्च सुतोत्पत्तिः दत्ता कन्या न दीयते ।
न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ च न कमण्डलुः ॥

ब्राह्मे¹.—

ऊढायाः पुनरुद्धाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा ।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ॥

¹ पुराणेऽपि.—क.

इति । तथाऽन्येऽपि धर्मज्ञसमयप्रमाणमाहुः^१ ।

विधवायां प्रजोत्पत्तौ देवरस्य नियोजनम् ।
 बालिकाऽक्षतयोन्योश्च वरेणान्येन संस्कृतिः ॥
 कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च द्विजातिभिः ।
 आततायिद्विजाग्रचाणां धर्मयुद्धेन हिंसनम् ॥
 द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि सङ्ग्रहः ।
 सत्रदीक्षा च सर्वेषां कमण्डलुविधारणम् ॥
 महाप्रस्थानगमनं गोहिंसा चैव^२ गोसवे ।
 सौत्रामण्यामपि सुराग्रहणस्य च सङ्ग्रहः ॥
 अग्निहोत्रहवण्याश्च सहलीढा^३ परिग्रहः ।
 वानप्रस्थाश्रमस्यापि प्रवेशो विधिचोदितः ॥
 वित्तं स्वाध्यायसापेक्षमघसङ्कोचनं तथा ।
 प्रायश्चित्तविधानं च विप्राणां मरणान्तिकम् ॥
 संसर्गदोषस्तेनाद्यैर्महापातकानिष्कृतिः ।
 वरातिथिपितृभ्यश्च पशूपहरणक्रिया ॥
 दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः ।
 सवर्णानां तथा दुष्टैस्संसर्गशोधितैरपि ॥
 अयोनौ सङ्ग्रहे वृत्ते^५ परित्यागो गुरुस्त्रियाः ।
 अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च ॥

^१ प्रमाणकास्सन्ति यथा.—क, ख.

^२ गोसंज्ञसिश्च.—वे.

^३ लेहो लीढा.—वै.

^४ पशूपाकरण.—वै.

^५ सङ्ग्रहो वित्ते.—वे.

शमितृत्वं च विप्राणां सोमविक्रयणं तथा ।
 षड्भक्तानशनेनान्नहरणं हीनकर्मणः ॥
 शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्थसीरिणाम् ।
 भोज्यान्नता गृहस्थस्य तीर्थसेवाऽतिदूरतः ॥
 शिष्यस्य गुरुदारेषु गुरुवद्वृत्तिरीरिता ।
 आपद्वृत्तिर्द्विजाग्रचाणामश्वस्तनिकता तथा ॥
 प्रजार्थं तु द्विजाग्रचाणां प्रजारणिपरिग्रहः ।
 ब्राह्मणानां प्रवासित्वं मुखान्निधमनक्रिया ॥
 बलात्काराद्धि दुष्टस्त्रीसङ्ग्रहो विधिचोदितः ।
 यतेस्तु सर्ववर्णेषु भिक्षाचर्या विधानतः ॥
 नवोदके दशाहं च दक्षिणा गुरुचोदिता ।
 ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पचनादिक्रियाऽपि च ॥
 भृग्वग्निपतनैश्चैव वृद्धादिमरणं तथा ।
 गोतृप्तिशिष्टे पयसि शिष्टैराचमनक्रिया ॥
 पितापुत्रविरोधेषु साक्षिणां दण्डकल्पनम् ।
 यत्र सायं गृहस्थत्वं^१ सूरिभिस्सत्^२ तत्परैः ॥
 एतानि लोकगुप्तार्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
 निवर्तितानि कर्माणि व्यवस्थापूर्वकं बुधैः ॥
 समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद्भवेत् ।

इति । उक्तमापस्तम्बेनापि—

^१ गृहस्थस्य. —क.

^२ स्तत्त्व—स्मृ. र.

धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां परिभाषा समाप्ता ।

संस्कारपरिभाषा.

अधुना लेशतस्संस्कारकाण्डमुच्यते । तत्र गौतमः—

गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौ-
लोपनयनं चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः
पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणामेतेषां च
अष्टका पार्वणं श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजी चेति
सप्त पाकयज्ञसंस्थाः अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ आग्रयण-
चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः
अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थयष्पोऽशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्नोर्याम
इति सप्त सोमसंस्थाः इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः । अथाष्टावात्म-
गुणाः—दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनमूया शौचमनायासो मङ्गल-
मकार्पण्यमस्पृहा.

इति । वेदव्रतानि पाजापत्यादीनि । स्नानं समावर्तनम् ।
सहधर्मचारिणीसंयोगो विवाहः । पञ्चयज्ञा देवयज्ञादयः ।
अष्टका श्राद्धविशेषः । पार्वणं पर्वणि क्रियमाणं स्थालीपाक-
लक्षणम् । श्राद्धं मासिश्राद्धम् । श्रावणी सर्पवलिः । आग्र-
हायणी आग्रयणम् । चैत्री होलकार्यकर्म । आश्वयुजी

इन्द्रध्वजहोमाख्यम्^१ । अन्ये प्रसिद्धाः । केचिदौपासनहोमो
वैश्वदेवं पार्वणमष्टका मासिश्राद्धं सर्पबलिरीशानबलिरिति
सप्तपाकयज्ञानाहुः । आत्मगुणानां लक्षणं बृहस्पतिराह—

यदा तु बन्धुवर्गेषु मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्नो रक्षितव्यस्तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव दुःस्व उत्पादिते परैः ।
न कुप्यति न चाहन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणान्गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते साऽनमूया प्रकीर्तिता ॥
अभक्ष्यपरिहारस्तु दुष्टसंसर्गवर्जनम्^२ ।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ॥
शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा ।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासस्त उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि हि दातव्यं मुदितेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोपपन्नैस्सन्तोषः कर्तव्यस्स्वागतैर्द्विजैः ।

^१ इन्द्रध्वजमहोत्सवाख्यम्.—ख.

^२ संसर्गश्राप्यानिन्दितैः—क. ख.

परार्थं नाभिलाषेत साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥

इति । यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा अष्टावात्मगुणाश्च स ब्रह्मण
स्सायुज्यमाप्नोतीत्याह मनुः—

संस्कारैस्संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।

नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्मलौकिकम् ॥

ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः ।

इति । गर्भाधानादयः पूर्वसंस्काराः । उत्तरे पाकयज्ञादयः ।
तदाह हारीतः—

द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च ।

गर्भाधानादिस्समार्तो ब्राह्मः । पाकयज्ञहविर्यज्ञसो-

माश्चेति दैवः । ब्राह्मसंस्कारसंस्कृतः ऋषीणां

समानतां सलोकतां सायुज्यं गच्छति । दैवेनो

त्तरेण संस्कृतो देवानां समानतां सलोकतां

सायुज्यं गच्छति ॥

इति । एतच्च गुणविहीनसंस्काराद्यभिप्रायेण । अत एव गौतमः—

यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा

न स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति ।

इति । अतश्च यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा अष्टावात्मगुणाश्च
तस्यैवेदं ब्रह्मसायुज्यप्राप्तिलक्षणं फलमित्यवगन्तव्यम् । अत्र

च गर्भाधानाद्युपनयनपर्यन्ता एव संस्कारास्सर्वेषां नियताः न पुनस्तानादयः । तथात्वे,

यमिच्छेत्कर्तुं तमाविशेद्यदितरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।
इति विरोधस्स्यात् । एते च संस्कारा द्विजातीनामेव । यदाह
याज्ञवल्क्यः—

विप्रक्षत्रियविद्वद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।

निपेकाद्याश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ॥

इति । निपेको गर्भाधानं आद्यं यासां तास्तथोक्ताः । श्मशानं
प्रेतकर्म । द्विजातीनां मन्त्रतः क्रिया इति वदन् शूद्रस्यामन्त्र-
कासंसंस्कारा इत्याह । अत एव संस्काराधिकारे यमः—

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ।

इति । एतच्च चूडाकरणान्तसंस्काराभिप्रायम् । अत एवा-
हापस्तम्बः—

अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याधेयं
फलवान्ति च कर्माणि ।

इति । ब्रह्मपुराणे तु शूद्रस्य विवाहेतरसकलसंस्कारनिषेधो
दर्शितः—

विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा ।

इति । अतो विधिविहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पो वेदितव्यः । मनु-
रपि द्विजानामेव समन्त्रकस्संस्कार इत्याह—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकाद्यैर्द्विजन्मनाम् ।

कार्यश्शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

इति । वैदिकमन्त्रसाध्यत्वाद्वैदिककर्माणि पावनानि वैदिकानां
पापप्रशमनद्वारेण । तदाह स एव—

गार्भेर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः ।

वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमार्जति ॥

इति । बीजं शुक्लशोणितं तद्दोषजनितं वैजिकं अशुचि । गर्भनिवा-
सजनितं गार्भिकम् । होमग्रहणमहोमात्मकस्य गर्भाधानादेरपि
प्रदर्शनार्थम् । अत एव गर्भाधानादि चूडाकरणान्तं कर्माभि-
धाय याज्ञवल्क्यः—

एवमेनश्शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां संस्कारपरिभाषा ॥

गर्भाधानम्.

अथ गर्भाधानम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

षोडशर्तुर्निशास्त्रीणां तस्मिन्पुण्यासु संविशेत् ।

इति । रजोदर्शनप्रभृति षोडश निशाः स्त्रीणामृतुर्गर्भग्रहणस्य कालः ।

तस्मिन् युग्मासु समासु रात्रिषु संविशेद्गच्छेत् यदि पुत्रार्थी
भवति । कन्यार्थी त्वयुग्मासु । तथा च मनुः—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥

इति । तथा चापस्तम्बः—

चतुर्थीप्रभृत्याषोडशीमुत्तरामुत्तरां यृग्मां
प्रजानिश्श्रेयसमृतुगमनमित्युपदिशन्ति ॥

इति । व्यासोऽपि—

रात्रौ चतुर्थ्यां पुत्रस्स्यादल्पायुर्धनवर्जितः ।
पञ्चम्यां पुत्रिणी नारी षष्ठ्यां पुत्रस्तु मध्यमः ।
सप्तम्यामप्रजा योषिदष्टम्यामीश्वरस्सुतः ।
नवम्यां सुभगा नारी दशम्यां च परः पुमान् ॥
एकादश्यामधर्म्या स्त्री द्वादश्यां पुरुषोत्तमः ।
त्रयोदश्यां सुता तत्र वर्णसङ्करकारिणी ॥
धर्मध्वजः कृतज्ञस्स्यादात्मवेदी दृढव्रतः ।
प्रजायते चतुर्दश्यां गणौघैर्जगतीपतिः ॥
राजपत्नी महाभागा राजवंशगता तथा ।
जायते पञ्चदश्यां तु बहुपुत्रा पतिव्रता ॥
विद्यालक्षणसम्पन्नः सखवादी जितेन्द्रियः ।

आश्रयस्सर्वभूतानां षोडश्यां जायते पुमान् ॥

इति । युग्मास्वपि गच्छन् प्रतिषिद्धेतरास्वेव गच्छेत् । तत्र प्रति-
षिद्धान्याह मनुः—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।

ब्रह्मचारी भवेन्निसमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी तथा ।

त्रयोदशी च शेषास्स्युः प्रशस्ता दश रात्रयः ॥

इति । तासां षोडशरात्रीणां मध्ये रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो
रात्रीर्वर्जयेत् । अत एव पैठीनसिः—

न प्रथमे न द्वितीये न तृतीये न चतुर्थ आह्वयेत् ।

इति । केचित्तु स्नानादूर्ध्वं चतस्रो वर्जयेदित्याहुः । पूर्वं तस्याः
स्पर्शननिषेधेनैव गमनस्यापि निषिद्धत्वात् तद्रमने प्रायश्चित्त-
विधानाच्च । अतः

‘षोडशर्तुर्निशास्त्रीणाम्’

इति स्नानादूर्ध्वं वेदितव्यं, तन्न—

ऋतुस्स्वाभाविकस्त्रीणां रात्रयषोडश स्मृताः ।

चतुर्भिरितरैस्सार्धमहोभिस्सद्विगर्हितैः ॥

इति मनुवचनविरोधात् । न हि स्नानादूर्ध्वं गर्हिता रात्रयस्स-
न्ति । तदाह कात्यायनः—

रजस्वला चतुर्थेऽह्नि स्नानाच्छुद्धिमवाप्नुयात् ।

इति । अर्वाक्पुनः—

सैषा ब्रह्महत्या स्त्रीणां यन्मासिमासि

रजोदर्शनं यस्ततो जायते सोऽभिषस्तः ।

इत्यादिभिर्गर्हितश्रवणात् पूर्वोक्तैव ज्यायसी । यत्तु गर्भाधानम-
धिकृत्य हारीतेनोक्तं—

‘चतुर्थेऽह्नि स्नातायां युग्मासु च’

इति तच्चतुर्थेऽह्नि (स्नातायां) रजोनिवृत्तौ द्रष्टव्यम् । अत एव
गोभिलः—

‘यदर्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः’

इति ।

‘षोडशर्तुर्निशास्त्रीणाम्’

इति वदन् अह्नि गर्भाधाननिषेधमाह । अत एव शङ्खलिखितौ—

‘नार्तवे दिवा मैथुनं व्रजेत् । क्लीवा अल्पवी-

र्याश्च दिवा प्रसूयन्तेऽल्पायुषश्च’

इति । याज्ञवल्क्योऽपि संवेशने विशेषमाह—

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।

मुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥

इति । मुस्थ इन्दौ चन्द्रबले सति मघामूले विहाय क्षामां कृशां

सकृद्रच्छन् लक्षण्यं लक्षणयुक्तं पुत्रं जनयेदित्यर्थः । ज्योति-
श्शास्त्रेऽपि—

पैत्र्यं पौष्णं नैर्ऋतं चापि धिष्ण्यं

त्यक्त्वा नारीं सुप्रसन्नां प्रसन्नः ।

पुष्टः क्षामां पुत्रकामोऽभिगच्छन्

सल्लक्षण्यं पुत्रमाप्नोति सत्यम् ॥

इति । पैत्र्यं मखानक्षत्रम् । पौष्णं रेवती । नैर्ऋतं मूलम् । धिष्ण्यं
नक्षत्रम् । क्षामता तु तस्मिन्काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति । यदा
रजोनिवृत्तिर्भवति तदा लब्धाहारादिना क्षामता सम्पादनीया
पुत्रोत्पत्त्यर्थम् । पुंसा च शुक्लवृद्धयर्थं त्निग्धादिभोजनं कर्तव्यम् ।
तथा च बृहस्पतिः—

स्त्रियो रजोऽधिके स्त्री स्यात्पुमांश्छुक्लाधिके भवेत् ।

तस्माच्छुक्लविवृद्धयर्थं वृष्यं त्निग्धं च भक्षयेत् ॥

लब्धाहारां स्त्रियं कुर्यादेवं सञ्जनयेत्सुतम् ।

इति । वृष्यं वीर्यवृद्धिकरं द्रव्यम् । मनुरपि—

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्ले स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः ।

समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥

इति । समे साम्ये बीजद्रव्यस्य अपुमान्पुंसक इति यावत् ।
पुंस्त्रियौ वा यदि तदा बीजविभागः । तदाह यमः—

यदि संयोगकाले तु पुरुषो रागमोहितः ।

द्विधा समुत्सृजेच्छुक्लं यमलं तत्र जायते ॥

इति । क्षीणे निस्सारेऽल्पे च विपर्ययः गर्भाग्रहणम् । ऋतुयौग-
पद्ये तु गमनक्रममाह देवलः—

यौगपद्ये तु तीर्थानां विप्रादिक्रमशो व्रजेत् ।

रक्षणार्थमपुत्राणां ग्रहणक्रमशोऽपि वा ॥

इति । तीर्थमृतुः । तद्यौगपद्ये तु वर्णक्रमेणोद्वाहक्रमेण वा
गच्छेत् । अपुत्राणां पूर्वमित्यर्थः । अनेन ऋतुकालातिक्रमः
कथमपि न कार्य इत्युक्तं भवति । अत एव मनुः—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतस्सदा ।

पर्ववर्जं व्रजेदेनां तद्भूतो रतिकाम्यया ॥

इति । तद्भूतः पुत्रोत्पत्तिव्रतः । अनेन विनाऽपि रतिकाम्यया
पुत्रजन्मार्थमृतौ गच्छेदेवेति नियम्यते । अन्यथा दोषश्रवणात् ।
तथा च पराशरः—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।

घोरायां ब्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥

इति । बोधायनोऽपि—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।

पितरस्तस्य तन्मासं तस्मिन्नेतसि शेरते ॥

इति । सन्निधिग्रहणादसन्निधौ न दोष इति मन्तव्यम् । सन्निधा-
वपि यावदशक्तः तावददोष एव । तथा च स्मृतिः—

यस्स्वदारानृतुस्नातान् सन्निधौ नोपगच्छति ।

भ्रूणहत्यामवाप्नोति प्रजा प्राप्ता विनश्यति ॥

एतदजातपुत्रविषयम्—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर् ऋणवा जायते ब्रह्म-

चर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य

एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी ॥

इत्यस्याश्रुतेरेकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात् । उक्तं च
कूर्मपुराणे—

ऋतुकालाभिगामी स्याद्यावत्पुत्रोऽभिजायते ।

इति । ननु पुत्रान्तरोत्पत्तिविधायकोऽप्यस्ति—

‘दशास्यां पुत्रानाधेहि’

इति । सत्यं न त्वियं विधायिका स्यात्, किं तु बह्वपत्यप्रशंसा-
र्था । अत एव नारदः^१—

ऋणमस्मिन्सन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति ।

पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम् ॥

अनन्ताः पुत्रिणो लोका नापुत्रस्येति च श्रुतिः ।

^१ वसिष्ठः—खः पराशरः—क.

इति । ज्येष्ठपुत्रस्य जननमात्रेण पितुरानृण्यं भवतीत्यभिप्रायः ।
तथा च मनुः—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।

पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥

इति । अत एवेतरेषां कामजन्मत्वमप्याह स एव—

यस्मिन्पुत्रं सन्नयति येन चानन्त्यमश्रुते ।

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥

इति । तेनाजातपुत्रस्यैवायमृतुगमननियम इति सिद्धम् ।

॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां गर्भाधानम् ॥

पुंसवनम्.

अथ पुंसवनम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

गर्भाधानमृतौ पुंसस्सवनं स्पन्दनात्पुरा ।

इति । प्राग्गर्भचलनात्पुंसवनारूपं कर्म कार्यमित्यर्थः । वैजावापो
विशेषमाह—

मासि द्वितीये तृतीये वा पुरा स्पन्दतः ।

इति । पुंसवनमित्यनुवृत्तौ पारस्करोऽपि—

‘मासि द्वितीये तृतीये वा यदहः पुंसो नक्षत्रेण
चन्द्रमा युक्तस्स्यात्’

इति । पुन्नक्षत्राणि च रत्नकोशेऽभिहितानि—

हस्तो मूलं श्रवणः पुनर्वसुर्मृगशिरास्तथा तिष्यः ।

पुंसांज्ञितेषु कार्येष्वेतानि शुभानि धिष्णयानि ॥

इति । धिष्णयानि नक्षत्राणि । बृहस्पतिस्तु गर्भस्पन्दने
पुंसवनमाह—

गर्भाधानमृतौ कुर्यात्सवनं स्पन्दिते शिशौ ।

इति । इति पुंसवनम्.

सीमन्तोन्नयनम्.

अथ सीमन्तोन्नयनम् । तत्र लोगाक्षिः—

‘तृतीये गर्भमासे सीमन्तोन्नयनं कारयेत्’

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘सीमन्तोन्नयनं प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि’

इति । वैजावापोऽपि—

‘अथ सीमन्तोन्नयनं मासि चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे वाऽपि’

इति । साङ्ख्यायनगृह्येऽपि—

‘सप्तमे मासि प्रथमे गर्भे सीमन्तोन्नयनम्.’

इति । याज्ञवल्क्योऽपि—

षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च ।

इति । एते आगते जात इत्यर्थः । शङ्खोऽपि—

‘गर्भस्पन्दने सीमन्तोन्नयनं यावद्वा न प्रसवः’ ।

इति । अत्र शौनकेन विशेष उक्तः—

‘आपूर्यमाणपक्षे यथा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तस्स्यात्’
इति । एतच्च सीमन्तोन्नयनं क्षेत्रसंस्कारत्वात् सकृदेव कार्यं न
प्रतिगर्भम् । तथा च हारीतः—

सकृत्संस्कृतसंस्कारास्सीमन्तेन द्विजस्त्रियः ।

यंयं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वस्संस्कृतो भवेत् ॥

इति । देवलोऽपि—

सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता ।

इति । केचित्सीमन्तोन्नयनं गर्भसंस्कार इति प्रतिगर्भमावर्तयन्ति ।
तथा च विष्णुः—

सीमन्तोन्नयनं कर्म तत्स्त्रीसंस्कार इष्यते ।

केचिच्च गर्भसंस्काराद्गर्भगर्भं¹ प्रयुजते ॥

इति । अकृतसीमन्तायाः प्रसवे सत्यत्रत आह—

स्त्री यदाऽकृतसीमन्ता प्रसूयेत कथं चन ।

गृहीतपुत्रा विधिवत्पुनस्संस्कारमर्हति ॥

इति । एतेषां च पक्षाणां तत्तद्गृह्यानुसारेण व्यवस्था वेदितव्या ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां सीमन्तोन्नयनम्.

गर्भिणीधर्माः.

अथ गर्भिणीधर्माः । तत्र कश्यपः—

¹ केचिद्गर्भस्य संस्काराद्गर्भगर्भं—वै.

² पाद्मोदितं कश्यपः—ख.

नावस्करेषूपविशेन्मुसलोलूखलादिषु ।
 जलं च नावगाहेत शून्यागारं च वर्जयेत् ॥
 बल्मीकं नाधितिष्ठेत् न चोद्विग्नमना भवेत् ।
 विलिखेन्न नखैर्भूमिं नाङ्गारेण न भस्मना ॥
 न शयालुस्सदा तिष्ठेद्द्रव्यायामं च विवर्जयेत् ।
 न तुषाङ्गारभस्मास्थिकपालेषु समाविशेत् ॥
 वर्जयेत्कलहं लोकैर्गात्रभङ्गं तथैव च ।
 न मुक्तकेशी तिष्ठेत्तु नाशुचिस्स्यात्कदा चन ॥
 न शयीतोत्तरशिरा न चैवाधश्शिराः क्वचित् ।
 न वस्त्रहीना नोद्विग्ना न चार्द्रचरणा सती ॥
 नामङ्गल्यं वदेद्वाक्यं न च हास्यादिकं तथा ।
 कुर्याच्छ्रुथुरयोर्नित्यं पूजां मङ्गलतत्परा ॥
 तिष्ठेत्प्रसन्नवदना भर्तृप्रियहिते रता ।

इति । तथा मात्स्योदितं कश्यप आह—

सन्ध्यायां नैव भोक्तव्यं गर्भिण्या तु प्रयत्नतः ।
 न स्नातव्यं न गन्तव्यं वृक्षमूलेषु सर्वदा ॥
 न शयालुस्सदा तिष्ठेन्मञ्चच्छायां विवर्जयेत् ।
 सर्वौषधीभिः कोष्णेन वारिणा स्नानमाचरेत् ॥
 कृतरक्षा सुभाषा च वास्तुपूजनतत्परा ।

दानशीला तृतीयायां पार्वत्यां नक्त¹माचरेत् ॥
 पतिव्रता भवेन्नारी विशेषेण तु गर्भिणी ।
 यस्तु तस्या भवेत्पुत्रः शतायुर्वृत्ति²संयुतः ॥
 अन्यथा गर्भपतनमवाप्नोति न संशयः ।

इति । सुश्रुतोऽपि—

‘ततः प्रभृति व्यायामव्यवसायातितर्पणादिवास्व-
 मरात्रिजागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुक्कु-
 टासनशोणितमोक्षणानि परिहरेत्’

इति । ततः प्रभृति गर्भग्रहणप्रभृतीत्यर्थः । तद्ग्रहणं च श्रमादि-
 भिल्लिङ्गैरवगन्तव्यम् । तान्यपि तेनैवोक्तानि—

‘सद्यो गृहीतगर्भायां श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थि-
 क्केदनं³ शुक्लशोणितयोस्सम्बन्धे स्फुरणं च योन्याः’

इति । गर्भिण्याश्च यदभिलषितं तत्तस्यै दातव्यम् । अन्यथा
 दोषश्रवणात् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।
 वैरूप्यं मरणं वाऽपि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥

इति । श्रुतिरापि—

‘द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते ।

¹ सक्ति - वै

² स्थिगयुर्वृद्धि—वै.

³ स्पन्दनं—वै.

तदभिलाषितं दद्यात् । वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति'
इति । इति गर्भिणीधर्माः.

जातकर्म.

अथ जातकर्म । तत्र विष्णुः—

जातकर्म ततः कुर्यात्पुत्रे जाते यथोदितम् ।

स्वगृह्य इति शेषः । ततस्स्नानानन्तरमित्यर्थः । तथा च संवर्तः—

जाते पुत्रे पितुस्स्नानं सचेलं तु विधीयते ।

इति । तच्च शीतोदकेन कार्यम् । तदाह जावालिः—

कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव वा ।

इति । एतच्च रात्रावपि कार्यं 'जाते पुत्रे' इति जननानन्तरमस्य
विधानात् । अत एव वासिष्ठः—

पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा सङ्क्रमणे रवेः ।

राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ॥

इति । यज्ञेऽवभृथे । स्नानग्रहणं दानस्यापि प्रदर्शनार्थम् ।

अत एव व्यासः—

रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः ।

नैमित्तिकं तु कुर्वीत स्नानं दानं च रात्रिषु ॥

इति । तदपि नैमित्तिकदानमित्याह स एव—

ग्रहणोद्वाहसङ्क्रान्तियात्राऽऽर्तिप्रसवेषु च ।

दानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि न दुष्यति ॥

पुत्रजन्मनि यात्रायां शर्वर्या दत्तमक्षयम् ।

इति । रात्रिस्ताने तु विशेषमाह साङ्गचायनः—

दिवा यदाहृतं तोयं कृत्वा स्वर्णयुतं तु तत् ।

रात्रिस्ताने तु सम्प्राप्ते स्नायादनलसन्निधौ ॥

इति । जातकर्म च नाभिवर्धनात्प्रागेव कार्यम् । तदाह मनुः—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसां जातकर्म विधीयते ।

इति । नाभिवर्धनं नाभिच्छेदनम् । हारीतोऽपि तमेवार्थं
सहेतुकमाह—

‘प्राङ्नाभिच्छेदनात्संस्कारपुण्यार्थान्कुर्वन्ति ।

छिन्नायामाशौचम्’

इति । संस्कारो जातकर्म । पुण्यार्थान् दानानि । नैमि-
निरपि—

यावन्न छिद्यते नाळं तावन्नाप्नोति सूतकम् ।

छिन्ने नाळे ततः पश्चात्सूतकं तु विधीयते ॥

इति । यत्तु विष्णुधर्मोत्तरे—

अच्छिन्ननाभ्यां कर्तव्यं श्राद्धं वै पुत्रजन्मनि ।

आशौचोपरमे कार्यमथ वा नियतात्मभिः ॥

इति तद्रव्यविप्रकर्त्राद्यभावे वेदितव्यम् । अत एव जाबालिः—

जन्मनोऽनन्तरं कार्यं जातकर्म यथाविधि ।

दैवादतीतकालं चेदतीते स्मृतके भवेत् ॥

इति । श्राद्धमेतदामद्रव्येण कार्यम् । यदाह प्रचेताः—

स्त्री श्रूद्रस्वपचश्चैव जातकर्मणि वाऽप्यथ ।

आमश्राद्धं तथा कुर्याद्विधिना पार्वणेन तु ॥

इति । स्वपचस्वयंपच इत्यर्थः । सत्यव्रतोऽपि—

‘पुत्रजन्मनि नाभिकर्तनात्पूर्वं’ कृतजातकर्मा श्राद्धं² कुर्यात्’

इति । यत्पुनर्व्यासेनोक्तं—

द्रव्याभावे द्विजाभावे प्रवासे पुत्रजन्मनि ।

हेमश्राद्धं प्रकुर्वीत यस्य भार्या रजस्वला ॥

इति । तदामद्रव्याभावे द्रष्टव्यम् । अतोऽस्य हीनत्वाद्व्यमत्र भोज्यं विवक्ष्यते । द्विजः भोक्ता । आदिपुराणे तु जातश्राद्धे पक्वान्निनिषेधो दर्शितः—

जातश्राद्धे न दद्याद्वै पक्वान्नं ब्राह्मणेष्वपि ।

यस्माच्चान्द्रयणाल्लुद्धिस्तेषां भवति नान्यथा ॥

इति । कुमारजन्मदिनं प्रकृत्याह हारीतः—

‘जाते कुमारे पितृणामामोदात्पुण्यं तदहः’

¹ पुण्यं—क, ख.

² आमश्राद्धं—अ.

इति । आमोदो हर्षः । पुण्यं दानादिकर्मणि प्रशस्तमित्यर्थः । अत एवादिपुराणं—

देवाश्च पितरश्चैव पुत्रे जाते द्विजन्मनाम् ।
आयान्ति तस्मात्तदहः पुण्यं पूज्यं च सर्वदा ॥
तत्र दद्यात्सुवर्णं तु भूमिं गां तुरगं रथम् ।
छत्रं छागं वस्त्रमाल्यं शयनं चासनं गृहम् ॥

इति । प्रतिग्रहश्च नाभ्यामच्छिन्नायाम् । तदर्वाक्क्रियमाणो न दोषायेत्याह शङ्खः—

‘कुमारप्रसवे नाभ्यामच्छिन्नायां गुडतिलाहिरण्यवस्त्रगो-
धान्यप्रतिग्रहेष्वदोषस्तदहारित्येके गुर्वर्थं कुर्वता ’

इति । वृद्धमनुरपि—

जाते कुमारे तदहः कामं कुर्यात्प्रतिग्रहम् ।
हिरण्यधान्यगोवासस्तिलान्नगुडसर्पिषाम् ॥

इति । वृद्धयाज्ञवल्क्योऽपि—

तत्र सर्वं प्रतिग्राह्यं कृतान्नं तु विवर्जयेत् ।
भक्षयित्वा तु तन्मोहाद्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति । एतच्च प्रतिग्रहविधानं सकुल्यानामेव । तदाह शङ्खः—

‘सर्वेषां सकुल्यानां द्विपदचतुष्पदधान्यहिरण्यादि दद्यात्’

इति । एतच्चाशौचमध्येऽपि कार्यम् । तदाह प्रजापतिः—

आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् ।

कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां जातकर्म.

नामकरणम्.

अथ नामकरणम् । अत्र यमः—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।

पुण्ये नक्षत्रदिवसे मुहूर्ते वा गुणान्विते ॥

इति । पुण्ये नक्षत्रे पुण्ये वाऽहनि प्रशस्ते वा मुहूर्ते इत्यर्थः ।

तथा च मनुः—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥

इति । जन्मप्रभृति दशम्यां नामधेयं पिता कारयेत्कुर्यादित्यर्थः ।

नामकरणे तस्याधिकारात् । अत एव शङ्खः—

‘कुलदेवतानक्षत्रादिभिस्तम्बन्धं’ पिता कुर्यादन्यो वा
कुलवृद्धः’

इति । पितुरभावे कुलवृद्ध इति मन्तव्यम् । अत एव
विष्णुपुराणम्—

ततस्तु नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि ।

‘नक्षत्रादिस्तम्बन्धं—कः नक्षत्राभिस्तम्बन्धं—ख.

इति । एतच्च शास्त्रान्तरोक्तकालोपलक्षणार्थम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।

इति । भविष्यत्पुराणेऽपि—

नामधेयं दशम्यां तु केचिदिच्छन्ति पार्थिव ।

दशम्यामपरे रात्रौ मासे पूर्णे तथाऽपरे ॥

अष्टादशेऽहनि तथा वदन्त्यन्ये मनीषिणः ।

इति । गृह्यपरिशिष्टेऽपि—

‘जननाद्दशरात्रे’ शतरात्रे संवत्सरे वा नामकरणम्’

इति । शङ्खोऽपि विशेषमाह—

‘दशम्यामुत्थाप्य पिण्डविवर्धनं पितॄणां तत्र सा-

न्निध्यं (इति श्रुतेः)” ब्रह्मणे चाहुतिं पूर्वं पितॄनु-

मान्य तदहरेव नामकरणं कुर्यात्’

इति । उत्थाप्य पूर्वशम्यात इति शेषः । पिण्डविवर्धनं श्राद्धम् ।

अत एव पारस्करः—

‘दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति’

इति । अत्रापि तत्तद्ब्रह्मानुसारेण व्यवस्था । मनुस्तत्स्वरूपमाह—

मङ्गलयं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

१ व्युष्टे इत्यधिकः पाठः मदनपारिजाते.

२ मदनपारिजातपाठः.

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥

इति । मङ्गलबलधननिन्दाप्रतिपादकान्येव तेषां क्रमेण नामधेयानि भवन्तीत्यर्थः । अत्रोपपदान्यपि स एवाह—

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥

इति । शर्मरक्षापुष्टिप्रेष्यवाचकान्येतेषां क्रमेणोपपदानीत्यर्थः । एवं चैवं नामधेयानि भवन्ति--भद्रशर्मा, शक्तिपालः, धनपुष्टः, हीनदासः इति । यमोऽप्युत्तरपदविशेषमाह—

शर्मा देवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुजः ।

भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य दासश्शूद्रस्य कारयेत् ॥

इति । अत्रापि च—

‘मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्’

इति मनुनोक्तैः पूर्वपदैर्नामधेयानि द्रष्टव्यानि । बैजावापस्त्वन्यथा नामधेयमाह—

‘पिता नाम करोत्येकाक्षरं द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं चतुरक्षरमपरिमितं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तम्’

इति । अयमर्थः—घोषवन्ति यान्यक्षराणि वर्गतृतीयचतुर्थानि तान्यादौ कार्याणि । अन्तस्था यरलवास्ते मध्ये कर्तव्याः ।

अभिनिष्ठानो विसर्जनीयः । एतदन्त इत्यर्थः । अथ वा
पितामहादिनामसम्बन्धं नाम कुर्यात् यदाह शङ्खः—

‘कुलदेवतानक्षत्राभिसम्बन्धं पिता कुर्यादन्यो
वा कुलवृद्धः’

इति । स्त्रीणां पुनर्नामधेयं मनुराह—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥

इति । सुखोद्यं सुखोच्चारणम् । मङ्गल्यं मङ्गलवाचि । दीर्घवर्ण
आकार ईकारो वा । अत एव पारस्करः—

‘अयुग्माक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्’

इति । शङ्खोऽपि—

‘ईकारान्तं स्त्रीणामेवं कृते नान्नि शुचि तत्कुलं भवति’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां नामकरणम्.

निष्क्रमणम्.

अथ निष्क्रमणम् । तत्र मनुः—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।

इति । यस्मिन् जन्मेति शेषः । पुराणेऽपि—

द्वादशेऽहनि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं तथाऽन्येषां मतं विधो ॥

इति । ततः किं कर्तव्यमिति ? शङ्ख आह—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं बालस्यादित्यदर्शनम् ।

इति । यमोऽपि—

ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम् ॥

इति । लोणाक्षिरपि—

‘तृतीये मासे दर्शनमादित्यस्य’

इति । अत्रापि यथास्वगृह्यं व्यवस्था । येषां¹ तु शाखिनामना-
म्नातं तेषां तु विकल्प एव¹ ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां निष्क्रमणम् ।

कर्णवेधः.

अथ कर्णवेधः । तत्र ज्योतिःशास्त्रम्—

कार्तिके शौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽपि वा ।

कर्णवेधं प्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥

सुनक्षत्रे शुभे चन्द्रे सुस्थे शीर्षोदये शुभे ।

दिनच्छिद्रव्यतीपातविष्टिवैधृतिवर्जिते ।

शिशोरजातदन्तस्य मातुरुत्सङ्गवर्तिनः ।

¹ वाक्यमिदं ‘ग’ पुस्तके न दृश्यते.

सौचिको वेधयेत्कर्णौ सूच्या द्विगुणसूत्रया ॥

हस्तोऽश्विनी स्वातिपुनर्वसू च तिष्येन्दुचित्रा हरिरेवती च ।

चन्द्रेऽनुकूले गुरुशुक्रवारे कर्णौ तु वेध्यावमरेज्यलग्ने ॥

अमरेज्यो बृहस्पतिः ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां कर्णवेधनम् ।

अन्नप्राशनम्

अथान्नप्राशनम् । तत्र मनुः—

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यच्चेष्टं मङ्गलं कुले ।

यमोऽपि—

ततोऽन्नप्राशनं मासि षष्ठे कार्यं यथाविधि ।

अष्टमे वाऽथ कर्तव्यं यच्चेष्टं मङ्गलं कुले ॥

लोणाक्षिरपि—

‘षष्ठे मास्यन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु वा’ ।

इति । शङ्खोऽपि—

‘संवत्सरेऽन्नप्राशनमर्धसंवत्सर इत्येके’

इति । अत्रापि यथास्वगृह्यं व्यवस्था । मार्कण्डेयोऽत्र

विशेषमाह—

देवतापुरतस्तस्य धात्र्युत्सङ्गतस्य च ।

अलङ्कृतस्य दातव्यमन्नं पात्रेऽथ काञ्चने ॥

मध्वाज्यकनकोपेतं प्राशयेत्पायसं तु तत् ।

कृतप्राशमथोत्सङ्गाद्धात्री बालं समुत्सृजेत् ॥

इति । अन्नप्राशनानन्तरं बालस्य जीविकापरीक्षामाह स एव—

देवाग्रतोऽथ विन्यस्य शिल्पं भाण्डानि सर्वशः ।

शस्त्राणि चैव शास्त्राणि ततः पश्येतु लक्षणम् ॥

प्रथमं यत्स्पृशेद्बालः ततो भाण्डं स्वयं तथा ।

जीविका तस्य बालस्य तेनैव तु भविष्यति ॥

इति । इत्यन्नप्राशनम्.

चूडाकरणम्.

अथ चूडाकरणम् । तत्र मनुः—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमाब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

यमोऽपि—

ततस्संवत्सरे पूर्णे चूडाकर्म विधीयते ।

द्वितीये वा तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

इति । वैजानापोऽपि—

“तृतीये वर्षे चूडाकरणम्”

इति । शङ्खोऽपि—

“तृतीये वर्षे चूडाकर्म पञ्चमे वा”

इति । लोणाक्षिरपि—

‘तृतीयस्य वर्षस्य भूयिष्ठे गते चूडाः कर्तव्याः’

इति । चूडादिशखाः । शौनकोऽपि—

‘तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा’

इति । यस्मिन्कुले यथा चूडाकर्म तथैव कार्यमित्यर्थः । अत्रापि तत्तद्ब्रह्मानुसारेण व्यवस्था । अत्र ऋषिव्यवस्थया चूडादिनियममाह लोणाक्षिः—

दक्षिणतः कमुजा^१ वासिष्ठानामुभयतोऽत्रिकाश्य-
पानां मुण्डा भृगवः पञ्चचूडा अङ्गिरसः वाजि^२भेके
मङ्गलार्थाशिखिनोऽन्ये यथाकुलधर्मं वा शुक्लपक्षस्य
पुण्याहे पर्वणि वा ।

इति । कमुजा चूडा । वाजिः केशपङ्क्तिः । अन्ये तु शिखामात्रं
यत्र कचन मङ्गलार्थं कुर्वन्ति । अत्र (च) जन्मप्रभृति वर्षस-
ङ्ख्या वेदितव्या ।

‘जन्मनोऽधितृतीये वर्षे चौलं पुनर्वस्वोः’

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । पुनर्वसुग्रहणं विहितनक्षत्रोपलक्षणार्थम् ।
अत एव व्यासः—

अश्विनी श्रवणं स्वाती चित्रा पुष्यपुनर्वसू ।
धनिष्ठारेवतीज्येष्ठामृगहस्तेषु कारयेत् ॥

क्षौरमिति शेषः । तथा निषिद्धान्यपि स एवाह—

नक्षत्रे तु न कुर्वीत यस्मिन् जातो भवेन्नरः ।
न प्रोष्ठपदयोः कार्यं नैवाग्नेये च भारत ॥

^१ कमुजा केशपङ्क्तिरिति पराशरमाधवीये.

^२ राजि—क.

तिथिं प्रतिपदं रिक्तां विष्टिं चैव विवर्जयेत् ।

वारं शनैश्चरादिसभौमानां रात्रिमेव च ॥

इति । ज्योतिश्शास्त्रेऽपि—

क्षौरे तु मासं क्षपयेद्दिनेश्वरः शनैश्चरस्सप्त कुजस्तथाऽष्टौ ।

आचार्यशुक्रेन्दुबुधाः क्रमेण द्यूर्दशैकादश सप्त पञ्च ॥

इति । तथा केषुचिद्विषयेषु नक्षत्रे निषेधापवादो ज्योतिश्शास्त्रे वर्णितः—

नृपाज्ञया ब्राह्मणसम्मतो वा^१बन्धस्य मोक्षे क्रतुदीक्षिणेषु^२।

विवाहकाले मृतमृतके च सर्वेषु शस्तं क्षुरकर्म कार्यम्^३ ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां चूडाकरणम्.

स्त्रीसंस्काराः.

अथ स्त्रीसंस्काराः । तत्र याज्ञवल्क्यः—

तूष्णीमेताः क्रियास्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ।

याः जातकर्मादिचूडाकरणपर्यन्ताः क्रियास्ताः स्त्रीणां विना मन्त्रेण कार्याः । अर्वाक्पुनर्विशेषज्ञापनात्सर्वे मन्त्रेणैव । मनुरपि—

अमन्त्रका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद्धशेषतः ।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥

^१ सम्मते च.—ख.

^२ बन्धस्य मो... .. क्रतुदीक्षिणे वा. ख.

^३ मेषु—ख ; तेषु—हेमाद्रिः.

इति । आवृज्जातकर्मादिक्रिया । अनेनोक्तकर्मकालातिक्रमो
न कार्य इत्याह । अत एव तदतिक्रमे प्रायश्चित्तमाह
कात्यायनः—

देवतानां विपर्यासे जुहोतिषु कथं भवेत् ।
सर्वप्रायश्चित्तं हुत्वा क्रमशो जुहुयात्पुनः ॥
संस्कारा आतिपद्येरन् स्वकालाच्चेत्कथं चन ।
हुत्वैतदेव कर्तव्याः ये तूपनयनादधः¹ ॥

सर्वप्रायश्चित्तमपि तेनैवोक्तम्—

“सर्वप्रायश्चित्तं च पञ्चभिः प्रत्यृचं ‘त्वं नो अग्ने’
इति द्वाभ्यां, ‘अयाश्चाग्ने’, ‘ये ते शतम्’,
‘उदुत्तमम्’ इति च”

इति । उपनयनकालातिपत्तौ ब्रात्यस्तोमाद्येव² । गोविलस्तु
विशेषमाह—

तूष्णीमेताः क्रियास्त्रीणाममन्त्रेण तु होमतः³ ।
इति । स्त्रीणां तु विवाह एवोपनयनमित्याह मनुः—
वैवाहिको विधिस्स्त्रीणामौपनायनिकस्मृतः⁴ ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

¹ तूपनयनादयः—ख.

² ब्रात्यप्रायश्चित्तं भवत्येव—वैद्य.

³ स्त्रीणां मन्त्रेण तु होमः । मदनपा.

⁴ संस्कारो वैदिकस्मृतः—मनुः.

इति । अत्र पतिसेवा गुरुशुश्रूषा । गृहार्थो गृहकृत्यं तत्करणम-
ग्निपरिचर्येति । अतश्चात्रापि प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षा
इत्यादि समानम् । यत्तु हारितेनोक्तम्—

‘द्विविधास्त्रियो ब्रह्मवादिन्यस्सद्योवध्वश्च । तत्र
ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्निन्धनं वेदाध्ययनं स्व-
गृहे च भिक्षाचर्येति । सद्योवधूनां चोपस्थिते
विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः’

इति । तत्कल्पान्तराभिप्रायम् । तथा च यमः—

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीवन्धनमिष्यते ।

अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः ।

स्वगृहे चैव कन्यायाः भैक्षचर्या विधीयते ॥

वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां स्त्रीसंस्काराः.

अनुपनीतधर्माः.

अथानुपनीतधर्माः । तत्र गौतमः—

‘प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षः’

इति । कामचार इच्छागतिः । कामवादोऽश्लीलादिभाषणम् ।

कामभक्षः पर्युपितादिभोजनम् । एतेषु प्रागुपनयनान्न दोष इत्य-

भिप्रायः । तथा च विष्णुपुराणम् —

भक्ष्याभक्ष्ये तथाऽपेये वाच्यावाच्ये तथाऽनृते ।

अस्मिन्काले न दोषस्यात्म यावन्नोपनीयते ॥

इति । न चापेय इत्यनेन मद्यादिपाने न दोष इति शङ्कनीयम् ।
वर्जयेदित्यनुवृत्तौ.

‘नित्यं मद्यं ब्राह्मणः’

इति गौतमस्मरणात् । नित्यग्रहणमनुपनीतस्यापि निषेधप्राप्त्य-
र्थम् । न च प्रागुपनयनाद्ब्राह्मण्यमेव नास्तीत्यपि शङ्कनीयम्.

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

इति मनुना ब्राह्मणस्य सत उपनयनविधानात् । एवं गौतमादि-
वचनं महापातकादिव्यतिरिक्तविषयमिति मन्तव्यम् । तथा च
स्मृत्यन्तरम्—

स्यात्कामचारभक्षोक्तिर्महतः पातकादृते ।

इति । इतरत्रापि कचित्कामभक्षस्यापवादमाह गौतमः—

‘ब्रह्मचारी अहुतात् स्यात्’

इति । हुतं हुतशिष्टं चरुपुरोडाशादि । तदत्तीति हुतात् न हुता-
दहुतात् । यथाऽयमहुतात्स्यात्^१ । तथा चाह यमः—

वैश्वदेवं पुरोडाशमग्निमध्याच्च यजुतम् ।

यो ह्यद्या^२च्छिथुराकृष्य मात्रा रक्षयः प्रयत्नतः ॥

^१ अत्र “ तथा पित्रा नियुज्येतेत्यर्थः ” एवमधिकपाठो वैयनाथीये.

^२ यद्यद्या.—क.

इति । वैश्वदेवं वैश्वदेवशिष्टम् । तथा कामचारस्याप्यपवादमाह
गौतमः—

‘ब्रह्मचारी’

इति । यदा तु कथंचिद्दुर्भाष्टमकालादुपन^१यनातिक्रमः तदाऽपि
तेन ब्रह्मचारिणा भवितव्यमिति तस्यार्थः । न च ब्रह्म-
चरित्येतद्ब्रह्मचारिधर्मप्राप्त्यर्थमिति शङ्कनीयम् । यत आह
वसिष्ठः—

न ह्यस्य^२ विद्यते कर्म किंचिदामौञ्जिवन्धनात् ।

वृत्त्या शूद्रसमस्तावद्यावद्वेदेन जायते ॥

इति । गौतमोऽपि—

‘यथोपपादमूत्रपुरीषो भवति’

इति । न तस्योदङ्मुखो दिवा रात्रौ दक्षिणामुख इत्यादयो
नियमास्सन्तीत्यर्थः । एवं सर्वत्रानियमे प्राप्ते कचिन्नियमार्थ-
माह स एव—

‘नास्याचमनकल्पो विद्यते’

इति । कल्पः प्रकार इत्यर्थः । अनेनाचमननिमित्तेष्वाचमनमात्र-
मस्तीति ज्ञायते; कल्पमात्रस्यैव निषेधात् । अत एवमभिधानेन
अनाचान्तस्पर्शेऽपि पित्रादेरशुद्धिर्नास्तीत्याह स एव—

‘न तदुपस्पर्शनादाशौचम्’

^१ कालादावुपन — ख : काले उपन — क.

^२ नेहास्य—ख,

इति । तावन्मात्रेणैव तस्य प्रयतत्वादित्यभिप्रायः । नन्वेवं तर्हि चण्डालमृतिकादिस्पृष्टस्पर्शोऽप्यशुद्धिर्न स्यात्? मैवं; गौतम-
वाक्ये चण्डालादेरप्रकृतत्वात् ।

‘पतितचण्डालमृतिकोदक्याशवस्पृष्टितस्पृष्ट्यप-

स्पर्शने संचेलोदकस्पर्शनाच्छुद्धेयत्’

इत्यत्र वयोविशेषानभिधानाच्च । अतो

‘न तदुपस्पर्शनादाशौचम्’

इत्येतत्,

‘न तस्याचमनकल्पो विद्यते’

इति प्रकृताचमनविषयमेवेति मन्तव्यम् । अनेनेवाभिप्रायेणाप-
स्तम्बोऽप्याह—

‘आऽन्नप्राशनाद्गर्भा नाप्रयता भवन्ति । आ परि-
संवन्मगादित्येके । यावता वा दिशो न प्रजा-
नीयुः । ओपनयनादित्यपरम् । अत्र ह्यधिकार-
इशास्त्रैर्भवति’ ।

इति । अत्र ह्यधिकार इति हेतुबलादन्ये इत्यादिपक्षत्रयं पूर्वपक्षत्वे-
नोपन्यस्तमित्युक्तं तद्भाष्ये । तथा शुद्धचन्तराण्याह गौतमः—

‘अन्यत्रापामार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः ।’

इति । अपामार्जनमुच्छिष्टावयवानां मोदकेन पाणिना संमार्ज-

नम् । प्रधावनं प्रक्षालनमपेध्यालिप्तस्य । अवोक्षणं प्रोक्षण-
मशुचिसंपृष्टस्य । एतेभ्योऽन्यत्राचमनं शुद्धिहेतुरित्यर्थः । एव-
माचमनादिभिः कृतशौचमपि नाग्निहोत्रादौ नियुञ्ज्यात् । तदाह
गौतमः—

‘न त्वे वैनमाग्निहवनबलिहरणयोर्नियुञ्ज्यात्’

इति । तस्य मन्त्रहीनत्वादित्यभिप्रायः । मनुरपि—

नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।

होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतोऽपि च ॥

इति । न च मन्त्रान्ग्राहयित्वा¹ विनियोग इत्याह गौतमः—

‘न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात्’

इति । स्वधानिनयनं प्रेतकर्म । तत्रानुपनीतस्यापि मन्त्राध्ययन-
मविरुद्धमित्यर्थः । ब्रह्मग्रहणं स्मृत्यङ्गाद्यनिषिद्धार्थम् । मनुरपि—

न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदा मौञ्जिवन्धनात् ।

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामनुपनीतधर्माः ।

विद्यारम्भः.

अथ विद्यारम्भः । तत्र मार्कण्डेयः—

प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे अप्रसुप्ते जनार्दने ।

पठ्नीं प्रतिपदं चैव वर्जयित्वा तथाऽष्टमीम् ॥

¹ त्वाऽपि—वै.

रिक्तां पञ्चदशीं चैव सौरभौमदिने. तथा ।
 एवं सुनिश्चिते काले विद्यारम्भं तु कारयेत् ॥
 पूजयित्वा हरिं लक्ष्मीं देवीं चैव सरस्वतीम् ।
 स्वविद्यामूत्रकारांश्च स्वां विद्यां च विशेषतः ॥
 एतेषामेव देवानां नाम्ना तु जुहुयाद्धृतम् ।
 दक्षिणाभिर्द्विजेन्द्राणां कर्तव्यं चात्र पूजनम् ॥
 प्राङ्मुखो गुरुरासीनो वारुणाभिमुखं शिशुम् ।
 अध्यापयेत्तु प्रथमं द्विजाशीर्भिस्सुपूजितम् ॥
 ततः प्रभृत्यनध्यायान्वर्जनीयान्विवर्जयेत् ।
 अष्टमीद्वितयं चैव पक्षान्ते च दिनद्वयम् ॥
 आशौच इन्द्रयात्रायां भूकम्पे राहुदर्शने ।
 व्यतीपाते त्वहोरात्रमुल्कापाते तथैव च ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां विद्यारम्भः.

उपनयनम्.

अथोपनयनम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

राजामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥

इति । उपनयनमेवोपनायनम् । तद्ब्राह्मणस्य गर्भग्रहणादारभ्य
 जन्मतो वाऽष्टमे वर्षे कार्यम् । एकेन सह वर्तत इति सैकम् ।

तस्मिन्नेकादशे द्वादश इत्यर्थः । राजन्यवैश्ययोरपि गर्भादेव
वर्षसङ्ख्या—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादेकादशे राज्ञः गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

इति मनुस्मरणात् । अत्र लोकाक्षिः—

‘सप्तमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं नवमे राजन्यस्य
एकादशे वैश्यस्येति ; गर्भपञ्चमे ब्राह्मणमुपनयेद्-
र्भाष्टमे वा गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यं
गर्भषोडशे वा’

इति । गौतमस्तु काम्योपनयनमाह—

‘नवमे पञ्चमे वा काम्यम्’

इति । तत्रापि गर्भादेव वर्षसङ्ख्या । नित्यं काम्यं चापन-
यनमुक्त्वा—

‘गर्भादिसङ्ख्या वर्षाणाम्’

इति तेनैवोक्तत्वात् । एतच्च ब्राह्मणविषयम् । यदाहाङ्गिराः—

ब्रह्मवर्चसकामस्य पञ्चमेऽब्देऽग्रजन्मनः ।

आयुष्कामस्य नवमे कार्ये मौञ्जीनिबन्धनम् ॥

इति । मनुर्गपि—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्ये विप्रस्य पञ्चमे ।

इति । क्षत्रियवैश्ययोस्तु अङ्गिरसोक्तं द्रष्टव्यम्—

षष्ठे तथा द्वादशे च राज्ञो वृद्धिर्वलायुषो ।

ईहायुषोस्तु वैश्यस्य अष्टमे च चतुर्दशे ॥

इति । ईहा कृप्यादिविषया चेष्टा । अत्र षष्ठाष्टमयोर्वले वेदि-
तव्ये । तथा च मनुः—

राज्ञो वलार्थिनस्पष्टे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।

एवमन्यस्मिन्नपि काले फलान्तरोद्देशेन कार्यम् । तदाहा-
पस्तम्बः—

‘अथ काम्यानि—सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामम् । अ-
ष्टमे आयुष्कामम् । नवमे तेजस्कामम् । दशमेऽ-
न्नाद्यकामम् । एकादश इन्द्रियकामम् । द्वादशे
पशुकामम्’ ।

इति । एतच्च वर्णत्रयसाधारणम् । तदुपनयनानन्तरमस्य विधा-
नादित्युक्तं तद्भाष्ये । अत्र च ब्राह्मणादीनां द्वितीयं जन्म ।
तदाह वसिष्ठः—

मातुर्यदग्रे जननं द्वितीयं मौञ्जिवन्धनम् ।

इति । अत्रोपपत्तिमाह मनुः—

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जिवन्धनचिह्नितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘स हि विद्यातस्तं जनयति ; तच्छ्रेष्ठं जन्म ।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः’ ॥

इति । एवं ब्राह्मणादीनां त्रयाणामेव द्विजत्वं न शूद्रस्य । तस्य
द्वितीयजन्मनोऽभावात् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिवन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजास्मृताः ॥

इति । अत्र च वर्णव्यवस्थायामृतुनियममाहापस्तम्बः—
‘वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि
वैश्यम्’

इति । अथवा माघादयः पञ्च मासा ग्राह्याः । तथा च
ज्योतिःशास्त्रम्—

माघादिषु तु मासेषु मौञ्जी पञ्चसु शस्यते ।

इति । एतच्च वर्णत्रयसाधारणम् । तदुक्तं ज्योतिःशास्त्र एव—

ऋतुर्वसन्तश्शुभदोऽग्रजानां ग्रीष्मो नृपाणां च शरद्विशां च ।
व्रतस्य बन्धे यदि वाऽश्विलानां माघादयः पञ्च भवन्ति मासाः ॥

इति । यजुःशाखिनां तु पुनर्वसन्तग्रहणं नियमार्थमित्युक्तं धर्म-
भाष्ये^१ । वसन्तादयोऽपि सूर्यस्य राशिद्वययोगाद्भवन्ति । एत-
दपि तत्रैवोक्तम्—

मृगादिराशिद्वयभानुयोगात् षडर्तवस्स्युश्शिशिरो वसन्तः ।

ग्रीष्मश्च वर्षाश्च शरच्च तद्वत् हेमन्तनामा कथितश्च षष्ठः ॥

इति । मृगो मकरः । अनेन मीनमेषयोर्वसन्त इत्युक्तं भवति ।

श्रुतिस्तु मधुमाधवावेव वसन्त इत्याह—

‘मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू’

इति । मधुमाधवौ चैत्रवैशाखौ । एवं तिथ्यादयोऽपि ज्योतिष्शास्त्रेऽवगन्तव्याः—

नष्टचन्द्रेऽष्टमे^१ शुक्ले निरंशे चैव भास्करे ।

कर्तव्यं नोपनयनं नानध्याये गलग्रहे ॥

इति । राशेः प्रथमभागस्थितस्सूर्यो निरंशः । गलग्रहोऽपि तत्रैवोक्तः—

त्रयोदशीचतुष्कं तु सप्तम्यादित्रयं तथा ।

चतुर्थ्येकाकिनी^२ प्रोक्ता अष्टावेते^३ गलग्रहाः ॥

इति ।

गुरुर्भृगुसुनो धात्रीपुत्रश्शशधरात्मजः ।

स्युरेते ऋग्यजुस्सामाथर्वणामधिपाः क्रमात् ॥

इति । भृगुसुतश्शुक्रः । धात्रीपुत्रोऽङ्गारकः । शशधरात्मजो बुधः । एते ऋगादीनां क्रमेणाधिपा भवन्ति । तस्मिन्वारे तच्छाखीयस्योपनयनं कार्यमित्यभिप्रायः ।

^१ शशाख एवाव.

^२ छमे—ख ; न्द्रेऽस्तमे—क.

^३ कादशी—वैद्य.

^४ नव चैते—वैद्य.

हस्तत्रये पुण्यधनिष्ठयोश्च पाण्डणश्विसौम्यादितिषिष्णुभेषु ।
 शस्ते तित्थौ चन्द्रवलेन युक्ते कार्यौ द्विजानां व्रतबन्धमोक्षौ ॥
 इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामुपनयनमुख्यकालाः.

गौणकालाः.

अथ गौणकालाः । तत्र मनुः—

आ षोडशाद्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।

आ द्वाविंशात्क्षत्रवन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥

इति । आकारश्चायमभिविधौ । यत आह व्यासः—

औपनायनिकः कालः परष्णोडशवार्षिकः ।

द्वाविंशतिः परोऽन्यस्य स्याच्चतुर्विंशतिः परः ॥

इति । परोऽन्तिमः । तत ऊर्ध्वं गौणकालोऽपि नास्तीत्यर्थः ।

अत एव तदतिक्रमे पातित्यमाह यमः—

समतिक्रान्तकालाश्च पतितास्सर्व एव ते ।

इति । व्यासोऽपि—

ब्राह्मणक्षत्रियविंशां कालश्चेदत्यगादयम् ।

सावित्रीपतिता ब्राह्म्याः परिहार्याः प्रयत्नतः ॥

इति । परिहार्या इति वदन् एते संसर्गानर्हा इत्याह । अत एव
 वसिष्ठः—

‘नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्व्यवहरेयुः’ ॥

इति । मनुरपि—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि च कर्हिचित् ।

ब्राह्मणान्यानांश्च सम्बन्धान्नाचरेद्ब्राह्मणस्सह ॥

इति । ब्रह्मसम्बन्धोऽध्यापनादि । अपूतैरकृतप्रायश्चित्तैरित्यर्थः ।

अत एव सङ्ग्रहकारः—

ब्रात्यस्याकृतचित्तस्य न कार्यमुपनायनम् ।

अध्यापनं याजनं च विवाहादि च वर्जयेत् ॥

इति । प्रायश्चित्तमपि याज्ञवल्क्येनोक्तम्—

अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते^१ सर्वधर्मं^२ वहिष्कृताः^३ ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या ब्रात्यस्तोमादृते क्रतोः ॥

इति । ब्रात्यस्तोमो ब्रात्यानां प्रायश्चित्तार्थः क्रतुः । तं विहायान्यत्रानधिकार इत्यर्थः । तत्र त्वपत्नीकस्यानधीतवेदस्याकृतानधिकारस्य च वचनादाधिकार इत्यविरोधः । वसिष्ठस्तु प्रायश्चित्तान्तरमप्याह—

पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत् । द्वौ मासौ यावकेन वर्तेत । मासं पयसा । अर्धमासमामिक्षयाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितं त्रिरात्रमब्भक्षणं अहोरात्रमुपवासः । अश्वमेधावभृथं वा गच्छेत् ब्रात्यस्तोमेन वा यजेत ।

^१ त्रयोऽप्येते ; नवन्त्येते

^२ सर्वकर्म. वै.

^३ यथाकालमसंस्कृताः.

इति । अस्यार्थः—उद्दालकेन दृष्टमित्येतदुद्दालकव्रतम् । तत्र द्वौ मासौ यावकेनेत्यादिना तत्स्वरूपमाह—यावको यवकृता यवा-
गूः तयैव मासद्वयं वर्तेत । अयाचितं तु सर्वव्रतसाधारणं हविष्यं
भुञ्जीत । विशेषानभिधानात्¹ । तच्च सकृदेव कार्यं प्रायश्चित्तस्य
दुःखात्मकत्वात् । उपवासे तूदकस्यापि निवृत्तिः पूर्वमब्धक्ष-
णेनैव त्रिरात्रविधानादिति । इति गौणकालाः ।

अजिनानि.

अथाजिनानि । तत्र गौतमः—

‘कृष्णरुखस्ताजिनानि’

इति । कृष्णः कृष्णमृगः । रुरुर्गौरमृगः । वस्तः छागः ।
एतेषामजिनानि ब्राह्मणक्षत्रियविशां क्रमेण भवन्ति ।
बृहस्पतिः—

कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य तु ।

वस्ताजिनं तु वैश्यस्य सर्वेषां वा गवाजिनम् ॥

इति । पारस्करस्तु—

‘सर्वेषां वा गव्यम्’

इति । यमोऽपि—

कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य तु ।

वस्ताजिनं तु वैश्यस्य सर्वेषां रौरवाजिनम् ॥

इति । एतान्युत्तरीयाणि—

‘कृष्णरुरुवस्ताजिनान्युत्तरीयाणि’

इति शङ्खस्मरणात् । पारस्करोऽपि—

‘ऐणेयमाजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य रौरवं राजन्य-
स्याजं गव्यं वा वैश्यस्य सर्वेषां वा गव्यम्’

इति । एणः कृष्णमृगः । इति स्मृतिचन्द्रिकायामाजिनानि॥

वासांसि.

अथ वासांसि । तत्र गौतमः—

‘शाणक्षौमचीरकुतपास्सर्वेषां कार्पासं वाऽविकृतम्’

इति । शाणं शणविकारम् । क्षौमस्तसीभूत्रनिर्मितम् । चीरं
दर्भादिनिष्पन्नम् । कुतपः पार्वतीयाजरोमनिर्मितः कम्बलः ।
अविकृतमरागसम्बन्धम् । एतानि सर्वेषामविशेषेण वासांसि
भवन्तीत्यर्थः । वसिष्ठोऽपि—

‘सर्वेषां वा तान्तवमरक्तम्’

इति । मनुस्तु वर्णव्यवस्थया वासोनियममाह—

वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ।

इति । वसिष्ठोऽपि—

‘शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य कार्पासं माज्जिष्ठं ।

क्षौमं क्षत्रियस्य पीतं कौशेयं वैशस्य’

इति । अहतस्य लक्षणमाह प्रचेताः—

ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् ।

अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनम् ॥

माञ्जिष्ठया विकृतं माञ्जिष्ठम् । केचिद्ब्राह्मणस्य काषायं वस्त्रमि-
च्छन्ति । तदाहापस्तम्बः—

‘काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ति । माञ्जिष्ठं राजन्य-
स्य हारिद्रं वैश्यस्य ।’

इति । कषायराञ्जितं काषायम् । हरिद्रया विकृतं हारिद्रम् । का-
षाये तु विशेषमाह गौतमः—

‘वार्क्षं ब्राह्मणस्य माञ्जिष्ठहारिद्रे इतरयोः’

इति । वृक्षकषायनिर्मितं वार्क्षम् । पैठीनमिस्तु सर्वेषां काषा-
यमाह—

‘कमण्डलुं यज्ञोपवीतं काषायं वस्त्रमिति समानानि’

इति । एतच्च परिधानार्थम्—

क्षौमकार्पासकुतपचर्मवल्कल¹कम्बलाः ।

सर्वं न धारयेच्छुक्लं वासस्तत्परिधानकम् ॥

इति मनुस्मरणात् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां वासांसि.

दण्डाः.

अथ दण्डाः । तत्र मनुः—

¹ चर्मवल्बज—वैद्य.

ब्राह्मणो वैल्वपालाशौ क्षत्रियो वटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरो वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥

इति । पुराणेऽपि—

ब्राह्मणो वैल्वपालाशौ तृतीयः प्रक्षजस्तथा ।
न्यग्रोधखादिरौ क्षत्रे तथाऽन्यो वेतसोद्भवः ॥
पैलवौदुम्बरो वैश्ये तृतीयोऽश्वत्थजस्तथा ।

इति । एतच्च न दण्डसमुच्चयार्थं, किं तु विकल्प एव ।
यदाह यमः—

विप्रस्य दण्डः पालाशो वैल्वो वा धर्मतस्मृतः ।
आश्वत्थः क्षत्रियस्याथ खादिरो वाऽपि धर्मतः ।
औदुम्बरोऽथ वैश्यस्य प्राक्षो वा दण्ड उच्यते ॥

इति । पारस्करस्तु विशेषमाह—

पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः वैल्वो राजन्यस्य औदु-
म्बरो वैश्यस्य सर्वे वा सर्वेषाम्

इति । गौतमोऽपि—

‘यज्ञियो वा सर्वेषाम्’

इति । यज्ञियो यज्ञार्ह इत्यर्थः । एतदुक्तदण्डालाभविषयम् । अत
एव यमः—

एतेषामप्यलाभे तु सर्वेषां सर्वयज्ञियाः ।

इति । अनेनैवाभिप्रायेणाहापस्तम्बः—

‘वाक्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति’

इति । दण्डलक्षणमाह यमः—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणास्सौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥

इति । गौतमोऽपि—

‘अपीडिता यूपवक्रास्सशल्काः’

इति । अपीडिता बलीवेष्टनादिभिः । यूपवक्रा यूपवन्नताग्रा
इत्यर्थः । तथा च व्यासः—

शिरोललाटनासाग्रप्रमाणा यूपवन्नताः ।

इति । मनुरपि दण्डप्रमाणमाह—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाटसम्मितो राज्ञस्स्यात्तु नालान्तिको विशः ॥

इति । केशान्तिको मूर्धप्रमाण इत्यर्थः । अत एव गौतमः—

‘मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणाः’

इति । वसिष्ठस्तु विशेषमाह—

‘घ्राणसम्मितो ब्राह्मणस्य ललाटसम्मितः क्षत्रि-

यस्य केशसम्मितो वैश्यस्य’

इति । शङ्खोऽपि—

केशावधिललाटांसतुल्याः प्रोक्ताः क्रमेण तु ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां दण्डाः.

मेखलाः.

अथ मेखलाः । तत्र गौतमः—

‘मौञ्जीज्यामौर्वीसौत्रयो मेखलाः क्रमेण ।’

इति । मुञ्जनिर्मिता मौञ्जी । सा ब्राह्मणस्य मेखला । मौर्वी मूर्वा-
मयी ज्या धनुर्गुणः क्षत्रियस्य । (शण) सूत्रकृता सौत्री । सा
वैश्यस्य । तथा च मनुः—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्रृङ्गणा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥

इति । त्रिवृत्त्रिगुणा । तथा च प्रचेताः—

‘त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखलाः’

इति । त्रिसिष्टस्तु मेखलाविशेषमाह—

‘मौञ्जीरशना ब्राह्मणस्य धनुर्ज्या क्षत्रियस्य तान्त-
वी वैश्यस्य ।’

इति । पैठीनसिरपि—

मौञ्जी मेखलाऽश्मातकी ब्राह्मणस्य बाल्वजी ।
मौर्वी वा राजन्यस्य शाणी क्षौमी वा वैश्यस्य ॥

इति । क्षुमा अतसी । एतदुक्तमुञ्जाद्यभावे वेदितव्यम् ।

अत एव मनुः—

मुञ्जाऽभावे तु कर्तव्या कुशाश्मातक^१ बल्वजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव च ॥

इति । त्रिवृता त्रिगुणेनेत्यर्थः । मुञ्जग्रहणं मूर्वाद्युपलक्षणार्थम् ।

अत एव यमः—

विप्रस्य मेखला मौञ्जी ज्या मौर्वी क्षत्रियस्य तु ।

शणसूत्री तु वैश्यस्य मेखला धर्मतस्मृताः ॥

एतासामप्यभावे^२ तु कुशाश्मातक^१ बल्वजैः ।

मेखलास्त्रिवृतः कार्याः ग्रन्थिनैकेन वा त्रिभिः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां मेखलाः.

यज्ञोपवीतम्.

अथ यज्ञोपवीतम् । तत्र मनुः—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥

इति । त्रिवृच्च । नवसूत्रम् 'नव वै त्रिवृत्' इति श्रुतेः । गृह्यपरि-
शिष्टेऽपि—

‘उपवीतमयुग्मसरं त्रिवृद्यज्ञोपवीतम्’

इति । अयुग्मसरमयुग्मगुणं त्रिगुणमिति यावत् । एकैकश्च गुणो
विषमतन्तुकः त्रितन्तुक एव । अन्यथा नवतन्तुत्वव्याघातात् ।
उक्तं च देवलेन—

यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम् ।

^१ इमन्तक—ख.

^२ प्यलाभे—वैद्य.

इति । एवं च नवतन्तुकं त्रिवृद्यज्ञोपवीतमित्युक्तं भवति । तदूर्ध्ववृतं कार्यम् । तदाह दत्तात्रेयः—

अधोवृत्तैस्त्रिभिस्सूत्रैः पुनश्चोर्ध्ववृत्तैस्त्रिवृत् ।

कात्यायनोऽपि—

त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ।

इति । ऊर्ध्ववृतस्य लक्षणमाह सङ्ग्रहकारः—

करेण दक्षिणेनोर्ध्वं गतेन त्रिगुणीकृतम् ।

वलितं मानवे सूत्रं शास्त्र ऊर्ध्ववृतं^१ स्मृतम् ॥

इति । ऊर्ध्वं गतेन ऊर्ध्वं स्थितेन दक्षिणेन करेण यद्वालितं तदूर्ध्ववृतमित्यर्थः । युक्तं चैतत्, अन्यथा गमनवलनयोर्योगपद्यादनेन गतेन वलितमित्यन्वयस्त्यात् । अत्रोपवीतप्रयोगमाह देवलः—

ग्रामान्निष्क्रम्य सङ्ख्याय षण्णवत्यङ्गुलीषु तत् ।

यावत्त्रिगुणितं सूत्रं प्रक्षाल्याब्लिङ्गकैस्त्रिभिः ॥

देवागारेऽथ वा गोष्ठे नद्यां वाऽन्यत्र वा शुचौ ।

सावित्र्या त्रिवृतं कुर्यान्नवसूत्रं तु तद्भवेत् ॥

विल्वाश्वत्थादियज्ञीयवृक्षस्यान्यतमस्य तु ।

वध्नीयात्तत्सजीवं तु पितृभ्यो नम इत्यथ ॥

ब्रुवन्नावेष्टितव्यं स्यात्पितृणां तृत्पिदं हि तत् ।

त्रिस्ताडयेत्करतलं देवादीनां हि तृप्तिदम् ॥

^१ वलितं वा त्रिकं सूत्रं त्रिवृदूर्ध्ववृतं—वेद्य.

^२ अथ त्रिवें—वेद्य.

सव्ये मृदं गृहीत्वाऽस्मिन् स्थापयेद्भूरिति ब्रुवन् ।
 पत्रं पुष्पं फलं वाऽपि व्याहृतीभिः प्रतिसिपेत् ॥
 अभिमन्त्रयाथ भूरग्निं चेति वृत्तत्रयं^१ त्रिभिः ।
 हरिब्रह्मेश्वरेभ्यश्च प्रणम्यावदधाति^२ तत् ॥

इति । अथ धारणमन्त्रस्तु गृह्यपरिशिष्टेऽभिहितः—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
 आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

इति । साङ्ख्यायनगृह्येऽपि—

‘यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य चोपनह्यामि’

इति । अत्र प्रतितन्तु देवताभेदमाह देवलः—

अङ्कारः प्रथमस्तन्तुर्द्वितीयोऽग्निस्तथैव च ।
 तृतीयो नागदैवत्यश्चतुर्थस्सोमदेवतः ॥
 पञ्चमः पितृदैवत्यष्पष्टश्चैव प्रजापतिः ।
 सप्तमो वायुदैवत्यस्मूर्यश्चाष्टम एव च ।
 नवमस्सर्वदैवत्य इत्येते नवतन्तवः ॥

इति । अत्र ग्रन्थिनियममाह कात्यायनः—

त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिर्गिष्यते ।

तत्र देवलः—

एकेन ग्रन्थिना तन्तुर्द्विगुणास्त्रिगुणोऽथ^३ वा ।

^१ अग्निश्चेति त्रिवृत्त्रयं—वैद्य. ^२ म्याथ ददाति—न. ^३ णोऽपि—वैद्य.

इति । य एतामुपवीतोत्पत्तिं न जानाति तस्य सर्वक्रियानैष्क-
ल्यमाह पितामहः—

य एतं न विजानाति यज्ञसूत्रसमुद्भवम् ।
वेदोक्तं निष्फलं तस्य स्नानदानजपादिकम् ॥
ब्राह्मणो यो न जानाति उपवीतस्य संस्थितिम् ।
मोहात्मा सहते^१ भारं पशुगौरिव सर्वदा ॥

इति । कात्यायनस्तु परिमाणान्तरमाह—

पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम् ।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम् ॥

इति । अत्रातिलम्बात्युच्छ्रितप्रतिषेधान्मध्ये कथंचिदलाभे परि-
माणान्तरमविरुद्धमिति ज्ञायते । अत एव देवलः—

स्तना^२दूर्ध्वमधो नाभेर्न कर्तव्यं कथंचन ।

इति । अधोनाभेरित्यतिलम्बाभेः प्रायम् । उक्तोपवीतालाभेऽपि
स एवाह—

कार्पासक्षौमगोवालशणवलकतृणोद्भवम् ।
सदा सम्भवता कार्यमुपवीतं द्विजानिभिः ॥

इति । क्षुमा अतसी । वल्कं तरुत्वक् । तृणोद्भवं कुशनिर्मितम् ।
तथा च गोबिलः—

‘यज्ञोपवीतं कुक्षते सूत्रं वस्त्रं कुशरज्जुं वा’

^१ वहते—क, ख.

^२ स्थाना—ख.

^३ धार्य—वद्य.

इति । बोधायनोऽपि—

‘कौशं सूत्रं वा त्रिवृच्चज्ञोपवीतम् ।’

इति । सूत्रमपि वत्त्राभावे वेदितव्यम्—

‘अपि वाससा यज्ञोपवीतार्थं कुर्यात्तदभावे त्रिवृता सूत्रेण’

इति ऋष्यशृङ्गस्मरणात् । अनेनोपवीतं नित्यं धार्यमित्युक्तं भवति । अत एव भृगुः—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।

विशिखोऽनुपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

इति । न चानेन सदोपवीतित्वं कर्मकाल एवेति शङ्कनीयम् । यतस्स एवाह—

मन्त्रपूतं स्थितं काये यस्य यज्ञोपवीतकम् ।

नोत्तारयेत्ततः प्राज्ञो यदीच्छेच्छेय आत्मनः ॥

कायस्थमेव तत्कार्यमुत्थाप्यं¹ न कदा चन ।

सकृदुत्तारणात्तस्य प्रायश्चित्ती भवेत् द्विजः ॥

इति । एतच्चोपवीतं वटोरेकमेव । तदाह देवलः—

ब्रह्मचारिण एकं तु स्नानात्प्रभृति तद्वयम् ।

इति । भृगुरपि—

उपवीतं वटोरेकं द्वे तथेतरयोस्स्मृतम् ।

एकमेव यतीनां स्यादिति शास्त्रस्य निर्णयः ॥

इति । इतरयोर्गृहस्थवनस्थयोरित्यर्थः । एतच्च नित्याभिप्रायम् ।
बहुषु कामश्रवणात् । तदाह देवलः—

बहूनि चायुष्कामस्येत्यादि काम्यं प्रचक्षते ।

इति । केशसंसर्गेऽपि स एवाह—

सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम् ।

सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत् ॥

विच्छिन्नं वाऽप्यधोयातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत् ।

इति । मनुस्तु धृतयज्ञोपवीतादिनाशे प्रतिपत्तिनियममाह—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीत्वाऽन्यानि मन्त्रवत्¹ ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां यज्ञोपवीतम्.

अग्निकार्यम्.

अथाग्निकार्यम् । तत्र संवर्तः—

अग्निकार्यं च कुर्वीत मेधावी तदनन्तरम् ।

इति । सन्ध्योपासनानन्तरमित्यर्थः । एतच्च कालद्वयेऽपि
कार्यम् । तदाह याज्ञवल्क्यः—

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्सन्ध्ययोरुभयोरपि ।

इति । सुमन्तुरपि—

ब्रह्मचर्यं ततो भैक्षं सन्ध्ययोरग्निकर्म च ।

इति । केचित्सायमेवाग्निकार्यमिच्छन्ति । तदाहापस्तम्बः—

‘सायमेवाग्निपूजेत्येके’

इति । अग्नीन्धनमग्निपूजा । अत एव लोगाक्षिः—

‘सायमेवाग्निमिन्धीतेत्येके’

इति । एतच्च होमात्मकमेव न समिदाधानमात्रम् । अत एव शङ्खः—

प्रयतः काल उत्थाय स्नातो हुतहुताशनः ।

कुर्वीत प्रयतो भक्त्या गुरुणामभिवादनम् ॥

इति । हुतशब्दप्रयोगाद्धोम एवायमित्यभिप्रायः । देवता चात्र मान्त्रवर्णिकी । मनुरपि—

दूरादाहृत्य समिधस्सन्निदध्याद्विहायसि ।

सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥

इति । विहायसि मण्टपादौ । दूरादपरिगृहीतदेशादित्यर्थः । अत एवापस्तम्बः—

‘यथा कथा च परपरिग्रहमभिमन्यते स्तेनो ह भवति’

इति । वैजावापस्तु समिदाहरणे दिङ्मिममाह—

‘पुराऽस्तमयात्प्रागुदीचीं दिशं गत्वाऽहिंसन्नर-
ण्यात्समिधमाहरेत् । शुष्काः ब्रह्मवर्चसकाम
आर्द्रास्तेजस्काम उभयीरुभयकामः’

इति । पुराऽस्तमयादिति वदन्नस्तमिते निषेधमाह । अत एवा-
हापस्तम्बः—

‘नास्तमिते समिद्धारो गच्छेत्’

इति । समिन्नियमोऽपि वायुपुराणे दर्शितः—

पालाशयस्समिधः कार्याः खादिर्यस्तदलाभतः ।

शमीरौहितकाश्वत्थास्तदभावेऽर्कवेतसौ ॥

इति । कात्यायनस्तु सार्वत्रिकं समित्प्रमाणमाह—

नाङ्गुष्ठादधिका कार्या समित् स्थूलतया कचित् ।

न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥

प्रादेशान्नाधिका न्यूना तथा न स्याद्विशालिका ।

न सपर्णा^१ न निर्वीर्या होमेषु च विजानता ॥

विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्रा ससुषिरा कृशा ।

दीर्घा स्थूला घुणैर्दष्टा कर्मसिद्धिविनाशिका ॥

इति । आपस्तम्बोऽपि सार्वत्रिकं नियमविशेषमाह—

‘नाप्रोक्षितमिन्धनमग्नावादध्यात्’

इति । अग्निकार्याकरणे दृष्टदोषमप्याह हारीतः—

पुरा जग्राह वै मृत्युः हिंसयन्ब्रह्मचारिणम् ।

अग्निस्तं मोक्षयामास तस्मात्परिचरोद्धि तम् ॥

ब्रह्मचारी यदा त्वग्नावादध्यात्समिधो न हि ।

गृह्णीयात्तं तदा मृत्युरादध्यात्समिधस्ततः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामग्निकार्यम्.

^१ समिल्लक्षण—ख.

^२ नासपर्वा—वैद्य.

गुर्वादिस्वरूपनिरूपणम्

इदानीमभिवादनाद्युपयोगित्वेन गुर्वादिस्वरूपनिरूपणं क्रियते । तत्र मनुः—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥

निषेको गर्भाधानम् । अन्नसंभावनं वेदप्रदानस्यापि प्रदर्शनार्थम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।

क्रियाः निषेकाद्याः । एवं च यो निषेकादीन्युपनयनान्तानि कृत्वा वेदं प्रदाय चान्नेन सम्भावयति स गुरुरित्युक्तं भवति । एतच्च गुरुत्वं पितुरेव नान्यस्य । तस्यैव निषेकाद्यधिकारात् । ततश्च पितुरेवोपनयनादावाधिकार इत्युक्तं भवति । अत एव बृहस्पतिः—

एवं दण्डादिभिर्गुक्तं संस्कृत्य तनयं पिता ।

वेदमध्यापयेद्यत्राच्छास्त्रं मन्वादिकं तथा ॥

इति । एवं च—

उपनीय ददद्वेदमाचार्यस्स उदाहृतः ।

इति यदाचार्यस्योपनयनादिकर्तृत्वं तत्पितुरभावे योग्यताविरहे वा द्रष्टव्यम् । सन्निहितयोग्यपितृपरित्यागे कारणाभावात् । योग्यताविरहे च परित्यागोऽस्त्येव । तथा च यमः—

नाध्यापयति नाधीते पतनीयेषु वर्तते ।
इत्येतैर्लक्षणैर्युक्तस्त्यक्तव्यो व्रतिना गुरुः ॥

इति । गुरुरत्रोपनेता । अत एवापस्तम्बः—

तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते
यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम् । तस्मिन्नाभिजनवि-
द्यासमुदेतं समाहितं संस्कर्तारमीप्सेत् ।

इति । यश्चाविद्वानुपनयते सोऽपि तमः प्रविशतीत्यर्थः । एतच्च
लक्षणाभिधानं पितृव्यतिरिक्तानां गुरुत्वमौपचारिकमिति दर्श-
यितुम् । अत एव मनुः श्रुतोपकारिणः पूज्यत्वमात्राभिप्रायेण
गुरुशब्दमाह—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।

तमपीह गुरुं विन्द्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥

इति । अपिशब्दप्रयोगादित्यभिप्रायः । यत्तु देवलेनोक्तम्—

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठो भ्राता चैव महीपतिः ।

मातुलश्चश्वशुरस्त्राता मातामहापितामहौ ॥

वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरुवस्समृताः ।

भाता मातामही गुर्वी पितुर्मातुश्च सोदराः ॥

श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठा धात्री च गुरुवस्त्रियाम् ।

इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं मातृतः पितृतो द्विधा ॥

इति । तदपि पित्रादिवन्मान्यत्वाभिप्रायम् । तथा च व्यासः—

मातामहो मातुलश्च पितृव्यश्च श्वशुरो गुरुः ।
पूर्वजस्नातकश्चात्विक् मान्यास्ते गुरवस्सदा ॥
मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रू^१र्धात्री पितृष्वसा ।
पितामही पितृव्यस्त्री गुरुस्त्री मातृवच्चेत् ॥

इति । मनुरपि—

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद्भक्तिमातिष्ठेन्माता त्वाभ्यो गरीयसी ॥

इति । आचार्यस्यापि लक्षणमाह याज्ञवल्क्यः—

उपनीय ददद्वेदमाचार्यस्स उदाहृतः ।

इति । यो यस्योपनयनमात्रं कृत्वा वेदं प्रयच्छति स तस्याचार्य इत्यर्थः । वेदग्रहणं कल्पसूत्रादेरपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव मनुः—

उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

इति । रहस्यमुपनिषत् । एतच्चोपनयनादिकर्तृत्वं पितुरभावे ज्येष्ठभ्रातुरेव वेदितव्यम्—

पितृवत्पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।

पितृवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठभ्रातरि धर्मतः ॥

इति मनुना तयोः पितृपुत्रधर्मातिदेशात् । यस्तु वेदभा-
गमङ्गानि वा वृत्त्यर्थमुपाध्यायति स उपाध्यायः । तदाह मनुः—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यथ वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायस्स उच्यते ॥

इति । वृत्तिर्जीविका । अत एव शङ्कः—

भृतकाध्यापको यस्तु उपाध्यायस्स उच्यते ।

इति । मूल्येनाध्यपनं भृतकाध्यापनम् । तथा च विष्णुः—

‘यस्त्वेनं मूल्येनाध्यापयेत्तमुपाध्यायम्’

इति । विद्यादिति शेषः । ऋत्विग्लक्षणमपि मनुनैवोक्तम्—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् ।

यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥

इति । एते च पूर्वोक्ताचार्योपाध्यायर्त्विजो यथापूर्वं मान्या वेदि-
तव्याः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

एते मान्या यथापूर्वं येभ्यो माता गरीयसी ।

मान्याः पूज्या इत्यर्थः । गरीयसी गुरुतरा पूज्यतमेति यावत् ।
देवलोऽपि—

गुरूणामपि सर्वेषां पूज्याः पञ्च विशेषतः ।

यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते ॥

ज्येष्ठभ्राता च भर्ता च पञ्चैते गुरवस्समृताः ।

तेषामाद्यास्त्रयश्चेष्टास्तेषां माता सुपूजिता ॥

इति । अत्रोपपत्तिमाह व्यासः—

मासान्दशोदरस्थं या धृत्वा शूलैस्समाकुला ।
वेदनाविविधैर्दुःखैः प्रसूयेत विमूर्च्छिता ॥
प्राणैरपि प्रियान्पुत्रान्मन्यते सुतवत्सला ।
कस्तस्या निष्कृतिं कर्तुं शक्तो वर्षशतैरपि ॥

इति । अत इयं पूज्यतमेत्यभिप्रायः । तस्या निष्कृतिरानृण्यम् ।

अत्र शङ्कः—

‘न पुत्रः पितुर्मुच्येतान्यत्र सौत्रामणीयागाज्जीवन्तृ-
णान्मातुः’

इति । मनुरपि मातैव गरीयसीत्याह—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

इति । एतच्च संस्कारादिकरणरहितोत्पादकमात्रविषयम् । अ-
न्यथा तु पितैव श्रेयान् । तथा च पुराणम्—

द्रौ गुरु पुरुषस्येह पिता माता च धर्मतः ।
धरा गुरुतरा तद्वन्माता गुरुतरा ततः ॥
तयोरपि पिता श्रेयान्वीजप्राधान्यदर्शनात् ।
अभावे बीजिनो माता तदभावे तु पूर्वजः ॥

इति । आचार्योऽपि जनकमात्रापेक्षया गरीयानेव । तदा-
ह मनुः—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।

ब्रह्मद आचार्यः न तूपाध्यायः । यतोऽनन्तरमाह—

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।

यद्ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनारूपं तद्यतः करोतीत्यर्थः । यस्तु बालो वृद्धमध्यापयति सोऽपि गरीयानित्याह विष्णुः—

‘बाले समानवयसि वाऽध्यापके गुरुवद्वर्तेत’

इति । अत्र पुरावृत्तमाह मनुः—

अध्यापयामास पितृन्शिशुराङ्गिरसः कविः ।

पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।

देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वशिश्शुरुक्तवान् ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बाल इत्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम् ॥

न हायनैर्न पालितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानस्स नो महान् ॥

हायनादिभिर्महत्त्वमिति न धर्मं व्यवस्थापितवन्तः । किं तु योऽनूचानः प्रवक्ता स एव महानिति । अत एव चास्मै न द्रुह्यात् । तदाह मनुः—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणाबुधौ ।

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥

आवृणोत्यापूरयति । अवितथं विस्वरादिरहितं कृत्वेत्थर्यः ।
व्यासोऽपि—

उपाध्यायं पितरं मातरं च
ये द्रुह्यन्ति मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मादेभ्यः पापकृन्नास्ति¹ लोके ॥

मनुरपि—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥

इति । यस्तु पित्रोर्नित्यं प्रियमेवाचरति स धर्मजातमवाप्नोती-
त्याह देवलः—

यावत्पिता च माता च द्वावेतौ निर्विकारिणौ ।
तावत्सर्वं परित्यज्य पुत्रस्स्यात्तत्परायणः ॥
माता पिता च सुप्रीतौ स्यातां पुत्रगुणैर्यदि ।
स पुत्रस्सकलं धर्मं पाप्मयात्तेन कर्मणा ॥

विकारो मरणम् । मनुरपि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिश्शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
तयोर्नित्यं प्रियं ब्रूयादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेषु हि त्रिषु तुष्टेषु तपस्सर्वं समाप्यते ॥

¹ नान्यस्तेभ्यः पापकृत्त्वस्ति—क.

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
 न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥
 त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
 त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥
 पिता वै गार्हपत्याग्निः माताऽग्निर्दक्षिणस्मृतः ।
 गुरुग्राहवनीयोऽग्निस्साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥
 इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
 गुरुशुश्रूषया चैव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
 सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
 अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥
 यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
 तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥
 तेषामनुपरोधेन पारत्रयं यद्यदाचरेत् ।
 तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥
 एष धर्मः परस्साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ।

पारत्रयं पारलौकिकम् । देवलोऽपि—

नास्ति मातृसमं दैवं नास्ति पित्रा समो गुरुः ।
 तयोः प्रत्युपकारो हि न कथंचन विद्यते ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां गुर्वादिनिरूपणम्.

अभिवादनम्.

अथाभिवादनम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

ततोऽभिवादयेद्विद्वानसावहमिति ब्रुवन् ।

ततोऽग्निकार्यादनन्तरमित्यर्थः । असा¹वित्यस्य स्थाने स्वं नाम² कीर्तयेत् । तथा च मनुः—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्³ ।

असौ नामाऽहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥

अभिवादात् ‘अभिवादये’ इत्यस्य शब्दस्योपरि देवदत्तनामाऽहमस्मीति स्वनाम ब्रूयात् । अस्योपरि भोऽशब्दोऽपि कीर्तनीयः । तदाह स एव—

भोऽशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।

इति । एवं सत्येवं प्रयोगोभवति—‘अभिवादये देवदत्तनामाऽहमस्मि भो’ इति । अत्रापस्तम्बः—

‘दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादी-
यितोरस्समं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैश्शूद्रः
प्राञ्जलिः’

इति । एतच्च हस्तद्वयेन कार्यमन्यथा दोषश्रवणात् । तथा च विष्णुः—

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्तेतसा धर्ममाचरेत् ।

सर्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादानात् ॥

एतदपि विद्वद्विषयम् । यदाह स एव—

¹ अत्रासावि—क.

² स्वनाम—क.

³ वादयेत् — वैद्य.

शिष्याणामाशिषं दद्यात् पद्माकारौ गुरोरथ¹
अजाकर्णेन विदुषां मूर्खाणामेकपाणिना ॥

पद्माकारौ व्यत्यस्तावित्यर्थः । अत्रिरपि—

दक्षिणं पाणिमुद्धृत्य प्राकारमभिवादयेत् ।
श्रोत्रिये त्वञ्जलिः कार्यः पादोपग्रहणं गुरोः ॥

इति । ब्राह्मणसमवाये त्वभिवादनक्रममाह मनुः—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥

इति । एतच्च प्रत्युत्थाय कार्यम् ।

‘सर्वत्र प्रत्युत्थायाभिवादनम्’

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । मनुरपि—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रमन्ति यूनः स्थविर आगते ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥

एतच्छीलस्यायुरादयोऽपि विवर्धन्त इति स एवाह—

अभिवादनशीलस्य नित्यवृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

¹ (a) पद्माकारकरो गुरुः—ग.

(b) पादोपग्रहणं गुरोः । स्पृष्ट्वा कर्णौ तु विदुषां—वैद्य.

(c) पादसङ्ग्रहणं गुरोः । स्पृष्ट्वा कर्णौ तु विदूषां—स्मृतिर.

इति । अभिवादितेन यद्वदितव्यं तदपि मनुरेवाह—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः पुतः ॥

अकार इत्येतन्नाम्नोऽन्तस्वरोपलक्षणार्थं, नाम्नस्सर्वत्राकारान्त-
त्वनियमाभावात् । अतश्चाभिवादकनाम्नोऽन्ते योऽयमकराद्य-
स्स्वरः पूर्वाक्षरस्स एव पुतः कार्यः । न पुनरपूर्वोऽकारो
नाम्नोऽन्ते विधीयते । पूर्वाक्षरत्वं च पूर्वमक्षरं यस्य स पूर्वा-
क्षर इति । वसिष्ठोऽपि—

‘आमन्त्रिते स्वरोऽन्त्योऽस्य पुतः’

इति । आमन्त्रिते कर्तव्येऽभिवादकनाम्नोऽन्ते यस्स्वरस्स-
पुतो भवति त्रिमात्रो भवतीत्यर्थः । एवं चैवं प्रयोगो भवति—
‘आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्ता’ इति । ये तु नामस-
म्बन्धं प्रत्यभिवादनं न जानते तानभिवादयन् ‘अहं भो’ इति
ब्रूयात् । सर्वास्त्रियश्च । तथा च मनुः—

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।

तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियस्सर्वास्तथैव च ॥

इति । यस्तु प्रत्यभिवादनस्वरूपमेव न जानाति नासावभिवाद्य
इत्याह स एव—

यो नवेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।

नाभिवाद्यस्स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥

इति । यः पुनर्जानन्नपि प्रत्यभिवादनादि न करोति तस्य दोषो भविष्यत्पुराणे दर्शितः—

अभिवादे कृते यस्तु न करोत्याभिवादनम् ।
आशिषं वा न कुरुते¹ स याति नरकं ध्रुवम् ॥
अभिवादे कृते यस्तु तं विप्रं नाभिवादयेत् ।
श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकाकोपसेवितः ॥

इति । यमोऽपि—

अभिवादे तु यः पूर्वमाशिषं न प्रयच्छति ।
यद्दुष्कृतं भवेत्तस्य तस्माद्भागं प्रपद्यते ॥
तस्मात्पूर्वाभिभाषी स्याच्चण्डलस्यापि धर्मवित् ।
सुरां पिबेति वक्तव्यमेवं धर्मो न हीयते ॥

इति । आशिषमपि स एवाह—

स्वस्तीति ब्राह्मणो ब्रूयादायुष्मानिति भूमिपः ।
वर्धतामिति वैश्यस्तु शूद्रस्तु स्वागतं वदेत् ॥

एतच्च सर्ववर्णसाधारणम् । तथा च भविष्यत्पुराणे—

ब्राह्मणस्सर्ववर्णानां स्वस्ति कुर्यादिति स्थितिः ।

स्वस्तिशब्दार्थमपि यम एवाह—

यत्सुखं त्रिषु लोकेषु व्याधिव्यसनवर्जितम् ।
यस्मिन्सर्वे स्थिताः कामास्सा स्वस्तीत्यभिसंज्ञिता² ॥

¹ कुरुष्रेष्ठ—२वैद्य.

² तत्स्वस्तीत्यभिसंज्ञितम्—वैद्य.

एतच्चाभिवादनमाधिकवयसामेव कार्यं,

‘ज्यायांसमभिवादयेत्’

इति मनुस्मरणात् । अत एव चर्त्विगादीनां मान्यत्वेऽपि कनी-
यसामनभिवाद्यत्वमाह गौतमः—

‘ऋत्विक्छथुरापितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्यु-
त्थानमनभिवाद्याः’

इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—

‘ऋत्विक्छथुरापितृव्यमातुलानवरवयसः प्रत्युत्था-
याभिवदेत्’

इति । नदप्यभिवदेदाभिमुख्येन वदेदित्याभिभाषणमात्राभिप्रा-
यम् । अत एव बोधायनः—

‘ऋत्विक्छथुरापितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्यु-
त्थायाभिभाषणम्’

इति । अभिभाषणेऽपि नियममाह मनुः—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।

वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘कुशलमवरवयसं वयस्यं वा पृच्छेत्’

इति । वयस्यस्समानवयाः । एतदपि श्रोत्रियविषयम् । यदाह
स एव—

‘नासम्भाष्य श्रोत्रियं व्यतिक्रमेदरण्ये च स्त्रियम्’

इति । स्त्रीसम्भाषणेऽपि नियममाह मनुः—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।

तां ब्रूयाद्भवतीत्येव सुभगे भगिनीति वा ॥

एवं च कनीयसि वयस्ये वाऽभिभाषणमात्रं, ज्यायस्यभिवादन-
मिति मन्तव्यम् । तत्र ज्यायस्त्वं कियता कालेन भवतीत्यपेक्षिते
मनुराह—

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।

त्रयब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥

समानपुरानिवासिनां दशभिर्वषैः पूर्वस्सखा भवति । ततोऽधिको
ज्यायान् । कलाभृतां गीतनृत्तादिविद्यावतां पञ्चाब्दपूर्वस्सखा ।
श्रोत्रियाणां वेदाध्यायिनां त्रयब्दपूर्वस्सखा भवति । ततोऽधि-
को ज्यायान् । स्वयोनिषु भ्रात्रादिषु स्वल्पेनापि वयसा
पूर्वस्सखा भवति । ततोऽधिकोऽप्यभिवाद्य इत्यर्थः । एतच्च
ब्राह्मणविषयम् । यदाह मनुः—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।

पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥

अतो ब्राह्मण एवाभिवाद्य इत्यभिप्रायः । अत एव शातातपः—

अभिवाद्यो नमस्कार्यश्शिरसा वन्द्य एव च ।

ब्राह्मणः क्षत्रियाद्यैस्तु श्रीकामैस्सादरं सदा ॥

नाभिवाद्यास्तु विप्रेण क्षत्रियाद्याः कदा चन ।

ज्ञानकर्मगुणोपेता यद्यप्येते बहुश्रुताः ॥

इति । अत एव क्षत्रियाद्यभिवादाने प्रायश्चित्तमप्याह स एव—

क्षत्रं वैश्यं वाऽभिवाद्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ।

ब्राह्मणानां दशाष्टौ च अभिवाद्य विशुध्यति ॥

अभिवाद्य द्विजशूद्रं सचेलं स्नानमाचरेत् ।

ब्राह्मणानां शतं सम्यगभिवाद्य विशुध्यति ॥

अर्चयेत्पुण्डरीकाक्षं देवं वाऽपि त्रिलोचनम् ।

ब्राह्मणं वा महाभागमभिवाद्य विशुध्यति ॥

ब्राह्मणेष्वपि कचित्कचिदभिवादस्याप¹वादमाह विष्णुः—

सभासु चैव सर्वासु यज्ञे राजगृहेषु च ।

नमस्कारं प्रकुर्वीत ब्राह्मणान्नाभिवादयेत् ॥

गुर्वादिविषये त्वभिवादन एव विशेषमाह गौतमः—

‘गुरोः पादोपसङ्ग्रहणं प्रातः’

इति । गुरुरत्राचार्यः । यतस्स एवाह—

‘मातृपितृतद्रधूनां पूर्वजानां विद्यागुरूणां तद्गुरूणां च’

इति । पूर्वजा ज्येष्ठभ्रातरः । विद्यागुरव उपाध्यायाः । तद्गुरवो

मात्रादिगुरवः । एतेषामपि पादोपसङ्ग्रहणं कार्यमित्यर्थः ।
पादोपसङ्ग्रहणं पादस्पर्शनम् । तत्प्रकारमाह मनुः—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यस्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ॥

सव्यदक्षिणाभ्यां पाणिभ्यां गुरोस्सव्यदक्षिणपादौ स्पृशेदित्य-
र्थः । अत्र विशेषमाह पैठीनसिः—

‘उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्येन
सव्यं पादावभिवादयेत्’

इति । बोधायनोऽपि—

‘श्रोत्रे संस्पृश्य’

इति । उपसङ्ग्रहणमिति शेषः । एतच्च गुरुपत्नीनामपि कार्यम् ।
तदाह मनुः—

गुरुवत्प्रतिपूज्यास्स्युस्सवर्णगुरुयोषितः ।

असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥

एवं भ्रातृभार्या अप्युपसङ्ग्राह्याः । तदाह स एव—

भ्रातृभार्योपसङ्ग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।

विप्रोष्य^१ तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धयोषितः ॥

इति । एवमविशेषेणोपसङ्ग्रहणे प्राप्ते कचिदपवादमाह स एव—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥

अत्र हेतुमाह स एव—

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥

विद्वांसमविद्वांसं वा स्त्रियः कानादिवशगमुत्पथं नेतुं यतोऽलं
समर्था इत्यर्थः । अतः—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।

विधिवद्रन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥

विप्रस्तु¹ पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।

गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥

अत्राभिवादनविधानमाहापस्तम्बः—

‘न सोपानद्वेष्टितशिरा अवहितपाणिर्वाऽभिवादयीत’

इति । अवहितपाणिरप्रसारितपाणिः । प्रचेतसाऽप्युक्तं—

‘सोपानत्कस्त्वाचमनशयनयानारोहणाभिवादनन-
मस्कारादीन्वर्जयेत्’

इति । शङ्खोऽपि—

‘नोदकुम्भहस्तोऽभिवादयेन्न भैक्षं चरन्नपुष्पाक्ष¹-

हस्तो नाशुचिर्न देवपितृकार्यं कुर्वन्न शयानः’

इति । आपस्तम्बोऽपि—

¹ विप्रस्तु ;— ख. विप्रोष्य — वैद्य.

² पुष्पाज्य — वैद्य.

‘अप्रयतेन नाभिवाद्यम् । तथाऽप्रयताय । अप्रय-
तश्च न प्रत्यभिवदेत् । प्रतिवयसः स्त्रियः’

इति । बोधायनोऽपि—

‘समिद्धार्युदकुम्भपुष्पान्नहस्तो नाभिवादयेत्’

इति । एवमभिवाद्येऽपि द्रष्टव्यम् । तथा चापस्तम्बः—

समित्पुष्पकुशाज्याम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकम्¹ ।

जपं होमं च कुर्वाणं² नाभिवाद्येत वै द्विजम्³ ॥

कात्यायनोऽपि—

सुक्त्रपाणिकमनाज्ञात⁴ मशक्तं रिपुमातुरम् ।

योगिनं च तपस्सक्तं कनिष्ठं नाभिवादयेत् ॥

शातातपोऽपि—

उदक्यां स्नूतिकां नारीं भर्तृघ्नीं गर्भघातिनीम् ।

अभिवाद्य द्विजो मोहादहोरात्रेण शुध्यति ॥

पाषण्डं पतितं ब्राह्म्यं महापातकिनं शठम् ।

नास्तिकं च कृतघ्नं च नाभिवन्देत्कथं चन ॥

धावन्तं च प्रमत्तं च मूत्रोत्सर्जनतत्परम्⁵ ।

भुञ्जानमाचमानार्हं नाभिवादेत् द्विजोत्तमः ॥

वमन्तं जृम्भमाणं च कुर्वन्तं दन्तधावनम् ।

अभ्यक्तशिरसं चैव स्नास्यन्तं नाभिवादयेत् ॥

¹ पाणितः. ² कुर्वाणः. ³ नाभिवाद्यो द्विजो भवेत्—ख.

⁴ कुशपाणिमविज्ञात—ख. ⁵ मूत्रोच्चारकृतं तथा—वैद्यः.

तथा च जमदग्निः—

देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम् ।

नमस्कारं न कुर्याच्चेदहोरात्रेण शुद्धयति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायामभिवादनम्.

मान्यत्वनिमित्तानि.

अथ मान्यत्वनिमित्तानि । तत्र याज्ञवल्क्यः—

विद्याकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम् ।

विद्या श्रुतिस्मृती । कर्म विहितक्रिया । वय आत्मनोऽतिरिक्तम् ।

बन्धुस्स्वजनसम्पत्तिः । वित्तं धनम् । एतैर्युक्ताः क्रमेण मान्या

वेदितव्याः । पूर्वं पूर्वं गरीय इत्यर्थः । तथा च मनुः—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

मान्यस्थानानि मान्यत्वनिमित्तानीत्यर्थः । एतेभ्यो वित्तादिभ्यः

श्रुतं गरीयः तस्य दृष्टादृष्टमूलत्वात् । तदाह गौतमः—

‘श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयस्तन्मूलत्वाद्धर्मस्य’

इति । एतैर्वित्तादिभिर्युक्तो हीनजातिरप्युत्कृष्टजातिवन्मान्य

इत्याह मनुः—

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।

यत्र स्युस्तोऽत्र मानार्हश्शूद्रोपि दशमीं गतः ॥

वर्षशतस्यान्तिमो भागो दशमी । नवतिहायनातीत इत्यर्थः ।

एतच्च वार्धकं विच्चादियोगोपलक्षणार्थम् । अत एव याज्ञ-
वल्क्यः—

एतैः प्रभूतैश्शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति ।

इति । विच्चादिराहित्येऽपि केषांचित्पथो दानेन मानमाह मनुः—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणस्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥

चक्री शाकटिकः । स्नातकः कृतसमावर्तनः । वरो विवाहोद्यतः ।

एतेषां पथि मिलितानां पन्था देयः मार्गादपसर्तव्यमित्यर्थः ।

यदा तु तेषामेव मेलनं मार्गे पथो दानेन स्नातकराजानौ मान्यौ ।

तदाह स एव—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।

तयोश्च मेलने स्नातक एव राज्ञा माननीय इत्याह स एव—

राजस्नातकयोरेवं स्नातको नृपमानभाक् ।

याज्ञवल्क्योपि—

वृद्धभारिनृपस्नातस्त्रीरोगिवरचक्रिणाम् ।

पन्था देयो नृपस्तेषां मान्यस्स्नातस्तु भूपतेः ॥

वृद्धग्रहणं बालादेरपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव पन्था देय इत्यनु-

वृत्तौ शङ्कः—

‘बालवृद्धमृतोपहतदेहभाराक्रान्तस्त्रीस्नातकप्रव्रजि-

तेभ्यः’

इति । स्त्री चात्र गर्भिणी वेदितव्या । तथा च बोधायनः—

वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ।

पन्था देयो ब्राह्मणाय गवे राज्ञे ह्यचक्षुषे ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां मान्यत्वानिर्मित्तानि.

भिक्षाऽटनम्.

अथ भिक्षाऽटनम् । तत्र मनुः—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।

प्रदक्षिणं परीत्यार्घिं चरैर्द्वैक्षं यथाविधि ॥

यथाशास्त्रमित्यर्थः । तत्कथमित्यपेक्षिते गौतमः—

‘आदिमध्यान्तेषु भवच्छब्दः प्रयोज्यो वर्णानुपूर्व्येण’

इति । भिक्षाप्रार्थनावाक्ये वर्णक्रमेणादिमध्यावसानेषु भवच्छब्दः

प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । तथा च मनुः—

भवत्पूर्वं चरेर्द्वैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।

भवन्मध्यं तु राजन्यः वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥

अत्रैवं प्रयोगः—भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणः; भिक्षां भवति देहीति क्षत्रियः; भिक्षां देहि भवतीति वैश्यः । अत्र याज्ञ-
वल्क्यः—

ब्राह्मणेषु चरेर्द्वैक्षमनिन्द्येष्व्वात्मवृत्तये ।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । तत्प्राप्तं¹ चरोदित्यर्थः । तच्च ब्राह्मणवि-
षयम् । तदाह व्यासः—

¹ तत्प्राप्त्यर्थः ?

ब्राह्मणक्षत्रियविशश्चरेयुर्भैक्षमन्वहम् ।

सजातीयगृहेष्वेव सार्ववर्णिकमेव वा ॥

अत्र विशेषमाह मनुः—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।

ब्रह्मचार्याहरेर्द्वैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥

उक्तेष्वपि केषुचिदपवादमाह स एव—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।

गुरोः कुले गुरुगृह इत्यर्थः । यत्तु तेनैवोक्तम्—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।

भिक्षेत भिक्षां प्रथमां या चैनं नावमानयेत् ॥

इति, तदुपनयनाङ्गभिक्षाविषयमिति.

‘गुरोः कुले न भिक्षेत’

इत्यनेनाविरुद्धम् । अन्यत्र भिक्षाऽलाभे गुरोः कुले¹ भिक्षाऽटनं
अविरुद्धमित्याह गौतमः—

‘आचार्यज्ञातिगुरुस्वेष्वलाभेऽन्यत्र’

स्वेषु स्वकीयेषु बन्धुष्वित्यर्थः । अत्रापि पूर्वं पूर्वं परिसजेद्यद्युत्त-
रोत्तरगृहेषु भिक्षा लभ्येत । तदपि तेनैवोक्तम्—

‘तेषां पूर्वं पूर्वं परिहरेत्’

इति । व्यासस्तु त्रैवर्णिकं भिक्षाचरणमाह—

¹ गुर्वादिगृहेष्वपि—क ख.

ब्राह्मणक्षत्रियविश्वरेयुर्भैक्षमन्वहम् ।

सजातीयगृहेष्वेव सार्ववर्णिकमेव वा ॥

सर्वशब्दस्य प्रकृतवर्णत्रयपरत्वादित्यभिप्रायः । एतत्पूर्वोक्त-
सजातीयालाभविषयम् । तथा च भविष्यत्पुराणम्—

सर्वं वा विचरेद्भ्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।

अन्त्यवर्ज्यं महाबाहो इत्याह भगवान्विभुः ॥

अन्त्यश्शूद्रः । यत्तु मनुनोक्तम्—

सर्वं वा विचरेद्भ्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।

नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांश्च वर्जयेत् ॥

इति, तदपि पुराणेन समानार्थं न पुनश्शूद्रादपि प्राप्त्यर्थम्.

‘वेदयज्ञैरहीनानानां’

इति तेनैवोक्तत्वात् । यदपि भविष्यत्पुराणे—

चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षमलाभे कुरुनन्दन ।

इति, तदप्यापदि पूर्वपूर्वालाभे वेदितव्यम् । अत एव विष्णुः—

क्षत्रवैश्यगृहेष्वेव क्रियावर्तिषु साधुषु ।

चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षमापत्काल उपस्थिते ॥

इति । एतच्च सायं प्रातः कार्यम् ।

‘सायं प्रातरमत्रेण भिक्षाचर्यं चरेत्’

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । अमत्रं शरावादि । अत एवैकान्नाशित्व-
निषेधमाह मनुः—

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्भूती ।

एतदनापद्विषयम् । तदाह याज्ञवल्क्यः—

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।

इति । भैक्षाशिनः फलमाह मनुः—

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ।

अत्रिरपि—

शाकभक्षाः पयोभक्षाः ये चान्ये यावकाशिनः ।

सर्वे ते भैक्षभक्षस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

तप्तकाञ्चनवर्णेन गवां मूत्रेण यावकम् ।

पिवेद्वादश वर्षाणि न तद्भैक्षसमं भवेत् ॥

यावको यवकृतो यवागूः । न चात्र फलश्रवणादनियतं भिक्षा-
चरणमिति वाच्यं, अकरणे मनुना प्रायश्चित्तविधानात्—

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।

अनातुरस्सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥

इति । आपस्तम्बस्तु भिक्षमाणं ब्रह्मचारिणं न प्रत्याचक्षेतेत्याह—

‘स्त्रीणां प्रत्याचक्षाणानां समाहितो ब्रह्मचारीष्टं

दत्तं हुतं प्रजां पशून्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं वृद्धे । तस्मा-

दु ह वै ब्रह्मचारिसङ्घं चरन्तं न प्रत्याचक्षीत’

इति । एतच्च व्रताध्ययनादियोगिब्रह्मचारिविषयम् । अत

एव मनुः—

भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ।

इति । विधिवदित्यनेन तद्विहीनस्य निषेध¹माह । अत एव वसिष्ठः—

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः ॥

इति । भिक्षादानं प्रकृत्याह मनुः—

हस्ते दत्ता तु या भिक्षा लवणं व्यञ्जनानि च ।

भुक्त्वा ह्यशुचितां याति दाता स्वर्गं न गच्छति ॥

इति । एतच्च भैक्षं यावदर्थमेवाहर्तव्यमन्यथा दोषश्रवणात् ।

तदाह स एव—

आहारमात्रादधिकं न कचिद्भैक्षमाहरेत् ।

युज्यते स्तेयदोषेण कामतोऽधिकमाहरन् ॥

माधूकरीं य आदाय ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।

स याति नरकं घोरं भोक्ता भुङ्क्ते च किल्बिषम् ॥

तस्मान्नोपहरेद्भैक्षमतिरिक्तं कदा चन ।

माधूकरी भिक्षा । कामत इति वदन् अकामतोऽधिकाहरणे न दोष इत्याह । अत एवाधिकस्य प्रतिपात्तिनियममाहापस्तम्बः—

‘न चोच्छिष्टं कुर्यादशक्तौ भूमौ निखनेदप्सु वा
प्रवेशयेदाचार्याय वा पर्यवदध्यादन्तर्धिने वा
शूद्राय’

इति । अन्तर्धिने आचार्यदासायेत्यर्थः । न चात्रोच्छिष्टशब्देना-
शुचिद्रव्याभिधानमाशङ्कनीयम्—

‘नोच्छिष्टं कस्य चिदद्यात्’

इति मनुना तस्य दाननिषेधात् । एवमाहृत्य तद्वैशं गुरवे निवे-
द्याश्रीयात् । तथा च मनुः—

समाहृत्य तु तद्वैशं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरवेऽश्रीयादाचम्य प्राप्नुवत्युचिः ॥

इति । गुर्वसन्निधाने तु तद्गार्यादिभ्यो निवेदयेत् । तदाह गौतमः—

‘असन्निधौ तु तद्गार्यापुत्रसब्रह्मचारिसद्भ्यः’

इति । सब्रह्मचारी सहाध्यायी सन्तःश्रोत्रियाः । तथा चाप-
स्तम्बः—

‘विप्रवासे गुरोराचार्यकुलाय तैर्विप्रवासेऽन्येभ्योऽ-

पि श्रोत्रियेभ्यः’

इति । ततो गुर्वाद्यनुज्ञया भुञ्जीत । तथा च हारीतः—

‘भैक्षमवोक्षितं’ पर्याग्निकृतमादित्यदर्शितमनुज्ञात् -
ममृतसम्मितं प्राहुस्तदश्वन्ब्रह्मचारी ब्रह्मसिद्धि-
मवाप्नोति’

इति । याज्ञवल्क्योऽपि—

कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया ।

आपोशनक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ॥

आपोशनक्रिया अमृतोपस्तरणमसीत्येवमादिका । तां पूर्वं कृत्वा भुञ्जीत । सत्कृत्य पूजयित्वेत्यर्थः । तथा च मनुः—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ॥

अपूजितं तु यद्भुक्तमुभयं तु हिनस्ति तत् ।

अकुत्सयन्ननिन्दयन्नित्यर्थः । गौतमोऽपि—

‘सायं प्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन्भुञ्जीत’

इति । सायं प्रातरिति वदन् मध्ये भोजननिषेधमाह मनुः—

सायं प्रातर्द्रिजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।

नान्तरा भोजनं कुर्यादाग्निहोत्रसमो विधिः ॥

अग्निहोत्रसम इत्यनेन कालद्वयेऽपि भोजनमावश्यकमित्याह ।

तथा च श्रुतिः—

‘तस्मात्सायं प्रातराशयेव स्यात्’

इति । अत्र वसिष्ठः—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या वानप्रस्थस्य षोडश ।

द्वात्रिंशतं गृहस्थस्य ह्यमितं^१ ब्रह्मचारिणः ॥

इति । आपस्तम्बोऽपि—

आहिताग्निरनङ्गांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः ।

अश्रन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्रताम् ॥

इति । न चात्रामितामित्यनेनात्यशनमाशङ्कनीयम् । यत आह
पैठीनसिः—

कालेऽन्नाद्यं लघुक्षिप्रमल्पमद्याद्रसोत्तरम् ।

मनुरपि—

न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क चिद्भजेत् ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ॥

अपुण्यं लोकविद्रिष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।

तथा भोक्तुर्दिङ्मियममाह स एव—

आयुष्यं प्राञ्जुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यञ्जुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदञ्जुखः ॥

आयुषे हितमायुष्यम् । तत्प्राञ्जुखो भुङ्क्ते भुञ्जीतेत्यर्थः ।

एवं चायुष्कामः प्राञ्जुखो भुञ्जीतेत्युक्तं भवति । एवं यशसे

हितं यशस्यम् । तद्दक्षिणामुखो भुञ्जीत । श्रियमिच्छन्प्रत्यञ्जुखः ।

ऋतं सत्यम् । तदिच्छन्नुदञ्जुख इति । हारीतोऽपि—

‘प्राञ्जुख आयुष्कामोऽश्रीयाद्यशोऽर्थो दक्षिणामु-

खश्रीकामः प्रत्यञ्जुखः’

इति । यत्तु मनोक्तं—

यद्रेष्ठितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।

सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि गच्छति ॥

इति, तच्छ्राद्धविषयम् । तस्य तत्प्रकरणे पाठात् । अत्र पात्रनियममाह हारीतः—

‘लोहमये¹ मृन्मये वा पात्रे भुञ्जीत’

तच्च भुक्त्वा स्वयं प्रक्षालयेत् । तदाहापस्तम्बः—

‘भुक्त्वा स्वयममत्रं प्रक्षालयीत’

इति । ‘भैक्षेण वर्तयेन्नित्यम्’ इत्युक्तम् । तस्य कचिदपवादमाह याज्ञवल्क्यः—

ब्राह्मणः काममश्रीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ।

अपीडयन्मधुमांसादि वर्जयन्नित्यर्थः । तस्य ब्रह्मचारिणः प्रतिषिद्धत्वात् । अत एव मनुः—

प्रतिषिद्धं न भोक्तव्यं मधुमांसादि निवृत्तः ।

इति । मधुनः पुनरकामेनोपपन्नस्य नैव दोषोऽस्तीत्याह वसिष्ठः—

‘अकामोपपन्नं मधु वाजसनेयके न दुष्यति’

इति । यत्तु विष्णुनोक्तं—

‘श्राद्धकृतलवणशुक्तपर्युषितवर्जनम्’

इति, तदनभ्यर्थिताभिप्रायम् । अत एव मनुः—

काममभ्यर्थितोऽश्रीयाद्ब्रतमस्य न लुप्यते ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां भिक्षाटनम्.

उपनीतधर्माः

अथोपनीतधर्माः । तत्र संवर्तः—

सन्ध्यां प्रातस्सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि ।
 सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्धास्तमितभास्कराम् ॥
 तिष्ठन्पूर्वां जपं कुर्याद्ब्रह्मचरी समाहितः ।
 आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां जपं कुर्यादतन्द्रितः ॥
 अग्निकार्यं च कुर्वीत मेधावी तदनन्तरम् ।
 ततोऽधीयीत वेदं तु वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥
 सायं प्रातश्च भिक्षेत ब्रह्मचारी समाहितः ।
 निवेद्य गुरवेऽश्रीयात्प्राङ्मुखो वाग्यतश्शुचिः ॥

मनुरपि—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्दिवर्षिपितृतर्पणम् ।
 देवताऽभ्यर्चनं कुर्यात्सन्ध्योपासनमेव^१ च ॥

इति । अत्र दक्षः—

प्रातर्मध्याह्नयोस्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः ।
 यतेस्त्रिषवणं प्रोक्तं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः ॥

इति । अत्र विशेषमाह विष्णुः—

‘दण्डवन्मज्जनम्’

इति । दण्डवादित्यनेनाङ्गनैर्मल्यं न कार्यमित्याह । अत एवा-
 पस्तम्बः—

^१ चैव समिदाधानमेव च—इति पाठान्तरम्.

‘नाप्सु श्लाघमानस्स्नायात्’

इति । अत्र ये त्वसाधारणधर्मा अग्नीन्धनादयस्ते यावत्समावर्तनं तावदेव कार्या इत्याह मनुः—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यमधश्शयां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्तनं कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥

एतच्चान्येषामप्येवंजातीयानां¹मुपलक्षणार्थम् । अत एव पुराणं—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च नित्यशः ।

कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत् ॥

यमोऽपि—

दण्डं कमण्डलुं वेदं मौर्ज्जिं च रशनां तथा ।

धारयेद्ब्रह्मचर्यं च भिक्षान्नाशी गुरौ वसन् ॥

वेदो दर्भमुष्टिः । गुरौ गुरुगृह इत्यर्थः । अत्र वसतो ये धर्मास्ता-
नाह व्यासः—

जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि ।

यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः ॥

कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत्तु पार्श्वतः ।

किङ्करत्सर्वकार्येषु सर्वकर्मसु कोविदः ॥

नाभुक्तवति नाश्रीयादपीतवति नो पिबेत् ।

न तिष्ठति तथाऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत्तथा ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः ।

आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत् ॥

हारीतोऽपि—

‘अथोदकुम्भकुशपृष्पसमिन्मूलाहरणसम्मार्जनो-
पलेपाङ्गशुश्रूषाप्रभृतिभिर्गच्छन्तं तिष्ठन्तं शयान-
मासीनं भक्त्याऽनुवर्तेत । नास्य निर्माल्यशयना-
सनच्छायापादुके वा कामयेत्’

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘आचार्याधीनस्स्यादन्यत्र पतनीयेभ्यः’

इति । बोधायनोऽपि—

‘सर्वत्राप्रतिहतगुरुवाक्योऽन्यत्र पातकात्’

इति । यमोऽपि—

गुर्वधीनोऽस्वतन्त्रस्स्यात्पूर्वोत्थायी गुरोर्गृहे ।

सदा जघन्यसंवेशी जितशिश्रो जितोदरः ॥

जितनिद्रो जितालस्यो जितक्रोधो जितात्मवान् ।

शुश्रूषुरनहंवादी गुरुदेवार्चने रतः ॥

गुर्वर्चनं गुरुपूजा । तस्याः फलमाह शङ्खः—

न स्नानेन न होमेन नैवाग्निपरिचर्यया ।

ब्रह्मचारी दिवं याति स याति गुरुपूजनात् ॥

मनुरपि नियमान्तराण्याह—

नीचशय्यासनं चास्य नित्यं स्याद्गुरुसन्निधौ ।

गुरोश्च चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥

एतच्च गवादिव्यतिरिक्तविषयं, तत्र सशसनविधानात् । तदाह स एव—

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च ।

आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥

विष्णुरपि—

‘नास्यैकासनो भवेद्वते शिलाफलकयानेभ्यः’

इति । तथा न गुरोः परीवादाद्याकर्णनीयम् । तथा च मनुः—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते ।

कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥

इति । सद्विषय्यापनं परीवादः । असद्विषयविधानं निन्दा । न

च स्वेनापि परीवादादि कार्यम् । यदाह स एव—

परीवादात्स्वरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

परिभोक्ता क्रिमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥

अननुज्ञातगुरुधनोपजीवी परिभोक्ता । हारीतोऽपि—

अमृतस्य प्रदातारं गुरुं यस्त्ववमन्यते ।

तच्चैनं दहति ब्रह्म तिर्यग्योनौ च जायते ॥

ऋचं वा यदि वा पादमर्धं वा^१ यदि वाऽक्षरम् ।

सकारप्रथस्य गृहीयान्नियतं तस्य गौरवम् ॥

^१ यदि वार्धं वा पादं वा—क. ख.

तथा च गुर्वादेर्नामापि न कीर्तनीयम् । तथा च स्मृतिः—

आचार्यं चैव तत्पुत्रं तद्भार्यां दीक्षितं गुरुम् ।

पितरं च पितृव्यांश्च मातरं मातुलं तथा ॥

हितैषिणं च विद्वांसं श्वशुरं यतिमेव च ।

न ब्रूयान्नामतो विद्वान्मातुश्च भगिनीं तथा ॥

इति । यत्र पुनर्गुर्वादिनामग्रहणमावश्यकं तत्रोपाध्यायादिशब्देन स ब्रूयात् । तथा च गौतमः—

‘नामगोत्रे गुरोस्समानतो निर्दिशेत्’

इति । समानतो मानेन सहेत्यर्थः । अत एव मनुः—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥

तथा गुरुभार्यादेरापि शुश्रूषा कार्येत्याह विश्वामित्रः—

तद्भार्यापुत्रयोश्चैव वृद्धानां धर्मशालिनाम् ।

शुश्रूषा सर्वथा कार्या प्रणामो भक्तिरेव च ॥

इति । नारदोऽपि—

आ विद्याग्रहणाच्छिष्यश्शुश्रूषाप्रयतो गुरुम् ।

तद्वृत्तिर्गुरुदारेषु गुरुपुत्रे तथैव च ॥

इति । सुमन्तुरपि ब्रह्मचारिनियममाह—

ब्रह्मचर्यं तपो भैक्षं सन्ध्ययोरग्निकर्म च ।

स्वाध्यायो गुरुवृत्तिश्च चर्येयं ब्रह्मचारिणः ॥

इति । तपश्शब्देनात्र ब्रह्मचारिनियमा उच्यन्ते । तथा चापस्तम्बः—

‘नियमेषु तपश्शब्दः । तदतिक्रमे विद्याकर्म निस्स्रवति’
इति । अतो नियमानुष्ठानमावश्यकमित्यभिप्रायः । अत एव मनुः—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
संनियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥

ते च याज्ञवल्क्येनोक्ताः—

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तं स्त्रीप्राणिर्हिसनम् ।
भास्करालोकनाश्लिलपरीवादादि वर्जयेत् ॥

मधु क्षौद्रं । मांसं छागादेरपि वर्ज्यम् । एतच्च व्याधिराहित्ये वेदितव्यं, अन्यथा तु वैद्योपदिष्टं मधुमांसदिकं गुरोरुच्छिष्टं कृत्वा प्राश्नीयात् । तथा च वसिष्ठः—

‘स चेद्याधीयीत कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं
सर्वं प्राश्नीयात्’

इति । व्याधीयीत व्याधिमत्तामनुभवतीत्यर्थः । अञ्जनं तैलादिना गात्रस्य, कज्जलादिना चाक्ष्णोः । एतदप्यन्यत्र वैद्योपदेशात् । औषधस्याव्रतघ्नत्वात् । तथा च स्मृतिः—

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं घृतं पयः ।

हविर्ब्राह्मणकाम्या¹ च गुरोर्वचनमौषधम् ॥

इति । उच्छिष्टं गुरुव्यतिरिक्तस्य वर्जयेत् । तदाह वसिष्ठः—

‘उच्छिष्टमगुरोरभोज्यम्’

इति । अगुरोरभोज्यमित्यनेन² गुरोरुच्छिष्टं भोज्यमित्याह । अत एवापस्तम्बः—

‘पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोक्तव्यम्’

इति । न च—

‘आचार्यश्चेष्टो गुरुणां मातेत्येके’

इति मातुरपि गुरुत्वश्रवणात्तस्या उच्छिष्टं भोक्तव्यमिति शङ्कनीयम्—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।

इति गुरुलक्षणवैलक्षण्यात् । अतस्तत्रौपचारिको गुरुशब्द इति मन्तव्यम् । अत एव मनुः—

गुरुवत्सम्प्रपूज्यास्स्युस्सवर्णा गुरुर्योषितः ।

इति । अत एव गौतमोऽपि—

‘तद्गार्यापुत्रेषु चैवम्’

इति गुरुधर्मातिदेशं कृत्वा तदुच्छिष्टभोजनापवादमाह—

‘नोच्छिष्टाशनस्त्रापनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्मर्दनोपसङ्ग्रहणानि’

¹ ब्राह्मणकामाय— क. ख.

² अनेन. ग.

इति । प्रसाधनमलङ्करणम् । उन्मर्दनमङ्गमर्दनम् । एवमविशेषेण
गुरोरुच्छिष्टभोजने प्राप्ते कचिदपवादमाहापस्तम्बः—

‘धर्मविप्रतिपत्तावभोज्यम्’

इति । अधर्मोपेतस्य पितुरुच्छिष्टमभोज्यमित्यर्थः । शुक्तं निष्ठुरं
वाक्यम् । तदपि वर्जयेत् । अत एव वर्जयेदित्यनुवृत्तौ गौतमः—

‘शुक्ता वाचः’

इति । भास्करालोकमादित्यावेक्षणम् । तदपि न कार्यमि-
त्याह मनुः—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमस्तंयन्तं कदा चन ।

नोपस्पृष्टं न वारिस्थं न मध्यनभसो गतम् ॥

उपस्पृष्टं राहुग्रस्तम् । अश्लीलमसत्यभाषणम् । परीवादः पर-
निन्दा । आदिग्रहणमन्येषामपि नियमानामुपलक्षणार्थम् । अत
एव गौतमः—

‘वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जन-
यानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवादनस्नानदन्त-
धावनहर्षनृत्तगीतपरिवादभयानि’

इति । गन्धश्चन्दनादि । तस्य भोगार्थस्य प्रतिषेधो न देवताशि-
ष्टस्य । तथा च स्मृतिः—

‘देवताशिष्टमेव गृहीयाद्ब्रह्मचारी’

इति । एवं मालायामपि द्रष्टव्यम् । यानं शिबिकादि । वादो

बहुप्रलापः । वादनं भेरीताडनादि । स्नानमुपभोगार्थम् । नित्य-
स्य विहितत्वात् । भयं परस्य । मनुरपि—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धमाल्यरसान् स्त्रियः ।

शुक्तानि चैव सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्षणोरूपानच्छत्रधारणम् ।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।

स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥

इति । रसा इक्षुरसादयः । मधुनो रसत्वेऽपि पृथङ्ग्रहणं प्राय-
श्चित्तगुरुत्वख्यापनार्थम् । स्त्रीप्रेक्षणालम्भने तु यत्र मैथुनशङ्का
तत्रैव वर्जयेत् । इतरत्राशक्यपरिहारत्वात् । अत एव वर्जयेदित्य-
नुवृत्तौ गौतमः—

‘स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम्’

इति । तथा नियमान्तराण्यपि स एवाह—

‘गुरुदर्शनेकण्ठप्रावृतावसक्थिकापाश्रयणपादप्रसा-

रणानि निष्ठीवितहसितविजृम्भितावस्फोटनानि’

अत्रापि वर्जयेदित्यनुवर्तते । कण्ठप्रावृतं वस्त्रादिना कण्ठप्रावर-
णम् । अवसक्थिका जान्वोर्मध्यस्य च वस्त्रादिना बन्धनम् ।

अपाश्रयणं कुड्यादिसंश्रयणम् । विजृम्भितं जृम्भणम् । अवस्फो-
टनं भुजास्फालनादि । हसितं प्रसिद्धम् । तच्च यद्यशक्यपरिहारं

तदा मुखं पिधाय कार्यम् । तदाहापस्तम्बः—

‘यदि स्मयेतापिगृह्य स्मयेतेति हि ब्राह्मणम् । नो-
पजिघ्रेत् स्त्रियं मुखेन न हृदयेन प्रार्थयेन्नाकारणा-
दुपस्पृशेत्’

इति । पुनरापस्तम्बः—

‘दत्त्वा च नानुकथयेत्कृत्वा च नानुस्मरेदात्मप्र-
शंसां परगर्हामिति च वर्जयेत्’

इति । हारीतोऽपि—

‘हयगजरथचैत्यवृक्षविषमारोहणप्रचयनसंसिद्धिस-
र्पणमहानघर्णवप्रतरणमहासाहसविरुद्धानि’ वर्जयेत्’

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘स्त्रीभिर्यावदर्थसम्भाषी मृदुश्शान्तो दान्तो ह्री
मान्दृढधृतिः’

इति । विष्णुरपि—

‘कृतलवणं ब्रह्मचारी वर्जयेत्’

इति । कृतलवणमूषरलवणम् । मनुरपि—

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदयात्क्वाचित् ।

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तशयानोऽभ्युदितश्च यः ॥

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तस्स्यान्महतैनसा ।

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्याच्छिखाजटः ॥

¹ वृषभारोहमहानदीप्रतरणमहासाहसविरुद्धानि—वैद्य.

इति । मुण्डशिशुवाविहीनः,

‘मुण्डशिशुवा वा’

इति गौतमस्मरणात् । कात्यायनोऽपि—

सशिखं वपनं कार्यमा स्नानाद्ब्रह्मचारिणः ।

आ शरीरविमोक्षान्तु ब्रह्मचर्यं न चेद्भवेत् ॥

इति । एतच्छन्दोगाभिप्रायम् । तथा च श्रीविष्णुपुराणे भर-
तवाक्यम्—

एते लूनशिखास्तस्य दशनैरचिरोद्गतैः ।

कुशकाशा विराजन्ते वटवस्सामगा इव ॥

‘अधश्शयीत’ इत्युक्तं गौतमेन । तत्र विशेषमाह यमः—

खट्वासनं च शयनं वर्जयेदन्तधावनम् ।

स्वपेदेकः^१ कुशेष्वेव न रेतस्स्कन्दयेत्कचित् ॥

मनुरपि—

एकश्शयीत सर्वत्र न रेतस्स्कन्दयेत्कचित् ।

कामाद्धि स्कन्दयेद्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥

व्रतं ब्रह्मचर्यम् । अकामत उत्सर्गे प्रायश्चित्तमात्रं न व्रतलोप
इत्याह स एव—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजशुक्लमकामतः ।

स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वाऽपि पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामुपनीतधर्माः.

वेदप्रशंसा.

अथ वेदप्रशंसा । तत्र मनुः—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयपि ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।

वेद एव द्विजातीनां निश्श्रेयसकरः परः ॥

यज्ञादीनां कर्मणां मध्ये वेदाभ्यास एव द्विजातीनां पर उत्कृष्टो निश्श्रेयसकरः, तस्य तपोरूपत्वात् । तथा च मनुः—

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्दिजोत्तमः ।

वेदाभ्यासोऽपि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यस्त्रग्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥

यः प्रसहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते स आनखाग्रेभ्यः परमुत्कृष्टं तपः करोतीत्यर्थः । हेति प्रसिद्धौ । स्रग्वी धृतमाल्यो नियमविहीनोऽपीति यावत् । व्यासोऽपि—

नान्यतो¹ ज्ञायते धर्मः वेदादेवैष निर्बभौ ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन धर्मार्थी वेदमभ्यसेत्² ॥

धर्मार्थी धर्मज्ञानार्थी । अत एव मनुः—

¹ नान्यथा—ख.

² माश्रयेत्—ख.

पितृ¹ देवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्सनातनः ।

इति । वेदविदः फलमपि स एवाह—

यथा जातवलो वह्निर्दहत्याद्रानपि द्रुमान् ।

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥

तथा वेदविहीनस्य सर्वाक्रियानैष्फल्यमपि स एवाह—

यथा पण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।

यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥

वसिष्ठोऽपि—

यश्च काष्ठमयो हस्ती यश्च चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥

यथा दार्वानिनिर्मितो हस्ती युद्धादिकर्मयोग्यो न भवति तथाऽ-
नधीयानोऽपि स्वकर्मयोग्यो न भवतीत्यर्थः । अत एवायं ब्राह्म-
णो न भवतीत्याह स एव—

नानृचो ब्राह्मणो भवति न वणिङ्ग कृषीवलः ।

न शूद्रप्रेषणं कुर्वन्न स्तेनो न चिकित्सकः ॥

मनुरपि—

योऽनधीय द्विजो वेदान्त्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

अतः पूर्वं वेदाध्ययनेन भवितव्यमित्यर्थः । अत एव शङ्कः—

‘न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्ग-
स्मृतिभ्यः’

इति । अङ्गादेरपि तदर्थपरिज्ञानार्थत्वादित्यभिप्रायः । तथा
च हारीतः—

‘वेदो वै विद्या ब्राह्मणस्य । तत्परिज्ञानार्थमङ्गानि’
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां वेदप्रशंसा.

श्रुतप्रशंसा.

अथ श्रुतप्रशंसा । तत्र लघुव्यासः—

न वेदपाठमात्रेण संतोषं कारयेद्बुधः ।

पाठमात्रावसायी तु पङ्के गौरिव सीदति ॥

इति । निरुक्तेऽपि—

‘स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं न विजा-
नाति योऽर्थम्’

इति । लघुव्यासोऽपि—

वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चापि यत् ।

अजानतोऽर्थं तत्सर्वं तुपाणां खण्डनं यथा ॥

यथा पशुर्भारवाही न तस्य भजते फलम् ।

द्विजस्तदर्थानभिज्ञो न वेदफलमश्नुते ॥

वैदिककर्मफलभाङ्गं भवतीत्यर्थः । अत एवास्य शूद्रसमानत्व-
माह स एव—

योऽधीत्य विधिवद्विप्रो वेदार्थं न विचारयेत् ।

स सान्वयश्शूद्रसमः पात्रतां न प्रपद्यते ॥

अत एव चैतेषां वाङ्मात्रेणापि पूजा न कार्येत्याह स एव---

पाठमात्रपरान्नित्यं द्विजातींश्चार्थवर्जितान् ।

पशूनिव स तान्प्राज्ञो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

अतोऽधीतवेदस्य तदर्थविचार आवश्यक इत्यभिप्रायः । अत एव दक्षः—

वेदस्वीकरणं पूर्वं त्वचाराऽभ्यसनं जपः ।

तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥

विचारो वेदार्थविचारः । लघुव्यासोऽपि—

श्रुतहीनमधीतं यत्¹ नेह नामुत्र तद्भवेत् ।

श्रुतं तु केवलमपि समुद्धाराय कल्पते ॥

किं पुनस्समुच्चितमित्याभिप्रायः । तदाह स एव—

ज्ञानं कर्म च संयुक्तं मुक्त्यर्थं कथितं² यथा ।

अधीतं श्रुतसंयुक्तं तथा श्रेष्ठं न केवलम् ॥

समुच्चितं स्तोकमपि श्रुताधीतं विशिष्यते ।

चतुर्णामपि वर्णानां केवलाध्ययनाद्विजात् ॥

इति । वेदार्थविदः फलमाह मनुः—

¹ श्रुतं वा समधीतं च - ख.

² कल्पितं—स्मृतिर.

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र यत्राश्रमे वसेत् ।

इहैव तिष्ठन्लोके स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

हारीतोऽपि—

मन्त्रार्थज्ञो जपन् जुह्वंस्तथैवाध्यापयन् द्विजः ।

स्वर्गलोकमवाप्नोति नरकं तु विपर्यये ॥

निरुक्तेऽपि—

योऽर्थवित्सकलं भद्रमश्रुते स नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।

इति । मनुस्त्वभ्यसनीयानि शास्त्राण्याह—

बुद्धिवृद्धिकराण्याश्च धान्यानि च हितानि च ।

नित्यं शास्त्राण्येवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

पुराणेऽपि—

धर्मशास्त्रं तु विज्ञेयं शब्दशास्त्रं तथैव च ।

पुराणानीतिहासाश्च तदाख्यानानि यानि च ॥

महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां श्रुतप्रशंसा.

अध्ययनविधिः.

अथाध्ययनविधिः । तत्र मनुः—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यस्सरहस्यो द्विजन्मना ॥

रहस्यमुपनिषत् । अधिगन्तव्योऽध्येतव्य इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’

इति । स्वकुलपरम्परागता शाखाऽध्येतव्येति यावत् । अत एव
वासिष्ठः—

पारम्पर्यागतो येषां वेदस्सपरिवृंहणः ।

तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाऽध्ययनं तथा ॥

इति । शाखान्तराध्ययने शाखारण्डो भवतीत्यभिप्रायः ।

यदाह स एव—

एकदेशे^१ऽपि शाखानां मध्ये योऽन्यतमं^२ व्रजेत् ।

स्वशाखां सम्परित्यज्य शाखारण्डस्स उच्यते ॥

तस्य दोषमपि स एवाह—

स्वशाखां यः परित्यज्य पारक्यमधिगच्छति ।

स शूद्रवद्ब्रह्मिष्कार्यस्सर्वकर्मसु साधुभिः^३ ॥

आत्मशाखां परित्यज्य परशाखासु वर्तते ।

उच्छेत्ता तस्य वंशस्य रौरवं नरकं व्रजेत् ॥

स्वीयशाखोज्झिता येन ब्रह्म तेनोज्झितं परम् ।

ब्रह्महैव स विज्ञेयस्सद्भिर्नित्यं विगर्हितः ॥

इति । लोगाक्षिरपि—

यस्स्वशाखां परित्यज्य पारक्यमधिगच्छति ।

स शूद्रवद्ब्रह्मिष्कार्यो हव्यकव्येषु दातृभिः^४ ॥

^१ एकवेदे—ग.

^२ न्यतमां - ग.

^३ बन्धुभिः.

^४ भनुगच्छति—स्मृतिर.

^५ शाखारण्डस्स विज्ञेयस्सर्वकर्मवहिष्कृतः—स्मृतिर.

अनेन स्वशाखाया अपरित्यागेन शाखान्तराध्ययनमविरुद्धमि-
त्याह । अत एव वसिष्ठः—

अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत् ।

तथा नियमान्तरमपि स एवाह—

यच्छाखीयैस्तु संस्कारैस्संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत् ।

तच्छाखाऽध्ययनं कुर्यात्त्यागेन ¹ पतितो भवेत् ॥

यस्तु स्वशाखीयं कर्म परित्यज्य शाखान्तरोक्तमाचरति, सोऽपि
शाखारण्ड इत्याह वसिष्ठः—

न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत् ।

आचरन्परशाखोक्तं शाखारण्डः ² प्रकीर्तितः ॥

सङ्ग्रहकारस्त्वस्यापि दोषमाह—

यस्स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत् ।

अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमासि मज्जति ॥

कात्यायनोऽपि—

स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं तु यः ।

कर्तुमिच्छति दुर्मेधा मौघं तस्य विचेष्टितम् ॥

अनेनापि स्वशाखीयकर्मापरित्यागेन शाखान्तराश्रयणमविरुद्ध-
मिति ज्ञायते । तदपि तेनैवोक्तम्—

यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि च ।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत् ॥

इति । अथाध्ययनारम्भं प्रकृत्याह मनुः—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव सावित्री¹ विज्ञेया ब्रह्मणो मुखम् ॥

ओं भूर्भुवस्सुवरिति महाव्याहृतयस्तिस्रः । तत्सवितुरिति सावित्री ब्रह्मणो मुखं वेदस्य मुखमारम्भ इत्यर्थः । गौतमस्तु पञ्च व्याहृतयः प्रयोज्या इत्याह—

‘ ओम्पूर्वा व्याहृतयः पञ्च सस्यान्ताः ’

इति । एतच्चान्वहं वेदितव्यम् । तथा च संवर्तः—

प्रणवं प्राक्प्रयुञ्जति व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।

सावित्र्याश्चानुवचनं ततो वृत्तान्तमारभेत् ॥

वृत्तान्तं यत्प्रस्तुतमित्यर्थः । प्रणवोच्चारणमपि प्राणायामत्रयादुपरि वेदितव्यम् । तदाह मनुः—

प्राक्कूलान्पर्युपासानः पवित्रैश्चैव पावितः ।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥

प्राक्कूलान्प्रागग्रानित्यर्थः । पवित्रं पावनमिति । गौतमेनोक्तं—

‘ प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः ’

इति । प्राणा इति चक्षुरादीन्द्रियाणि शीर्षण्यान्युच्यन्ते । तानि दर्भैरुपस्पृशेदित्यर्थः । प्राणायामा अपि तेनैवोक्ताः—

‘ प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः ’

इति । प्राणायामः प्राणनिरोधः निरुच्छ्वासेनावस्थानमिति या
वत् । लघ्वक्षरोच्चारणकालो मात्रा । पञ्चदशमात्रा इत्यनेन
'सव्याहृतिकां सप्रणवाम्' इत्यस्य प्रतिषेधमाह । एतच्च प्रणवो-
च्चारणमधीत्यापि कार्यम् । तदाह मनुः—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

स्रवत्यनोद्धृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥

इति । नियमान्तरमपि स एवाह—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोस्सदा ।

पादग्रहणमुपसङ्ग्रहणम् । यदाहाङ्गिराः—

प्राप्ते वेदानुवचने विसर्गे चान्वहं गुरोः ।

उपसङ्ग्रहणं कार्यं विप्रोष्य त्वागतेन च ॥

इति । गौतमस्त्वध्येतुर्दिङ्क्षियममाह—

'प्राङ्मुखो दक्षिणतश्शिष्य उदङ्मुखो वा '

इति । मनुरपि—

अध्येष्यमाणस्त्याचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।

ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥

अध्येष्यमाण इति वचनादेतदाचमनमध्ययनाङ्गम् । ब्रह्माञ्जलि-
मपि स एवाह—

संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिस्मृतः ।

इति । अत्र विशेषमाह संवर्तः—

ततोऽधीयीत वेदं तु वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ।

हस्तौ तु संहतौ कार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ ॥

गुरोर्मुखं वीक्षमाण इत्यनेन गुरुमुखादेव वेदोऽध्येतव्य इत्याह ।

अत एव नारदः—

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।

भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥

गुरुसन्निधानेऽपि तदनुज्ञयाऽध्येतव्यम् । अन्यथा दोषश्रवणात् ।

तदाह लघुव्यासः—

ऋचमर्धर्चमथवा पादं वा यदि वाऽक्षरम् ।

गृह्णाति योऽननुज्ञातो परस्मात्परतो द्विजः ॥

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ।

तथा शूद्रसन्निधानेऽपि नाध्येतव्यम् । तहाह स एव—

अनध्यायेष्वधीतं यद्यच्च शूद्रस्य सन्निधौ ।

प्रतिग्रहनिमित्तं च नरकाय तदुच्यते ॥

मनुरपि—

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।

न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनस्स्वपेत् ॥

अविस्पष्टं वर्णस्वरादिरहितम् । निशान्ते रात्रेरपरभागे । ब्रह्मा

धीत्य श्रान्तोऽपि पुनर्न स्वपेदित्यर्थः । तथा च गौतमः—

‘नापररात्रमधीत्य पुनः प्रतिसंविशेत्’

इति । हारीतोऽपि—

‘ब्राह्मे मुहूर्ते प्रतिबुध्य स्वाध्यायमावर्त्य न प्रतिसंविशेत्’

नारदस्तु वर्णस्वरादिरहिताध्ययने दोषमाह—

हस्त ¹ हीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।

ऋग्यजुस्सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥

हस्तेना ² धीयमानस्तु स्वरवर्णान्प्रयोजयन् ।

ऋग्यजुस्सामभिः पूतो ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥

एतच्चाध्ययनादिफलं गर्भाधानादिसंस्कार वत एव नान्यस्येत्याह
लघुव्यासः—

संस्कारवद्भिः कर्तव्यं वेदस्याध्ययनं द्विजैः ।

शुद्धस्य फलवत्तत्स्यादन्यथा निष्फलं स्मृतम् ॥

नियमान्तराण्यपि स एवाह—

मेखलाजिनदण्डानां धारिभि ³ ब्रह्मचारिभिः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यस्सत्पथाचारवार्तिभिः ⁴ ॥

भिक्षाशिभिर्गुरोर्नित्यं शुश्रूषायां रतैस्तथा ।

आ समाप्तेर्व्रतं कुर्याद्वेदस्य विधिवद्विजैः ॥

शुश्रूषा परिचर्या । तस्याः फलमाह मनुः—

¹ अर्थ — ग.

² अर्थेना — ग.

³ धारणै — ग.

⁴ सर्वज्ञानैर्द्विजातिभिः — क.

सर्वज्ञानो द्विजातिभिः — ख.

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥

नारदो विद्याऽधिगमोपायमाह—

योऽहेरिव ऋणाद्धीतस्तौहित्यान्नरकादिव ।

राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यस्स विद्यामधिगच्छति ॥

यत्कीटैः पांसुभिः श्लक्ष्णैर्वल्मीकः क्रियते महान् ।

न तत्र बलसामर्थ्यमुद्योगस्तत्र कारणम् ॥

शनैर्विद्यां शनैरर्थानारोहेत्पर्वतं शनैः ।

तृप्तिस्सौहित्यम् । तथा विघ्नहेतूनपि स एवाह—

द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च ।

स्त्रियस्तन्द्री च निद्रा च विद्याविघ्नकराणि षट् ॥

शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा । तन्द्री आलस्यम् । एवमुक्तनियमविहीना-

दध्ययनाभावो वरामित्याह लघुव्यासः—

ऋक्पादमप्यधीयीत मार्गेणोक्तेन धर्मवित् ।

न त्वेव चतुरो वेदानन्यायेन कदा चन ॥

वेदविप्लावनात्तेन वरं मौनं समाश्रितम् ।

वेदविप्लावनाद्विप्रो नरकं यात्यधोमुखः ॥

वेदविप्लावकस्य लक्षणमाह^१ यमः—

योऽर्थार्थीमान्द्विजे दद्यात्पठेदेवाविधानतः ।

अनध्याये च तं प्राहुर्वेदविप्लावकं बुधाः ॥

^१ लक्षणं विद्योक्तमाह — क. ग.

अत्र याज्ञवल्क्यः—

कृतज्ञोऽद्रोही मेधावी शुचिः कल्योऽनसूयकः ।

अध्याप्यास्साधुशक्ताप्तस्वार्थदा धर्मतस्त्वमे ॥

कृतज्ञ उपकारस्मर्ता । अद्रोह्यनपराधी । मेधावी धारणावान् ।
शुचिः प्रयतः । कल्यो विरोगः । अनसूयकः परपुरुषदोषाना-
विष्करणशीलः । साधुः वृत्तवान् । शक्तश्शुश्रूषायाम् । आ-
प्तोऽप्रतारकः । स्वः ज्ञातिः । अर्थदो गुर्वर्थप्रदाता । इमे धर्मतः
धर्मानतिरेकेणाध्याप्याः । नन्वर्थदोऽध्याप्य इति न घटते—

भृतादध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।

इत्युपपातकमध्ये पठितत्वात् । मैवं भृतिसम्प्रतिपात्तिपूर्वकमेवा-
ध्यापनं प्रतिषिद्धमितरस्य वृत्तिहेतुत्वेनाविरोधात् ।

अत एव मनुः—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।

तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं^१ बीजमिवोषरे ॥

यमोऽपि—

यतो धर्मागमो न स्यान्न शुश्रूषाधनागमौ ।

विद्यया सह मर्तव्यं न विद्यामूषरे वपेत् ॥

मनुस्तु ज्ञानदोऽप्यध्याप्य इत्याह—

आचार्यपुत्रश्शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकश्शुचिः ।

आप्तश्शक्तोऽर्थदस्साधुस्स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥

शक्तो विद्याग्रहणसमर्थः । ज्ञानदो विद्याप्रदः । नारदोऽपि—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।

अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपलभ्यते ॥

इमेऽध्याप्या इति वदन्नसूयकादयो नाध्याप्या इत्याह ।

अत एव वसिष्ठः—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम

गोपाय मा शेवधिस्तेऽहमस्मि ।

असूयकायानृजवेऽयताय¹

न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

यमेव विद्याश्शुचिमप्रमत्तं

मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह

तस्मै मां ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

इति । शेवधिः निधिः । विष्णुरपि—

‘नापरीक्षितं याजयेन्नाध्यापयेन्नोपनयेत्’

इति । अध्यापने नियमविशेषानाह यमः—

सततं प्रातरुत्थाय दन्तधावनपूर्वकम् ।

स्नात्वा हुत्वाऽथ शिष्येभ्यः कुर्यादध्यापनं नरः ॥

आपस्तम्बोऽपि—

‘शयानश्चाध्यापनं वर्जयेन्न च तस्यां शय्यायामध्यापयेद्यस्यां शयीत’

इति । मनुरपि—

अध्येष्यमाणस्तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥

आरमेदध्यापनान्निवर्तेतेत्यर्थः । यः पुनरनन्यमना नाधीते तं निर्भर्त्सनादिना शिक्षयेत् । तदाह गौतमः—

‘शिष्यशिष्टिरवधेन’

इति । शिष्टिश्शासनम् । अवधेन ताडनमकृत्वेत्यर्थः । शिष्यग्रहण-
मन्यस्यापि भार्यादेशशासनीयस्यान्यस्योपलक्षणार्थम् । अत
एव मनुः—

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।

प्राप्तापराधास्ताड्यास्स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥

एतच्च निर्भर्त्सनादिना शासितुमशक्तौ वेदितव्यम् । अत एव
गौतमः—

‘अशक्तौ रज्जुवेणुदलाभ्यां तनुभ्याम्’

इति । ताडनमिति शेषः । तच्च शिरसि न कार्यम् । तदाह मनुः—

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथं चन ।

अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तस्याच्चोरकिल्बिषम् ॥

यस्तु हस्तादिना ताडयति स राज्ञा शासनीय इत्याह गौतमः—

‘अन्येन निघ्नन् राज्ञा शास्यः’

इति । यः पुनरर्थिने विद्यां न प्रयच्छति तस्य दोषमाह वसिष्ठः

‘यो हि विद्यामधीत्यर्थिने न सम्प्रदद्यात्स कर्मानर्हस्स्यात्’

इति । यमोऽपि—

संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं न निर्दिशेत् ।

हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरुः ॥

एतच्च शूद्रशिष्यव्यतिरिक्तविषयम् । तस्याध्ययननिषेधात् तथा चापस्तम्बः—

‘अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याधेयं फल-
वन्ति च कर्माणि’

इति । एतच्चाध्ययनं ब्राह्मणादेव कार्यम् । तस्यैव प्रवचनेऽधिकारात् । तथा च मनुः—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णास्स्वकर्मस्था द्विजातयः ।

प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्तेषां नेतराविति निश्चयः ॥

एतदनापद्विषयम् । आपदि क्षत्रियादेरप्यध्ययनविधानात् । तदाह स एव—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

अनुब्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥

तत्रानुगमनमात्रमेव शुश्रूषा । साऽपि यावदध्ययनं तावदेव कार्यमित्यर्थः । गौतमोऽपि—

‘आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगोऽनुगमनं शुश्रूषा
समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः’

इति । विद्याग्रहणमन्येषां रत्नप्रभृतीनामुपलक्षणार्थम् । अत एव
देवलः—

रत्नान्यापः स्त्रियो विद्या धर्मशौचं सुभाषितम् ।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥

मनुरपि—

श्रद्धधानश्शुभां विद्यामादधीतावरादपि ।

अत्यापदि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।

अमित्रादपि सदृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥

तथा विद्याफलमपि स एवाह—

तपो विद्याऽपि विप्रस्य निश्श्रेयसकरं परम् ।

तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

देवलोऽपि—

विद्या वित्तं तपश्चेति त्रीणि तेजांसि देहिनः ।

इह चामुत्र च श्रेयस्तदेतैस्साध्यते त्रिभिः ॥

विद्यया निर्मलं ज्योतिर्वित्तत्यागात्सुखोदयम् ।

तपसा विमलां भूतिं प्राप्नुयान्मानवान्निभिः ॥

इति । विद्यादानस्य फलमाह यमः—

दशानां तु सहस्राणां युक्तानां धुर्यवाहिना¹म् ।
सुपात्रे विनियुक्तानां कन्या विद्या च तत्समम् ॥

इति । बृहस्पतिरपि—

सहस्रसम्मिता धेनुरनङ्गान्दश धेनवः ।
दशानङ्गुत्समं यानं दशयानसमो हयः ॥
दशवाजिसमा कन्या भूमिदानं च तत्समम् ।
भूमिदानात्परं नास्ति विद्यादानं ततोऽधिकम् ॥

मनुरपि—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासास्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥

संवर्तोऽपि—

विद्यादानेन सुमनाश्चिव²लोके महीयते ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामध्ययनविधिः.

उपाकरणम्.

अथोपाकरणम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

अध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन वा ।
हस्तेनौषधिभावे वा पञ्चम्यां श्रावणस्य तु ॥

अधीयन्त इत्यध्याया वेदाः । तेषामुपाकर्माख्यं कर्म श्रावण्यां
पौर्णमास्यां श्रवणेन वा नक्षत्रेण हस्तेन वा युक्तायां पञ्चम्यामो-
षधिप्रादुर्भावे सति कार्यम् । तथा चाश्वलायनः—

¹ वाजिनाम्—क.

² सुमतिर्ब्रह्म—क.

‘ अथातोऽध्यायानामुपाकरणमोषधीनां प्रादुर्भावे
श्रवणेन श्रावण्यां पञ्चम्यां हस्तेन वा ’

इति । यदा तु श्रावणे मासि न प्रादुर्भवन्त्योध्यस्तदा प्रौष्ठपद्यां
कार्यम् । अत एव शौनकः—

‘ तद्वार्षिकमिमेतदा^१ चक्षते ’

इति । वर्षाकाले भवं वार्षिकम् । वसिष्ठोऽपि—

‘ अथातस्स्वाध्यायोपाकर्म श्रावण्यां पौर्णमास्यां
प्रौष्ठपद्यां वा ’

इति । प्रौष्ठपदी भाद्रपदस्य पौर्णमासी । तत्र श्रवणे नक्षत्रे
विशेषमाह व्यासः—

श्रवणेन तु यत्कर्म उत्तराषाढसंयुतम् ।

संवत्सरकृतोऽध्यायस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥

धनिष्ठासंयुतं कुर्याच्छ्रावणे^२ कर्म यद्भवेत् ।

तत्कर्म सफलं विद्यादुपाकरणसंज्ञितम् ॥

इति । बोधायनस्त्वाषाढ्यामेवोपाकरणमाह—

‘ श्रावण्यां पौर्णमास्यामाषाढ्यां वोपाकृत्य तैष्यां
माघ्यां वोत्सृजेत् ’

इति । तैषी तिष्यस्य^३ पौर्णमासी । एवं छन्दांस्युपाकृत्यानन्तरं
पक्षद्वयेऽपि सार्धंश्चतुरो मासानधीयीत । तथा च मनुः—

१ वार्षिकमधये तदा — ख.

२ श्रावणे ख.

३ तिष्यस्य — ख.

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽपुचपाकृत्य यथाविधि ।

युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥

युक्तो यन्नवान् वसिष्ठस्त्वर्धपष्ठान्मासानधीयीतेत्याह—

‘अर्धपञ्चमान्मासानर्धपष्ठान्वा’

इति । एतच्चाध्ययनं^१ गृहस्थस्याप्यविरुद्धम् । अत एवाधीयीते-
सनुवृत्तौ शौनकः—

‘समावृत्तो ब्रह्मचारिकल्पेन यथान्यायमितरे जा-
योपेयी^२ त्येके’

इतरे ब्रह्मचारिण इत्यर्थः । इति स्मृतिचन्द्रिकायामुपाकरणम् ॥

उत्सर्जनम्.

अथोत्सर्जनम् । तत्र मनुः—

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।

माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥

शुक्लप्रतिपदि पूर्वाह्णे इत्युभयत्रापि सम्बध्यते । अत्र यश्श्राव-

ण्यामुपाकुर्यादसौ पुष्यमासस्य शुक्लप्रतिपत्पूर्वाह्णे उत्सृजेत् ।

इतरस्तु माघे । अर्धपञ्चमान्मासानधीयीतेति तेनैवोक्तत्वात् ।

आपस्तम्बस्तु तैष्यां पौर्णमास्यामुत्सर्जनमाह—

‘तैष्यां पौर्णमास्यां रोहिण्यां वा विरमेत्’

इति । रोहिण्यपि तिष्यस्यैव ग्राह्या । तथा च याज्ञवल्क्यः—

१ एतच्च ग्रहणाध्ययनं क. ख.

२ जायोपेयी गृहस्थः—मदन.

पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा ।
जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गे विधिवद्ब्रहिः ॥

इति । अत्र पुराणम्—

उपाकर्माणि चोत्सर्गे यथाकालं समेत्य च ।
ऋषीन्दर्भप्रयान्कृत्वा पूजयेत्तर्पयेत्ततः ॥

इति । एवमुत्सृज्यानन्तरं छन्दांसि शुक्लपक्षेष्वधीयीत । वेदाङ्गानि
कृष्णपक्षेष्वधीयीत । तथा च मनुः—

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि तु सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥

वसिष्ठोऽपि—

‘अत ऊर्ध्वं शुक्लपक्षेष्वधीयीत कामं तु वेदाङ्गानि’

इति । काममितिवदन्नङ्गाध्ययनमनध्यायेऽप्यविरुद्धमित्याह । अत
एव मनुः—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

वेदोपकरणान्यङ्गानि । नित्यस्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः । एतत्कर्मद्वयं
छन्दसामयातयामत्वायेत्याह कात्यायनः—

प्रसब्दं यदुपाकर्म सोत्सर्गे विधिवत् द्विजैः ।
क्रियते छन्दसां तेन पुनराप्यायनं भवेत् ॥

अयातयामैश्छन्दोभिर्यत्कर्म क्रियते द्विजैः ।

क्रीडमानैरापि सदा तत्तेषां सिद्धिकारणम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामुत्सर्जनम्.

अनध्यायाः .

अथानध्यायाः । तत्र मनुः—

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे ।

आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥

स्तनितं मेघगर्जनम् । एतेषु विद्युदादिषु प्रत्येकमाकालिको निमित्तकालादारभ्य परेद्युर्यावत्स एव कालस्तावदनध्याय इत्यर्थः । एतच्च विद्युदादित्रयं वर्षाभ्योऽन्यत्र सन्ध्याकाले वेदितव्यम् । यदाह स एव—

एतानभ्यु¹ दितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ² चाब्धदर्शने ॥

प्रादुष्करणं विहरणम् । तेनात्र सन्ध्याकालो लक्ष्यते । अनृतौ वर्षाभ्योऽन्यत्र । अथाकालिका इत्यनुवृत्तौ गौतमः—

‘स्तनयित्नुवर्षविद्युतश्च प्रादुष्कृताग्निषु’

इति । उल्कायां तु सर्वदाऽऽकालिकमेव । तथा चापस्तम्बः—

‘उल्कायामग्न्युत्पाते च सर्वासां विद्यानां सार्व-
कालिकमाकालिकम्’

¹ एतांस्त्वभ्यु इति मुद्रितपुस्तकपाठः.

² मपतौ—क.

³ अपतौ—क.

इति । अग्न्युत्पाते तु मनुरपि—

चोरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।

आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥

अद्भुतेषु रुधिरादिवर्षेषु । तथा च वसिष्ठः—

‘उपलरुधिरपांसुवर्षेष्वकाालिकम्’

इति । यदा तु विद्युदादित्रयं युगपदुत्पद्यते तदा त्रयहमनध्यायः ।

अत एव त्रिरात्रमित्यनुवृत्तौ गौतमः—

‘वर्षविद्युत्स्तनयित्नुसन्निपाते’

इति । एतदपि वर्षाकालादन्यत्र वेदितव्यम् । यदाहापस्तम्बः—

‘विद्युत्स्तनयितुर्वृष्टिश्चापतौ यत्र सन्निपतेयुस्त्रय-

हमनध्यायो यावद्भूमिर्व्युदेकस्येके । एकेन द्वाभ्यां

वैतेषामाकालम्’

इति । भारद्वाजोऽपि—

अग्न्युत्पातेऽपर्तुवर्षे ग्रामेऽनध्ययनं भवेत् ।

आकालिकं त्रिरात्रं तु सविद्युत्स्तनयितुके ॥

यदा तु वर्षास्वेव सन्ध्यायां विद्युत्स्तनितः तदा सज्योतिरनध्यायः । तथा च मनुः—

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितानिस्वने ।

सज्योतिस्स्यादनध्यायक्षेपे रात्रौ यथा दिवा ॥

प्रातस्सन्ध्यायां निमिचोत्पाते सज्योतिर्यावत्सूर्यस्तावदेवानध्य-

यनं दिवेत्यर्थः । अपरस्यां तु यावन्नक्षत्राणि तावदेव । शेषे ऋतौ यथा दिवाऽनध्यायस्तथा रात्रावपीत्यर्थः । हारीतस्तु स्तनिते विशेषमाह—

‘सायं संध्यायां स्तनिते रात्रौ नार्धीयेरन् । प्रात-
स्सन्ध्यायां स्तनिते त्वहोरात्रम्’

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘सप्रदोषमहरनध्यायो दहेऽपररात्रे स्तनयित्नुनो-
र्ध्वमर्धरात्रादित्येके गवां चावरोधे’

इति । दहे अल्पे अपररात्रे स्तनयित्नुना गार्जितेन निमित्तेन सप्र-
दोषमहरनध्याय इत्यर्थः । निर्घातादयस्तु वर्षास्वप्याकालिका
इत्याह मनु—

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।

एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥

निर्घात आन्तरिक्षो ध्वनिविशेषः । ज्योतिषामुपसर्जनं चन्द्रसूर्ययोः
परिवेपः । आपस्तम्बस्तु परिवेषादौ तात्कालिकमनध्यायमाह—

सन्ध्यागार्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।

समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीस च ॥

द्युनिशमहोरात्रम् । यत्तु यमेनोक्तम्—

शक्रध्वजनिपाते च उल्कापाते तथैव च ।

अनध्यायस्त्रिरात्रं तु भूमिकम्पे तथैव च ॥

इति, तदुल्काया विद्युत्सहभावे द्रष्टव्यम् ।

अत एव वसिष्ठः—

‘उल्काविद्युत्समासे त्रिरात्रम्’

इति । अत्र मनुः—

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।

ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥

इति । अत्र चान्ध्ययनमहोरात्रं वेदितव्यम् । अत एव द्युनिश-
मिसनुवृत्तौ याज्ञवल्क्यः—

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ।

ऋतुसन्धिषु भुक्त्वा च श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥

राहुसूतके चन्द्रसूर्योपरागे । ऋतुसन्धिषु वसन्तादीनां सन्धिषु
प्रतिपत्तिस्वसर्थः । तथा रामायणे हनुमद्वाक्यम्—

सा स्वभावेन तन्वङ्गी त्वद्वियोगाच्च कर्शिता ।

प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥

इति । हारीतोऽपि—

प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः ।

श्वोऽनध्यायेऽद्य शर्वर्यां नाधीयीत कदाचन ॥

स्मृत्यन्तरेऽपि—

प्रदोषे तु त्रयोदश्यां नाध्येयं प्रतिपत्सु च ।

इति । श्राद्धसम्बन्धि श्राद्धिकम् । तद्भुक्त्वा प्रतिगृह्य वा द्युनिश-
मनध्याय इत्यर्थः । तथा च वसिष्ठः—

फलान्यपस्तिलान्भक्ष्यान्यच्चान्यच्छ्राद्धिकं भवेत् ।

प्रतिगृह्याप्यनध्यायाः पाल्यास्स्युर्ब्राह्मणैस्समृताः ॥

एतच्च एकोदिष्टव्यतिरिक्तविषयं, तत्र त्रिरात्रविधानात् ।
तथा च मनुः—

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोदिष्टस्य केतनम् ।

त्रयहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥

केतनं निमन्त्रणम् । राहुदर्शने शङ्कोऽपि—

‘राहुदर्शने शक्रध्वजप्रपतने आचार्ये च प्रमृते
त्रिरात्रम्’

इति । गौतमस्त्वाकालिकमाह—

‘आकालिका निर्घातभूकम्पराहुदर्शनोल्काः’

इति । एवं च राहुदर्शने त्रिरात्राकालिकाहोरात्राणां विकल्पो
वेदितव्यः । याज्ञवल्क्योऽप्याचार्यमरणे त्रिरात्रमाह—

त्रयहं प्रेतेष्वनध्यायशिश्यार्त्विग्गुरुबन्धुषु ।

गुरुरत्राचार्यः, न मुख्यः तत्र दशाहविधानात् । अत एव बान्धवा अप्यसपिण्डा एव ग्राह्याः । वसिष्ठस्तु शिष्यार्त्विगादिष्वप्यहोरात्रमाह—

‘आचार्यपुत्रशिष्यभार्यास्वहोरात्रं, ऋत्विक्षु यो-
निसम्बन्धेषु च’

इति । योनिसम्बन्धा मातुलादयः । एवं सब्रह्मचारिण्यपि द्रष्टव्यम् । अत एवाहोरात्रमित्यनुवृत्तौ गोविलः—

सब्रह्मचारिणि प्रेते स्वे च भूमिपतादपि ।

इति । उपाकर्मोत्सर्जनयोस्तु त्रिरात्रं वेदितव्यम् । अत एव
त्रयहमनुवृत्तौ याज्ञवल्क्यः—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे स्वशाखाश्रोत्रिये तथा ।

इति । मनुस्तूत्सर्जने पक्षिणीमेकाहं त्रिरात्रं च विकल्पेनाह—

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।

विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं यद्वाऽप्येकमहर्निशम् ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम् ।

इति । उभयतः पक्षौ दिवाऽहनी यस्या रात्रेस्सा पक्षिणी ।

एतेषां पक्षिण्यादीनां तत्तद्गृह्यानुसारेण व्यवस्था । आपस्तम्बस्तु
उपाकरणमारभ्य मासं प्रदोषेऽनध्यायमाह—

‘श्रावण्यां पौर्णमास्थामध्यायमुपाकृत्य मासं प्रदोषे
नाधीयीत’

इति । तत्र त्रयोदश्यादीनां तु मासादुपर्यपि नाधीयीत । तथा
च पुराणम्—

मेधाकामस्त्रयोदश्यां सप्तम्यां च विशेषतः ।

चतुर्थ्यां च प्रदोषेषु न स्मरेन्न च कीर्तयेत् ॥

अत्र प्रजापतिः—

षष्ठौ च द्वादशी चैव अर्धरात्रौ न नाडिका ।

प्रदोषे न त्वधीयीत तृतीया^१ नवनाडिका ॥

अर्धरात्रोननाडिका अर्धरात्राद्वटिकयैकया हीनेत्यर्थः । नवना-
डिका रात्राविति शेषः । प्रदोषे निशायाः प्रथमे प्रहरे ।
यथाहोशना—

‘त्रयोदश्यां प्रथमांश्चतुरो मुहूर्तान्नाधीयीत’
इति । दक्षो रजन्या मध्यमयामद्वयेऽनध्ययनमाह—
प्रदोषपश्चिमौ^१ यामौ वेदाभ्यासेन तौ^२ नयेत् ।
यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

इति । अत्र शातातपः—

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टकासु महोत्सवे ।
प्रदोषे च त्रयोदश्यामष्टम्यां प्रतिपद्यपि ॥
महोत्सवे प्रतिष्ठादौ । अष्टका अपि पैठीनसिनोक्ताः—

‘पौषप्रभृतयः कृष्णे भवास्तिस्रोऽष्टका मार्गशीर्ष-
प्रभृतय इत्येके’

इति । पुष्येण युक्ता पौर्णमासी पौषी । सा यस्मिन्मासि स पौषः ।
शौनकस्तु हेमन्तशिशिरयोः कृष्णे भवास्तिस्रोऽष्टका इत्याह—

‘हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः’
इति । अत्र चानध्ययनमहोरात्रं वेदितव्यम् । तथा च मनुः—

अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ।
इति । गौतमोपि—

^१ प्रदोषः पश्चिमौ—क.

^२ वेदाभ्यासरतो—हेमाद्रिः

‘कार्तिकीं फाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी । तिस्रोऽष्टका-
स्त्रिरात्रम्’

इति । उक्तपौर्णमासीरारभ्य त्रिरात्रम् । तथैव तिस्रोऽष्टकास्सप्त-
म्यादयस्तास्वपि त्रिरात्रमनध्ययनमित्यर्थः । एवं महानवम्या-
दिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा च पुराणम्—

महानवम्यां द्वादश्यां भरण्यां च महातिथौ ।

तथाऽक्षयतृतीयायां शिष्यान्नाध्यापययेद्बुधः ॥

माघमासस्य सप्तम्यां रथाख्यायां च वर्जयेत् ।

अध्यापनमथाभ्यक्तस्नानकाले च वर्जयेत् ॥

नीयमानं शवं दृष्ट्वा महीस्थं वा द्विजोत्तमः ।

अकालगार्जितादौ च परस्वा¹ शौचकादिषु ॥

अनध्यायं बुधः कुर्यादुपरागादिकेऽपि च² ।

महानवम्याश्वयुजशुक्लनवमी । महाद्वादशी कार्तिकशुक्लद्वादशी ।

महाभरणी प्रौष्ठपद्यनन्तरा³ । अक्षयतृतीया वैशाखशुक्लतृतीया ।

रथाख्या माघशुक्लसप्तमी । नारदीयेऽपि—

अयने विषुवे चैव शयने बोधने हरेः ।

अनध्यायस्तु कर्तव्यो मन्वादिषु युगादिषु ॥

पुराणान्तरेऽपि—

युगादिषु च सर्वेषु तथा मन्वन्तरादिषु ।

अनध्यायं प्रकुर्वति या च सोपपदा तिथिः ॥

¹ सरस्वा—क.

² परागदिने तथा—ख.

³ पितृपक्षान्तर्वर्तिनी—ग.

मन्वन्तरादयस्तु मत्स्यपुराणे दर्शिताः—

आश्वयुक्लृक्नवमी कार्तिके द्वादशी तथा ।
 तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च ॥
 फाल्गुनस्य त्वमावास्या पुष्यस्यैकादशी तथा ।
 आषाढस्यापि दशमी माघमासस्य सप्तमी ॥
 श्रावणस्याष्टमी कृष्णा आषाढस्यापि पूर्णिमा ।
 कार्तीकी फाल्गुनी चैत्री ज्यैष्ठी पञ्चदशी सिता ।
 मन्वन्तरादयश्चैते दत्तस्याक्षयकारकाः ॥

इति । युगादयोऽपि विष्णुपुराणोक्ता वेदितव्याः—

वैशाखमासस्य सिता तृतीया
 नवम्यसौ कार्तिकशुक्लपक्षे ।
 नभस्यमासस्य च कृष्णपक्षे
 त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे ॥ ‡

इति । गौतमस्तु श्वादीनां मध्यगमनेऽनध्यायमाह—

‘श्वनकुलसर्पमण्डूकमार्जारराणां त्रयहमुपवासो वि-
 प्रवासश्च’

इति । अत्रोपवासः प्रायश्चित्तम् । विप्रवासस्सहवासाभावं ।

‡ कल्यादिस्थ्यात्कृष्णपक्षे नभस्ये च त्रयोदशी ।

कार्तिके शुक्लनवमी त्वाषाढी कृतयुगस्य च ॥

त्रेतादीर्माधवे शुक्ले तृतीया पुण्यसंज्ञिता ।

इति ग. पुस्तकेऽधिकः पाठः.

सोऽपि त्रिरात्रमेव । श्वगोमायुमार्जारसर्पनकुलमूषिकानुवृत्तौ—

‘एतेषामेवाधीयानानामन्तरागमने त्रिरात्रमुपवास-

स्त्रयहं च विवसेत्’

इति हारीतस्मरणात् । एतेनार्थात्रयहमनध्याय इत्युक्तं भवति ।
वसिष्ठस्त्वहोरात्रोपवासमाह—

‘श्वमार्जारनकुलशीघ्रगानां त्वहोरात्रम्’

इति । अभोजनमिति शेषः, तस्यैवाधिकारात् । एतच्च त्रिरात्रा-
शक्तौ वेदितव्यम् । मार्जारगमने तु प्रायश्चित्तविशेषमाहोशना-

‘मार्जारान्तरागमने तु घृतं प्राश्य त्रयहमुपवसेत्’

इति । आपस्तम्बस्तु चण्डालादिव्यवाये षण्मासानध्ययनमाह—

‘चण्डालश्वपाकशशकस्य षण्मासान्’

इति । हस्तिव्याघ्रयोस्तु संवत्सरं वेदितव्यम् । तदाह स एव—

‘यदि हस्ती संवत्सरम् । व्याघ्रस्तथैव च’

इति । मनुस्तु पश्वादिगमने द्युनिशमनध्यायमाह—

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलादिभिः ।

अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

पशुमण्डूकनकुलश्वाहिमार्जारमूषिकैः ।

कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये ॥

शक्रपातोच्छ्रयोपलक्षितकाल इत्यर्थः । अत्र शक्रोच्छ्रयस्य काल-
माह गर्गः—

द्वादश्यां तु सिते पक्षे मासि प्रौष्ठपदे तथा ।

शक्रमुत्थापयेद्राजा विश्वश्रवणवासवे ॥

इति । विश्वशब्देन वैश्वदेवमुत्तराषाढानक्षत्रमुच्यते । वासवश-
ब्देन वसुदैवत्यं धनिष्ठानक्षत्रमुच्यते । शक्रपातोऽपि तस्मिन्नेव
मासे । तथा च पुराणम्—

मासि भाद्रपदे राजन् शक्रयष्टिप्रपातनम् ।

इति । अत्र याज्ञवल्क्यः—

श्वक्रोष्टृगर्दभोलूकसामवाणार्तनिस्वने^१ ।

क्रोष्टा सृगालः । उलूको गूकः । वाणो वीणा,

‘वाणश्शततन्तुर्भवति’

इति महाव्रते दर्शनात् । आर्तो दुःखितः । एतेषां निस्स्वने शब्दे
श्रूयमाणे तावत्कालं नाधीयीत,

‘एतांस्तात्कालिकान्विदुः’

इति तेनैवोक्तत्वात् । मनुरपि—

नीहारे वाणशब्दे च सन्धयोरुभयोरपि ।

एवं भेर्यादिनिस्स्वनेऽपि द्रष्टव्यम्,

‘वाणभेरीमृदङ्गगर्दार्तिशब्देषु’

इति गौतमस्मरणात् । गर्दशकटः । सामशब्दे तु ऋग्यजुषोरेवा-
नध्यायो नान्यस्य । तदाह मनुः—

सामध्वनौ ऋग्यजूंषि नाधीयीत कदा चन ।

यमोऽपि—

सामशब्दे नर्ग्यजूषी मारुते चातिवायति ।

इति । तत्र हेतुमाह मनुः—

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।

साववेदस्मृतः पित्रचस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥

इति । एवं मृदङ्गादिस्वनेऽपि साम्नामनध्यायः,

‘शाखान्तरे च साम्नामनध्यायः’

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । एवममेध्यादिसन्निधानेऽपि द्रष्टव्यम् ।

तथा च याज्ञवल्क्यः—

अमेध्यशवगूद्रान्स्मशानपतितान्तिके ।

अन्तिके समीपे । विष्णुरपि—

‘न गूद्रपतितयोस्समीपे न देवायतनश्मशानचतु-
प्पथरथ्यासु नोदकान्ते न पीठोपनिहितपादो न
वान्तो न विरिक्तो नाजीर्णः’

इति । मनुरपि—

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।

वासित्वा मैथुनं वासश्श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥

इति । अन्ते समीपे । मैथुनं वासः येन सह मैथुनमाचरितं तद्वासः
परिधायेत्यर्थः । एतदनिर्णिक्तवासोविषयम् । अत एव यमः—

वासस्यापि ह्यनिर्णिक्ते मैथुनाचरिते सदा ।

वसिष्ठोऽपि—

‘मैथुनव्यपेतायां शय्यायां वाससा च मिथुनव्य-
पेतेनानिर्णिक्तेन ग्रामान्तरे' छर्दितस्य'

इति । छर्दिते त्वहोरात्रमनध्यायः,

‘छर्दितश्राद्धमनुष्ययज्ञभोजनेष्वहोरात्रम्'

इति गौतमस्मरणात् । अथ वा घृतं प्राश्याधीयीत । तदाहा
पस्तम्बः—

‘छर्दयित्वा स्वप्नान्तं सर्पिर्वा प्राश्य'

इति । स्वप्नान्तमोदयादित्यर्थः । मनुस्तु ग्रामेऽपि नाधयीतेत्याह—

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।

धर्मनैपुणकामानां पूतिगन्धे च सर्वतः ॥

ये गृहीतवेदास्ते धर्मनैपुणकामाः । इतरे विद्यानैपुणकामाः ।

अनेन विद्यानैपुणकामानां ग्रामेष्वध्ययनमविरुद्धमित्याह । अत

एव वसिष्ठः—

‘नगरेषु कामं गोमयपर्युक्षिते परिलिखिते वा'

इति । अत एव मनुरपि—

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।

अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥

वसिष्ठोऽपि—

‘सन्ध्यास्वन्तश्शवदिवाकीर्णे’

इति । दिवाकीर्त्यश्चण्डालः । अन्तश्चण्डाले ग्रामे नाधीयीतेत्यर्थः ।

एतच्चतुष्पथादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा च प्रचेताः—

‘चतु^१ ष्पथमहापथरथ्यासूद्यानेषु न देवसमीपे’

अधीयीतेति शेषः । गौतमोऽपि—

‘श्मशानग्रामान्तमहापथाशौचेषु’

इति । श्मशाने तु विशेषमहापस्तम्बः—

‘श्मशाने सर्वतश्शम्याप्रासात् ग्रामेणाधयवसिते

क्षेत्रेण वा नानध्यायः । श्मशानवच्छूद्रपातितौ ।

समानागार इत्येके । शूद्रायां तु प्रेक्षणप्रतिप्रेक्षणयो-

रेवानध्यायः’

इति । तथाऽश्वारूढोऽपि नाधीयीत । तथा च मनुः—

नाधीयीताश्वमारूढो नवृ क्षं च न हस्तिनम् ।

न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।

नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे ।

न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके ॥

इति । इरिणमूषरम् । प्रौढपाद आसनाधारूढपादः । अवस-
क्थिका जान्वोर्मध्यस्थ^१ च वस्त्रादिना बन्धनम् । भुक्तमात्रे
यावदार्द्रपाणिरित्यर्थः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

देशेऽगुचावात्मानि च विद्युत्स्तनितसम्प्लवे ।

भुक्त्वाऽऽर्द्रपाणिर्म्भोऽन्तरर्धरात्रेऽतिमारुते ॥

सम्प्लवः पुनःपुनरुद्भवः । मनुरपि—

उदके मध्यरात्रे च विष्णूत्रस्य विसर्जने ।

उच्छिष्टश्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥

बोधायनोऽपि—

‘मनसाऽपि जननमरणयोरनध्यायः’

इति । मनुस्तु पांसुवर्षादावपि नाध्येतव्यमित्याह—

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।

श्वखरोष्ठ्रे च रुवाति पङ्क्तौ च न पठेद्विजः ॥

सर्वत्र ज्योतिषो दर्शनं दिग्दाहः । याज्ञवल्क्योपि—

पांसुवर्षे दिशां दाहे सन्ध्यानीहारभीतिषु ।

धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥

धावनस्त्वरितं गच्छतः । शिष्टे चोक्तलक्षणे गृहमागते तदनुज्ञाव-
धिरनध्याय इत्यर्थः । तथा च यमः—

आगतं चातिथिं दृष्ट्वा नाधीयीतैव बुद्धिमान् ।

अभ्यनुज्ञापिते तत्पिन्नध्येतव्यं प्रयत्नतः ॥

मनुरपि—

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वानि वा भृशम् ।

रुधिरे च स्रुते गात्राञ्छस्त्रेण च परिक्षते ॥

तथाऽनृतावब्रधर्शनेऽप्यनध्यायमाह गौतमः—

‘अब्रधर्शने चापतौ’

अब्रधं जलधरो मेघः । एवं वृक्षविशेषच्छायायामपि द्रष्टव्यम् ।

तथा च यमः—

श्लेष्मातकस्य छायायां शाल्मलेर्मधुकस्य च ।

कदा चिदपि नाध्येयं कोविदारकपित्थयोः ॥

इति । यत्पुनर्मनुनोक्तं—

द्रावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥

इति, तद्ब्रह्मयज्ञाध्ययनविषयम् । तथा च श्रुतिः—

‘तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्रावनध्यायौ यदात्माऽ-
शुचिर्यद्देशः’

इति । अत एव मनुः—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।

नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

इति । वेदोपकरणान्यङ्गानि । नित्यस्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञसम्बन्धी ।
शौनकोऽपि—

नित्ये जपे च काम्ये च क्रतौ पारायणेऽपि च ।

नानध्यायोऽस्ति वेदानां ग्रहणे^१ ग्रहणे स्मृतः^२ ॥

इति । एवमुक्तानध्यायाध्ययने दोषमाह लिखितः—

छिद्राण्येतानि विप्राणां येऽनध्यायाः प्रकीर्तिताः ।

छिद्रेभ्यस्स्रवति ब्रह्म ब्राह्मणेन यदार्जितम् ॥

तत्काले तस्य रक्षांसि श्रियं ब्रह्म यशो बलम् ।

सर्वमादाय गच्छन्ति वर्जयन्तीप्सितं फलम् ॥

यमोऽपि—

आयुः प्रज्ञां पशून्मेधां कृन्तामि सुकृतं च यत् ॥

अनध्यायेष्वभ्यसतो ब्रह्म व्याहरतस्तथा ॥

इन्द्रनारदसंवादेऽपि—

अनध्यायेष्वधीयानार्त्तिकं शक्र न गतोऽसि तान् ।

असुरास्ते दुरात्मानो ब्रह्मन्ना ब्रह्मदूषकाः ॥

अनध्यायेष्वधीतं हि नाधीतं यदि वैदिकम्^३ ।

मृतास्स्वर्गं न गच्छन्ति किं नारद न ते हताः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायामनध्यायः.

ब्रह्मचर्यकालावधिः

अथ ब्रह्मचर्यकालावधिः । तत्रापस्तम्बः—

^१ ग्राहणे— ग.

^२ ग्रहणे चाह योऽस्मृतः— हेमाद्रिः

^३ अनध्यायेष्वधीयन्ते न ते यानि स्यवैदिकम्— हेमाद्रिः.

‘उपेतस्याचार्यकुले ब्रह्मचारिवासः । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि । पादूनमर्धेन त्रिभिर्वा’
इति । त्रिभिः पादैरूनं द्वादश वर्षाणीत्यर्थः । एतच्चाशक्तौ वेदि-
तव्यम् । तथा च देवलः—

‘अतः परमष्टाचत्वारिंशद्वार्षिकीं वेदव्रतचर्यामाति-
ष्ठेदशक्तश्चेच्चतुर्विंशतिवार्षिकीं’ द्वादशवार्षिकीं वा’
इति । एतदपि प्रतिवेदाभिप्रायम् । यदाह बोधायनः—
‘अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि पौराणं वेदब्रह्मचर्यं चतु-
र्विंशतिं द्वादश वा प्रतिवेदम्’

इति । यमोऽपि—

वसेद्द्वादश वर्षाणि चतुर्विंशतिमेव वा ।

षड्विंशतं वा वर्षाणि प्रतिवेदं व्रतं चरेत् ॥

मनुस्तु वेदग्रहणान्तं ब्रह्मचर्यमित्याह—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदार्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥

अस्यार्थः—त्रैवेदिकमृग्यजुस्सामाख्यात्मकवेदत्रयाविषयम् । तत्
षड्विंशदाब्दिकं कार्यम् । एवं च प्रतिवेदं द्वादश वर्षाणि ब्रह्म-
चर्यव्रतं चरेदित्युक्तं भवति । अधिकपक्षे प्रतिवेदं षड्वर्षाणि ।
पादिके तु त्रीण्येव । याज्ञवल्क्योऽपि—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।

ग्रहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे ॥

¹ अशक्तश्चेत् षड्विंशद्वार्षिकीं चतुर्विंशतिवार्षिकीं प्र

केशान्तो गोदानारूपं कर्म । तत्तु षोडशे वर्षे कार्यमित्यर्थः ।

एतच्च ब्राह्मणविषयम् । यदाह मनुः—

केशान्तषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां ब्रह्मचर्यकालावधिः.

ब्रह्मचारिद्वैविध्यम्.

ब्रह्मचारिद्वैविध्यं—द्विविधो ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो नैष्ठिकश्च ।
तत्रोपकुर्वाणस्योक्ता धर्माः । अधुना नैष्ठिकब्रह्मचारिणो धर्मा
उच्यन्ते । तत्र याज्ञवल्क्यः—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ ।

तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥

उपकुर्वाणोक्तविधिनाऽऽत्मानं निष्ठामुत्क्रान्तिकालं गमयतीति
नैष्ठिकः । स पुनराचार्यादिसन्निधौ वसेत्, न समावर्तेतेत्यर्थः ।
अत्र च तदभाव इति सर्वत्रानुवर्तते । एवं च पत्न्यभा-
वेऽग्निं परिचरेदित्युक्तं भवति । एतच्च सपिण्डाभावविषयम् ।
यदाह मनुः—

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।

गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवदृत्तिमाचरेत् ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् ।

प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥

स्थानासनविहारवान् कालविशेषाश्रयणेन उत्थानोपवेशगमनवा-

नित्यर्थः । एतदप्यनूचानब्राह्मणगुर्वादिविषयमन्यथा दोषश्रवणात् । तदाह स एव—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।

ब्राह्मणे वाऽननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥

इति । तत्र वसतो ये धर्मास्तानाह बृहस्पतिः—

उपकुर्वाणकस्यैतत्समादिष्टं मया व्रतम् ।

अधुना संप्रवक्ष्यामि नैष्ठिकस्य समासतः ॥

सन्ध्याऽग्निकार्यं स्वाध्यायो भिक्षाऽधश्शयनं दया ।

आमृत्योर्नैष्ठिकं कुर्वन्ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥

इति । वसिष्ठाऽपि—

‘संयतवाक्चतुर्थषष्ठाष्टमकालभोजी भैक्षमाचरेत् ।

गुर्वधीनो जटिलश्शिखाजटो वा गुरुं गच्छ-

न्तमनुगच्छन्^१ आसीनं चेत्तिष्ठन्^२ शयानं चेदा-

सीन उपासीत । आहूताध्यायी^३ सर्वं लब्धं नि-

वेद्य^४ तदनुज्ञया भुञ्जीत । खट्वाशयनदन्तप्रक्षालना-

ञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी तिष्ठेदहनि रात्रावा-

सीत । त्रिरहोऽ^५ भ्युपेयादपः’

इति । अहनि त्रिरपोऽभ्युपेयान्तिषवणस्नायी स्यादित्यर्थः ।

देवलोऽपि—

^१ ष्टमकाले भैक्षभोजी ;

^२ गच्छेत् ;

^३ तिष्ठेत्.

^४ दासीनोऽध्यायी ;

^५ सर्वलब्धनिवेदितं ;

^६ वर्जस्थानासनशीलश्चिरहो—वयः.

‘ ब्रह्मसूत्राक्षमालादण्डकाष्टकुण्डिकामौञ्जीमेखला-
धारणं सकृद्भोजनमसकृदव 'गाहनसुभयकालम-
ग्रिहोत्रं सन्ध्योपासनमलुप्तलोमकेशनखत्वग्गन्ध-
मालयस्नेहाञ्जनाभ्यञ्जनवेषालङ्कारच्छत्रोपानद्वाहन-
लङ्घनप्लवनधावनचिकित्साज्यौतिषलक्षणवास्तु--
विद्यामङ्गलपौष्टिकशान्तिकर्मगान्धर्वसङ्घसमयबन्ध-
नाशिल्पलेखन² कारुकर्मवेश्मक्षेत्रद्रव्यधनधान्यपरि-
च्छदशस्त्रद्युतव्यवहारज्ञभावलीलापरिहासप्रणयकु-
हकविस्मापनविडम्बनविवादोत्सेकपारिदेवनरोदन-
पादो³ दूर्तनवर्जनम् ’

इति । हारीतस्त्वग्निपरिचर्याविधिमाह—

‘ यज्ञियास्समिध आहत्य संमार्जनोपलेपनो-
द्धोधनसमूहनसमिन्धनपर्यग्निकरणपरिक्रमोपस्था-
नहोमस्तोत्रनमस्कारादिभिरग्निं परिचरेन्नाग्निमधि-
तिष्ठेन्न पद्भ्यां कर्पेन्न मुखेनोपधमेत् । नापश्चाग्निं
च युगपद्धारयेत् । नाजीर्णभुङ्गार्थिभ्यो दद्यान्ने-
न्धनेभ्यो दधदतिक्रामेन्न⁴ निष्ठीवेद्विविधचरुहवि-

¹ दप्स्वव ; ² लेख्यलेखन ; ³ वस्तिनस्यपादो—अपरार्कपाठः.

⁴ नाजीर्णभुक्त उच्छिष्टो वाऽभ्यादभ्यान्नेन्धनेभ्योऽभ्यादधद्वाऽतिक्रामेत्—
अपरार्कपाठः.

ध्यानविशेषैराग्नेयैरहरहराग्निमिन्धेतामन्त्रं च गच्छेत् ।
हृत्य निवेदयेत् '

इति । एवं कुर्वतः फलमाह मनुः—

आ समाप्ते शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।

स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणस्सद्यः शाश्वतम् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

अनेन विधिना देहं साधयन् विजितेन्द्रियः ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः ॥

यमोऽपि—

आ निपाताच्छरीरस्य ये चरन्त्यूर्ध्वरेतसः ।

ते यान्ति ब्रह्मणस्स्थानं जायन्ते न पुनर्भुवि ॥

यत्तु हारीतेनोक्तम्—

मृत्योः परस्ता¹ दमृता भवन्ति

ये ब्राह्मणा ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।

इति, तद्ब्रह्मविनैष्ठिकविषयं,

‘सर्वे ते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’

इति श्रुतेः । सर्व एते चत्वार आश्रमिणः कर्म कुर्वाणाः पुण्यलो-
का भवन्ति । यः पुनरेषां मध्ये ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मनिष्ठस्सोऽमृतत्व-
मपुनरावृत्तिलक्षणं फलमेति । एतच्च नैष्ठिकत्वं कुब्जादीनां
नित्यमित्यहं विष्णुः—

कुब्जवामनजात्यन्धकलीवपङ्गुतारोगिणाम् ।

व्रतचर्या भवेत्तेषां यावज्जीवमनंशतः ॥

अनंशतः अंशाभावादित्यर्थः । सङ्ग्रहकारोऽपि—

पङ्गुादीनामनंशत्वा'दसामर्थ्याच्च शास्त्रतः ।

नियतं नैष्ठिकत्वं स्यात्कर्मस्वनधिकारतः ॥

इति । नन्वेवं तर्हि कुब्जादीनामेव नैष्ठिकत्वमस्तु नेतरेषाम् । मैवं,

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोःकुले^२ ।

युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥

इति पाक्षिकत्वप्रतिपादकमनुवचनाविरोधात् । न हि कुब्जादीनां
पाक्षिकं नैष्ठिकत्वमस्ति । ननु च यदीतरेषामपि नैष्ठिकत्व-
मस्ति, तर्हि

‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्’

इति गृहस्थधर्मविधायिका श्रुतिर्वाध्येत । मैवं, नैष्ठिक-
त्वस्य पाक्षिकत्वेन विषयान्तरसम्भवात् ; ये हि स्त्रीरागवशा-
द्गार्हस्थ्यमेव कामयन्ते तद्विषयेयं यावज्जीविका श्रुतिरित्यवि-
रोधः । तथा च जाबालिः—

‘गृही वनं प्रविशेत् । यदि गृहमेव कामयेत तदा

यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्’

इति । युक्तं चैतत्, अन्यथा—

^१ मनङ्गत्वा—वैद्य.

^२ यदि त्वात्यन्तिको वासो रोचेतास्मै गुरोः कुले—क.

नित्यर्थः । एतदप्यनूचानब्राह्मणगुर्वादिविषयमन्यथा दोषश्रवणात् । तदाह स एव—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।

ब्राह्मणे वाऽननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥

इति । तत्र वसतो ये धर्मास्तानाह बृहस्पतिः—

उपकुर्वाणकस्यैतत्समादिष्टं मया व्रतम् ।

अधुना संप्रवक्ष्यामि नैष्ठिकस्य समासतः ॥

सन्ध्याऽग्निकार्यं स्वाध्यायो भिक्षाऽधश्शयनं दया ।

आमृत्योर्नैष्ठिकं कुर्वन्ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥

इति । वसिष्ठाऽपि—

‘संयतवाक्चतुर्थषष्ठाष्टमकालभोजी भैक्षमाचरेत्¹

गुर्वधीनो जटिलिशखाजटो वा गुरुं गच्छ-

न्तमनुगच्छन्² आसीनं चेत्तिष्ठन्³ शयानं चेदा-

सीन उपासीत । आहूताध्यायी⁴ सर्वं लब्धं नि-

वेद्य⁵ तदनुज्ञया भुञ्जीत । खट्वाशयनदन्तप्रक्षालना-

ञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी तिष्ठेदहनि रात्रावा-

सीत । त्रिरहोऽ⁶ भ्युपेयादपः’

इति । अहनि त्रिरपोऽभ्युपेयान्तिषवणस्नायी स्यादित्यर्थः ।

देवलोऽपि—

¹ ष्टमकाले भैक्षभोजी ;

² गच्छेत् ;

³ तिष्ठेत्.

⁴ दासीनोऽध्यायी ;

⁵ सर्वलब्धनिवेदितं ;

⁶ वर्जस्थानासनशीलस्त्रिरहो—वयः.

‘ ब्रह्मसूत्राक्षमालादण्डकाष्ठकुण्डिकामौञ्जीमेखला-
धारणं सकृद्भोजनमसकृदव^१ गाहनसुभयकालम-
ग्निहोत्रं सन्ध्योपासनमलुप्तलोमकेशनखत्वग्गन्ध-
मालयस्नेहाञ्जनाभ्यञ्जनवेषालङ्कारच्छत्रोपानद्वाहन-
लङ्घनप्लवनधावनचिकित्साज्यौतिषलक्षणवास्तु--
विद्यामङ्गलपौष्टिकशान्तिकर्मगान्धर्वसङ्गसमयबन्ध-
नाशिलपलेखन^२ कारुकर्मवेश्मक्षेत्रद्रव्यधनधान्यपरि-
च्छदशस्त्रद्यूतव्यवहारज्ञभावलीलापरिहासप्रणयकु-
हकविस्मापनविडम्बनविवादोत्सेकपरिदेवनरोदन-
पादो^३ द्वर्तनवर्जनम् ’

इति । हारीतस्त्वग्निपरिचर्याविधिमाह—

‘ यज्ञियास्समिध आहृत्य संमार्जनोपलेपनो-
द्बोधनसमूहनसमिन्धनपर्यग्निकरणपरिक्रमोपस्था-
नहोमस्तोत्रनमस्कारादिभिरग्निं परिचरेन्नाग्निमधि-
तिष्ठेन्न पद्भ्यां कर्पेन्न मुखेनोपधमेत् । नापश्चाग्निं
च युगपद्वारयेत् । नाजीर्णभुङ्गार्थिभ्यो दद्यान्ने-
न्धनेभ्यो दधदतिक्रामेन्न^४ निष्ठीवेद्विविधचरुहवि-

^१ दप्स्वव ; ^२ लेख्यलेखन ; ^३ वास्तिनस्यपादो—अपरार्कपाठः.

^४ नाजीर्णभुक्त उच्छिष्टो वाऽभ्यादध्यान्नेन्धनेभ्योऽभ्यादधद्वाऽतिक्रामेत्—
अपरार्कपाठः.

ध्यानविशेषैराग्नेयैरहरहराग्निमिन्धेतामन्त्राय गच्छेदा-
हृत्य निवेदयेत् '

इति । एवं कुर्वतः फलमाह मनुः—

आ समाप्तेशरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणस्सद्ग शाश्वतम् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

अनेन विधिना देहं साधयन्विजितेन्द्रियः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः ॥

यमोऽपि—

आ निपाताच्छरीरस्य ये चरन्त्यूर्ध्वरेतसः ।
ते यान्ति ब्रह्मणस्स्थानं जायन्ते न पुनर्भुवि ॥

यत्तु हारीतेनोक्तम्—

मृत्योः परस्ता¹ दमृता भवन्ति
ये ब्राह्मणा ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।

इति, तद्ब्रह्मविन्नैष्ठिकविषयं,

‘सर्वे ते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’

इति श्रुतेः । सर्व एते चत्वार आश्रमिणः कर्म कुर्वाणाः पुण्यलो-
का भवन्ति । यः पुनरेषां मध्ये ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मनिष्ठस्सोऽमृतत्व-
मपुनरावृत्तिलक्षणं फलमेति । एतच्च नैष्ठिकत्वं कुब्जादीनां
नित्यमित्यह विष्णुः—

कुब्जवामनजात्यन्धक्लीवपङ्गुतारोगिणाम् ।

व्रतचर्या भवेत्तेषां यावज्जीवमनंशतः ॥

अनंशतः अंशाभावादित्यर्थः । सङ्ग्रहकारोऽपि—

पङ्गुादीनामनंशत्वा¹दसामर्थ्याच्च शास्त्रतः ।

नियतं नैष्ठिकत्वं स्यात्कर्मस्वनधिकारतः ॥

इति । नन्वेवं तर्हि कुब्जादीनामेव नैष्ठिकत्वमस्तु नेतरेषाम् । मैवं,

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोःकुले² ।

युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥

इति पाक्षिकत्वप्रतिपादकमनुवचनविरोधात् । न हि कुब्जादीनां पाक्षिकं नैष्ठिकत्वमस्ति । ननु च यदीतरेषामपि नैष्ठिकत्वमस्ति, तर्हि

‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्’

इति गृहस्थधर्मविधायिका श्रुतिर्वाध्येत । मैवं, नैष्ठिकत्वस्य पाक्षिकत्वेन विषयान्तरसम्भवात् ; ये हि स्त्रीरागवशाद्गार्हस्थ्यमेव कामयन्ते तद्विषयेयं यावज्जीविका श्रुतिरित्यविरोधः । तथा च जाबालिः—

‘गृही वनं प्रविशेत् । यदि गृहमेव कामयेत तदा

यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्’

इति । युक्तं चैतत्, अन्यथा—

¹ मनङ्गत्वा—वैद्य.

² यदि त्वात्यन्तिको वासो रोचेतास्मै गुरोः कुले—क.

‘यमिच्छेत्तमाविशेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव
प्रव्रजेत्’

इत्यादयो बाध्येरन् । ननु च स्मार्तनैष्ठिकत्वस्य श्रौताग्नि-
होत्रादिना बाध एवास्तु । मैवं, तस्यापि

‘ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी द्वितीयोऽत्यन्तमात्मानमा-
चार्यकुलेऽवसादयेत्’

इत्येतच्छ्रुतिमूलत्वेनाविशेषात् । अतो न ब्रह्मचारिद्वैविध्यमपहातुं
शक्यम् । उक्तं च हारीतेन—

‘द्विविधो ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो नैष्ठिकश्च’

इति । ननु ब्रह्मचारिद्वैविध्ये चत्वार आश्रमा इत्यापस्तम्बादि-
वचनं बाध्येत । मैवं, सङ्कल्पभेदमात्रेण नित्यकाम्याग्निहोत्रवदन-
योरभेदोपपत्तेः । अत एव दक्षः—

द्वितीयो नैष्ठिकश्चैव तस्मिन्नेवाश्रमे स्थितः ।

इति । ‘तस्मिन्नेवाश्रमे’ इति वदन् तद्धर्मातिदेशमाह । अत एव
गौतमः—

‘तत्रोक्तं ब्रह्मचारिणः’

इति । तत्रोपकुर्वाणप्रकरणे यदुक्तमग्निन्धनभैक्षचर्यादिकं तन्नै-
ष्ठिकस्यापि भवतीत्यर्थः ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां ब्रह्मचारिप्रकरणम्.

आश्रमसमुच्चयविकल्पौ.

अथाश्रमसमुच्चयविकल्पौ । तत्रं समुच्चयं प्रकृत्याह मनुः—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥

सर्वेऽपि क्रमशस्तेवते यथाशास्त्रं निषेविताः ।

यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥

गृहस्थप्रभवास्तदुपजीविन इत्यर्थः । क्रमश इत्यनेनाश्रमप्रातिलो-
म्यं प्रतिषिद्धमित्याह । अत एव दक्षः—

त्रयाणामानुलोम्यं स्यात्प्रातिलोम्यं न विद्यते ।

प्रातिलोम्येन यो याति न तस्मात्पापकृत्तमः ॥

इति । अत एव मृतभार्येण पुनर्विवाहासामर्थ्ये न ब्रह्मचारिणा
भवितव्यमित्याह स एव—

यो गृहाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत्पुनः ।

न यतिर्न वनस्थश्च स सर्वाश्रमवर्जितः ॥

इति । आपस्तम्बोऽपि समुच्चयमेवाह—

‘चत्वार आश्रमाः गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वान-
प्रस्थ्यमिति । तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्त-
मानः क्षेमं गच्छति’

इति । पुराणेऽपि—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।

अप्रमत्तो भवान्येन^१ मागाः पुत्र कुवर्त्मना ॥

जाबालिश्रुतिस्तु चतुर्णां त्रयाणां द्वयोर्वा समुच्चयमाह—

^१ मत्तोऽप्रतानेन — ग,

‘ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा
वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथां
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । गृहाद्वा वनाद्वा । ’

मनुस्तु सकलसमुच्चये¹ कालव्यवस्थामाह—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥
वनेषु तु विद्वत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥
‘ शतायुर्वै पुरुषः ’

इति श्रुत्यभिहितायुषश्चतुर्थो भागः पञ्चविंशतिवर्षाणीत्यर्थः ॥ एवं
कुर्वतः फलमाह हरीतः—

अनेन विधिना यो हि आश्रमानुपसेवते ।
स सर्वलोकान्निर्जित्य ब्रह्मलोकाय कल्पते ॥

इति । यत्तु गौतमेनोक्तं—

‘ एकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य’

इति, तद्गार्हस्थ्यस्य श्रैष्ठ्यप्रतिपादनपरम् । इतरेषामपि—

‘ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा
वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । ’

‘अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयीत’

¹ कालसमुच्चये. — क ख.

इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वेनाविशेषात् । अत एव वसिष्ठः—

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः ।

चतुर्णामाश्रमाणां च गृहस्थश्च विशिष्यते ॥

मनुरपि—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठस्स त्रीनेतान्विभर्ति हि ॥

यथा नदीनदास्सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिणस्सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

वसिष्ठस्तु चतुर्णामाश्रमाणां विकल्पमाह—

‘चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्रा-
जकाः । तेषां वेदमधीत्य वेदौ वा वेदान्वाऽवि-
शीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत् ।’

इति । वेदं वेदौ वेदान्वेति फलभूयस्त्वाभिप्रायम् । वेदमधीत्यावि-
पुत्रब्रह्मचर्यस्तेषामाश्रमाणां मध्ये यमिच्छेत्तमावसेत् आश्रयेत्
तत्रैव निष्ठां यायादित्यर्थः । भविष्यपुराणेऽपि—

गार्हस्थ्यमिच्छन्भूपाल कुर्याद्धारपरिग्रहम् ।

ब्रह्मचर्येण वा कालं नयेत्सङ्कल्पपूर्वकम् ॥

वैखानसो वाऽपि भवेत्परिव्राडथ वेच्छया ।

गौतमोऽपि—

‘तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते’

इति । उशनसाऽप्युक्तम्—

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।

आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि ॥

इति । एवं च यस्य समुच्चयानुष्ठानसामर्थ्यं नास्ति तस्यायं विकल्प इति मन्तव्यम् । आ विमोक्षादनुतिष्ठोदित्यनेन आश्रमिणा स्थातव्यमित्याह । अत एव दक्षः—

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ।

आश्रमेण विना तिष्ठन्प्रायश्चित्ती यतो^१ हि सः ॥

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये वा रतस्सदा ।

नासौ फल^२ भवामोति कुर्वाणोऽप्याश्रमाद्बुध्यतः ॥

हारीतोऽपि—

अनाश्रमी व्यपेतश्च आश्रमी च निरर्थकः ।

मिथ्या^३श्रमी च सर्वे वै निरयं यान्ति मानवाः ॥

इति । एतच्चाश्रमचतुष्टयं ब्राह्मणादिवर्णत्रयस्य वेदितव्यम् ।

अत एव कल्पानां सूत्रकारः—

‘त्रयाणां वर्णानां चत्वारं आश्रमाः’

इति । एवं च यदुक्तं मनुना—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।

इति, तद्विजात्युपलक्षणार्थमिति मन्तव्यम् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायामाश्रमनिर्णयः.

^१ न्यायश्चित्तीयते—क.

^२ न तत्फल—क.

^३ बृथा—ख.

समावर्तनम्

अथ समावर्तनम् । तत्र दक्षः—

स्वीकरोति यदा वेदं चरेद्वेदव्रतानि च ।

ब्रह्मचारी भवेत्तावद्ध्वं स्नातो गृही भवेत् ॥

व्रतानि ब्रह्मचर्यम् । वेदस्वीकरणं वेदार्थविचारस्यापि प्रदर्शनार्थम् । अत एव स्मृत्यन्तरं—

‘वेदमधीत्य छन्दोविषयानर्थान्बुध्वा स्नायात्’

इति । लघुव्यासोऽपि—

ऋक्पादमप्यधीसातो न्यायतस्तु तदर्थवित् ।

सम्यग्व्रतानि संसेव्य समावर्तनमर्हति ॥

इति । न्यायतो गुरुमुखावेक्षणाद्युक्तन्यायेनेत्यर्थः । एतच्च समुच्चय-सम्पादनसमर्थविषयम् । अथ वा^१ व्रतमात्रसमाप्तावपि स्नानं भवत्येव । तदाह याज्ञवल्क्योऽपि—

गुरवे तु वरं दत्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा हुयभयमेव वा ॥

पूर्वोक्तन्यायेन वेदं व्रतान्युभयं वा पारं नीत्वा समाप्य गुरवे वर-मभिलषितं दत्वा समावर्तेतेत्यर्थः । एतेन स्नातकत्रैविध्यं प्रतिपा-दितं भवति । यदाह हारीतः—

‘त्रयस्स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको

विद्याव्रतस्नातकश्च’

^१ अन्यथा तु. क.

इति । यस्समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यस्तु समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदं स व्रतस्नातकः । यः पुनरुभयं समाप्य स्नाति स विद्याव्रतस्नातक इति । एवं च व्रतस्नातकस्य परिणयनोत्तरकालमध्ययनसमापनं तदर्थज्ञानं चेति मन्तव्यम् । यत्तु,

गुरुशुश्रूषया विद्यां सम्प्राप्य विधिवद्विजः ।

स्नायीत गुर्वनुज्ञातो दत्त्वाऽस्मै दक्षिणां हि गाम् ॥

इति व्यासेन गोदानमुक्तं, तदापि प्रीतिसाधनद्रव्योपलक्षणार्थम् । अत एव मनुः—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमन्ततः ।

धान्यं वासांसि शाकं वा गुरवे प्रीतिमाहरेत् ॥

अनेन सति सम्भवे प्रकृष्टमेव देयमित्युक्तं भवति । अत एव लघुहारीतः—

एकमध्यक्षरं यस्तु गुरुशिशुष्ये^१ निवेदयेत् ।

पृथिव्यां नास्ति तद्रूपं यद्वत्त्वा त्वनृणी भवेत् ॥

एतच्च दक्षिणादानमाश्रमान्तरप्रवेशेऽपि वेदितव्यम् । तथाच नृसिंहपुराणं—

गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स यमिच्छेत्तमावसेत्

इति । यस्य पुनर्दक्षिणादानसामर्थ्यं नास्ति तस्य तदनुज्ञायां^२ स्नानम् । तथा च गौतमः—

‘विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्रयः । कृत्वाऽनुज्ञातस्य
वा स्नाम्’

इति । विद्यान्ते गुरुमर्थेन हेतुना निमन्त्रय प्रष्टव्यं ‘कोऽर्थस्तुभ्यं
मया दातव्यः’ इति । तमर्थमाचार्याय दत्त्वा स्नायात् । अश-
क्तस्तदनुज्ञया वेत्यर्थः । ‘विद्यान्ते दद्यात्’ इत्यनेन पूर्वं निषेध-
माह । अत एव मनुः—

न पूर्वं गुरवे किं चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।

स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तशक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥

एतदपि भृतिप्रदानाभिप्रायम् । इतरस्यानिषेधात् । अत एव यमः—

यतो धर्मागमो न स्यान्न शुश्रूषाधनागमौ ।

विद्यया सह मर्तव्यं न विद्यामूषरे वपेत् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां समावर्तनम्.

विवाहः

उक्ता गुरुकुलान्निवृत्तिरूपकुर्वाणस्य । तस्येदानीं विवाह उच्यते ।
तत्र मनुः—

गुरुणा समनुज्ञातस्समावृत्तो यथाविधि ।

उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्वितात् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

अविप्रुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।

विप्रुतिस्स्वलनम् । लक्षण्या लक्षणयुक्ता । सा च किंलक्षणा
भवतीत्युक्ते स एवाह—

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसाम् ।

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्घगोत्रजाम् ॥

अनन्यपूर्विका या दानेनोपभोगेन वा पुरुषान्तरपूर्विका न भवति सा । कान्ता कमनीया परिणेतुर्मनसः आनन्दकारिणी त्यर्थः । आपस्तम्बोऽपि—

‘यस्यां मनश्चक्षुषोर्नीबन्धस्तस्यामृद्धिः’

इति । समान एकः पिण्डो यस्यास्सा सपिण्डा । न सपिण्डा असपिण्डा । एकपिण्डता चैकस्यां पिण्डदानक्रियायां दातृत्वेन देवतात्वेन लेपभाक्तेन वाऽनुप्रवेशाद्भवति । तथा च मन्त्रपुराणम्—
लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदस्सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपूरुषम् ॥

चतुर्थाद्याः प्रपितामहस्य पितृप्रभृतयः उत्तरे त्रयो लेपभाजो भवन्ति पित्राद्यास्तु त्रयः पिण्डभागिनः पिण्डदाने देवता-
भूताः तेषां सप्तमः पिण्डदाता । एवमेते सप्त सपिण्डा भवन्ति । एकपिण्डदानक्रियानुप्रवेशिनस्सपिण्डा इत्यर्थः । ननु यद्येकपि-
ण्डक्रियानुप्रवेशात्सापिण्ड्यं तर्हि भ्रातृणां भिक्षाक्रियानुप्रवे-
शिनां तदभावेनान्योन्यं सापिण्ड्यं न स्यात् । मैवं, एको-
द्देश्या¹ वच्छेदेनैकक्रियान्वयित्वसम्भवात् । ये हि पुत्रनिष्पा-
द्यक्रियानुप्रवेशिनः पित्रादयस्त एव पुत्रान्तरोत्पाद्यक्रियायाम
पीति व्यक्तमेकोद्देशान्वयित्वम् । अत एव पितामहादेस्स

¹द्देशा—क,

न्ततिजातानां पुत्रेण सह सापिण्ड्यसिद्धिः । पुत्रक्रियान्व-
यिनः पितामहादेस्तत्क्रियासम्बन्धात् । यदा त्वेकस्यापि
पितामहादेस्तत्क्रियासम्बन्धो नास्ति तदोद्देश्यभेदेन क्रियाभेदा
त्सापिण्ड्यनिवृत्तिः । तदाह मनुः—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।

इति । गौतमोऽपि—

‘ पिण्डनिवृत्तिस्सप्तमे पञ्चमे वा ’

इति । भार्यायाश्च सहकर्तृत्वात्सापिण्ड्यसिद्धिः । एवं सर्वत्र सा-
पिण्ड्यनिवृत्त्यनुवृत्ती द्रष्टव्ये । नन्वेवं तर्हि पुत्रदौहित्रयोरेकपि
ण्डक्रियानुप्रवेशेनोत्सापिण्ड्यं प्रसज्येत । सत्यं, यद्यसौ दौहित्रः
पुत्रेण सह समानगोत्रस्यात् अत्रैकगोत्रत्वमुपाधिरिति भावः ।
अत एव पुत्रीकरणादावस्ति दौहित्रस्यापि पुत्रेण सह सापिण्ड्यमिति
वक्ष्यामः । तेन नातिप्रसक्तिः । यवीयसी जन्मतः प्रमाणतश्च ।
अरोगिणी अदीर्घरोगा इतरस्य शक्यपरिहारत्वात् । भ्रातृमती
पुत्रिकाकरणभयात् । यदाह मनुः—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।

नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥

यस्याः पिता पुत्रिकाकरणाभिप्रायवान्न वेति न विज्ञायेतेत्यर्थः ।
अनेन विना¹ पुत्रेण सह सम्प्रतिपत्तिं पितुस्तङ्कल्पमात्रात्पुत्रि-
का भवतीति गम्यते । अत एव गौतमः—

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसाम् ।

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्घगोत्रजाम् ॥

अनन्यपूर्विका या दानेनोपभोगेन वा पुरुषान्तरपूर्विका न भवति सा । कान्ता कमनीया परिणेतुर्मनसः आनन्दकारिणी त्यर्थः । आपस्तम्बोऽपि—

‘यस्यां मनश्चक्षुषोर्नोबन्धस्तस्यामृद्धिः’

इति । समान एकः पिण्डो यस्यास्सा सपिण्डा । न सपिण्डा असपिण्डा । एकपिण्डता चैकस्यां पिण्डदानक्रियायां दातृत्वेन देवतात्वेन लेपभाक्तेन वाऽनुप्रवेशाद्भवति । तथा च मन्त्रपुराणम्—
लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदस्सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपूरुषम् ॥

चतुर्थाद्याः प्रपितामहस्य पितृप्रभृतयः उत्तरे त्रयो लेपभाजो भवन्ति पित्राद्यास्तु त्रयः पिण्डभागिनः पिण्डदाने देवता-
भूताः तेषां सप्तमः पिण्डदाता । एवमेते सप्त सपिण्डा भवन्ति । एकपिण्डदानक्रियानुप्रवेशिनस्सपिण्डा इत्यर्थः । ननु यद्येकपि-
ण्डक्रियानुप्रवेशात्सापिण्ड्यं तर्हि भ्रातृणां भिन्नाक्रियानुप्रवे-
शिनां तदभावेनान्योन्यं सापिण्ड्यं न स्यात् । मैवं, एको-
द्देश्या¹ वच्छेदेनैकक्रियान्वयित्वसम्भवात् । ये हि पुत्रनिष्पा-
द्यक्रियानुप्रवेशिनः पित्रादयस्त एव पुत्रान्तरोत्पाद्यक्रियायाम
पीति व्यक्तमेकोद्देशान्वयित्वम् । अत एव पितामहादेस्स

न्ततिजातानां पुत्रेण सह सापिण्ड्यसिद्धिः । पुत्रक्रियान्व-
यिनः पितामहादेस्तत्क्रियासम्बन्धात् । यदा त्वेकस्यापि
पितामहादेस्तत्क्रियासम्बन्धो नास्ति तदोद्देश्यभेदेन क्रियाभेदा
त्सापिण्ड्यनिवृत्तिः । तदाह मनुः—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।

इति । गौतमोऽपि—

‘ पिण्डनिवृत्तिस्सप्तमे पञ्चमे वा ’

इति । भार्यायाश्च सहकर्तृत्वात्सापिण्ड्यसिद्धिः । एवं सर्वत्र सा-
पिण्ड्यनिवृत्त्यनुवृत्ती द्रष्टव्ये । नन्वेवं तर्हि पुत्रदौहित्रयोरेकपि
ण्डक्रियानुप्रवेशेनास्सापिण्ड्यं प्रसज्येत । सत्यं, यद्यसौ दौहित्रः
पुत्रेण सह समानगोत्रस्यात् अत्रैकगोत्रत्वमुपाधिरिति भावः ।
अत एव पुत्रीकरणादावस्ति दौहित्रस्यापि पुत्रेण सह सापिण्ड्यमिति
वक्ष्यामः । तेन नातिप्रसक्तिः । यवीयसी जन्मतः प्रमाणतश्च ।
अरोगिणी अदीर्घरोगा. इतरस्य शक्यपरिहारत्वात् । भ्रातृमती
पुत्रिकाकरणभयात् । यदाह मनुः—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।

नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥

यस्याः पिता पुत्रिकाकरणाभिप्रायवान्न वेति न विज्ञायेतेत्यर्थः ।
अनेन विना¹ पुत्रेण सह सम्प्रतिपत्तिं पितुस्तङ्कल्पमात्रात्पुत्रि-
का भवतीति गम्यते । अत एव गौतमः—

‘ अभिसन्धिमात्रपुत्रिकेत्येकेषाम् ’

इति । सा च कथं पुत्रिका भवतीत्यपेक्षिते मनुराह—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥

इति । वसिष्ठोऽपि—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।

अस्यां यो जायते पुत्रस्स मे पुत्रो भवेदिति ॥

इयमेव पुत्र इति वा पुत्रिकाकरणं,

‘ शासद्वद्भिर्दुहितुर्नप्त्यं गात् ’

इति श्रुतेः । एतच्च निरुक्ते व्याख्यातं—

‘ प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्त्रणे दुहितुः पुत्रभावम् ’

इति । असमानार्षगोत्रजां, समानमार्षं प्रवरो यस्य स समानार्षः । तस्माज्जातां समानार्षजातां नोद्वहेदित्यर्थः । अत एव गौतमः—

‘ असमानप्रवरैर्विवाहः ’

इति । समानता च नामतो वेदितव्या । यदाह बोधायनः—

एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनुवर्तते ।

तावत्समानगोत्रत्वमन्यत्र भृग्वङ्गिरोगणात् ॥

इति । समानगोत्रत्वं समानप्रवर इत्यर्थः । कथं तर्हि भृग्वङ्गिरोगणेष्वित्यपेक्षिते सङ्ग्रहकार आह—

पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः ।

भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवं शेषेष्वेकं निवारयेत्^१ ॥

पञ्चार्षेयाणामृषित्रयानुवृत्तौ मिथो न विवाह इत्यर्थः । बोधा-
यनोऽपि—

‘द्वार्षेयसन्निपातेऽविवाहस्त्र्यार्षेयाणां त्र्यार्षेयस-
न्निपातेऽविवाहः पञ्चार्षेयाणाम्’

इति । सन्निपाते साम्य इत्यर्थः । गोत्रं च वंशपरम्पराप्रसिद्धम् ।
गोत्रप्रवरौ च पृथक्पृथक्पर्युदासे निमित्तम् । तत्र यास्कवाधौल-
मौनमौकानां गोत्रभेदेन विवाहे प्राप्ते तन्मा भूदिसमाना-
र्षग्रहणम् । तेषां भार्गववैतहव्यसावेदसेति प्रवरैक्यात् ।
यत्र तु प्रवरविकल्पः तत्रापि प्रवरभेदेन विवाहप्राप्तौ तत्प्रति-
पेधार्थमसमानगोत्रग्रहणम् । एवं चासमानार्षजामसमानगोत्रजा-
मुद्रेहेदित्युक्तं भवति । न च समानार्षग्रहणं गोत्रविशेषण-
मिति शङ्कनीयं—

परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा ।

त्यागं कृत्वा ततस्तस्या द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति भेदेन स्मरणात् । त्यागश्चात्रोपभोगस्यैव न पुनस्त-
स्याः । यदाह शातातपः—

समानप्रवरां कन्यामेकगोत्रामथापि वा ।

^१ एकोऽपि वारयेत्— क, ख, ग.

विवाहयति यो मूढस्तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥

उत्सृज्य तां तथा भार्यां मातृवत्परिपालयेत् ।

यस्तु तत्र प्रजामुत्पादयति स स्वजात्यादिना हीयत इत्या-
हापस्तम्बः—

समानगोत्रप्रवरां कन्यामूढोपगम्य च ।

तस्यामुत्पाद्य चण्डालं ब्राह्मण्यदेव हीयते ॥

इति । ननु चासमानार्थगोत्रजामिखनेनैव परिणेतुस्सापिण्डायाः
पर्युदासे सिद्धे किमिति पुनरसपिण्डामित्युक्तम् ? उच्यते;
सत्यमेवम्; तथाऽपि या मातुरसपिण्डा भवति सैवोद्वाहक-
र्मणि प्रशस्तेति वक्तुम् । तथा च मनुः—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

या परिणेतुर्मातुश्च सपिण्डा न भवति या परिणेतुः पितुश्च न
सगोत्रा सा च विवाहकर्मणि प्रशस्तेत्यर्थः । ननु च माता दान-
समकालमेव पितृसापिण्डयं तद्गोत्रं च हित्वा पतिसापिण्डयं
तद्गोत्रं च प्रतिपद्यते । तत्कथम् 'असपिण्डा च या मातुः'
इति । तदुक्तं—

एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके ।

इति । पतिसापिण्डैरेव पत्न्यास्सापिण्डयं न स्वपित्रादिभिरि-
त्यभिप्रायः । सत्यम्; नास्ति मातुस्स्वपित्रादिभिस्सह सापि-

ण्डयं यदि तस्यास्त्यागपूर्वको विवाहस्स्यात् । त्यागे हि स्वत्वनिवृत्तिवत्सापिण्ड्यसगोत्रत्वयोरपि निवृत्तिः । अनेनैवाभिप्रायेणोक्तम्—

एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके ।

इति । अत एव दत्तपुत्रादेस्त्यागेनैव पितृगोत्रादिनिवृत्तिसिद्धा^१ । अन्यथा 'असगोत्रा च या पितुः' इत्यत्र पितृग्रहणमनर्थकं स्यात् । उक्ता च गोत्रादिनिवृत्तिर्मुना—

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेदात्तिमस्मुतः^२ ।

गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतस्स्वधा ॥

इति । एवं च पुत्रिकाया विवाहो नैव प्रदानपूर्वक इति न तत्र सापिण्ड्यसगोत्रत्वयोर्निवृत्तिः । अत एव वसिष्ठोऽप्यप्रत्तानां त्रिपूरुषं सापिण्ड्यमाह—

‘अप्रत्तानां स्त्रीणां त्रिपूरुषं सापिण्ड्यम्’

इति । न च पुत्रिकाविवाहेऽपि तस्याः प्रदानमस्तीति शङ्कानीयम् । प्रदाने तु गोत्रादिनिवृत्तिवत्पुत्रिकात्वस्यापि निवृत्ति^३स्तन्निवृत्तौ च तत्कार्यकर्तृत्वं न स्यात् । श्रूयते च तस्याः पुत्रकार्यकरत्वम्—

‘अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची’

^१ निवृत्तिसिद्धिः— ग.

^२ दत्तिमः कचित्— मुद्रितपुस्तकपाठः.

^३ निवृत्तेस्त— गः

इति । एतदपि निरुक्ते व्याख्यातम्—

‘अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्याभिमुखी सन्तानकर्मणि
पिण्डदानाय नयति’

इति । अतश्च पुत्रिकायाः प्रदानाभावेन स्वापितृसापिण्डयं सगो-
त्रत्वं च सिद्धम् । अत एव लोगाक्षिः—

मातामहस्य गोत्रेण मातुः पिण्डोदकक्रियाम् ।

कुर्वीत पुत्रिकापुत्र एवमाह प्रजापतिः ॥

एवमासुतादिविवाहेष्वपि सगोत्रत्वादेरनिवृत्तिः । तत्रापि प्रदा-
नाभावात् । अत एव मार्कण्डेयः—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु या तूढा कन्यका भवेत् ।

भर्तृगोत्रेण कर्तव्यास्तस्याः पिण्डोदकक्रियाः ॥

आशुरादिविवाहेषु पितृगोत्रेण धर्मतः ।

मातुः पितृगोत्रेणेत्यर्थः । एवं च पुत्रिकाकरणादौ मातुस्स्वपि-
त्रादिसापिण्डयसद्भावाद्युक्तमुक्तम्—

‘असपिण्डा च या मातुः’

इति । ननु च पुत्रस्यापि मातृसपिण्डत्वाद्या मातुस्सपिण्डा-
सा पुत्रस्यापीति किमर्थं मातृग्रहणम्? उच्यते—यदा तु
पुत्रिकासुतस्यैव मातृमातामहाभ्यां परित्यागः तदा तत्सा-
पिण्डयनिवृत्त्या तत्सपिण्डाया विवाहप्राप्तौ तन्मा भूदिति
मातृग्रहणम् । एवं दत्तपुत्रादेस्त्यागेनैव पितृगोत्रनिवृत्त्या

तत्सगोत्राया विवाहप्राप्तौ तन्मा प्रसांक्षीदिति पितृग्रहणमिति सर्वमनवद्यम् । मातृसगोत्रामपि के चिन्नेच्छन्ति । तदाह व्यासः—

सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्राहकर्मणि ।

एतदपि पुत्रिकाकरणाविषयं, मातुः पतिगोत्रत्वेन गोत्रान्तरा-
भावात् । न च भूतपूर्वगत्या मातृसगोत्राप्रतिषेध इति वाच्यम्,
वर्तमाने सम्भवति भूतपूर्वगत्याश्रयणस्यान्याय्यत्वात् । एवं
च या परिणेतुर्मातुश्च न सपिण्डा भवति या च परिणेतुः पितु-
श्चासगोत्रा सा विवाहेति सिद्धम् । नन्वेवं तर्हि ब्राह्मादि-
भिविवाहैर्नैवृत्तपितृसपिण्डभावायां पुत्रस्य मातुलमुता परि-
णेया स्यात् ? सखम् ; केन वोक्तं न परिणेयेति ? ननु मन्वा
दिभिरेव । यदाह शातातपः—

उद्वहेत सगोत्रां यस्तनयां मातुलस्य च ।

ऋषिभिश्चैव तुल्यां च स तु चान्द्रायणं चरेत् ॥

मनुरपि—

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्तीयां मातुरेव च ।

मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत् बुद्धिमान् ।

ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥

इति । आप्तस्य सन्निकृष्टस्य सपिण्डस्येत्यर्थः । व्यासोऽपि—

तृतीयां मातृतः कन्यां तृतीयां पितृतस्तथा ।

शुल्केन चोद्ग्रहिष्यान्ति विप्राः पापविमोहिताः ॥

मातृतो मातृपक्षे तृतीयां मातुलसुतां, पितृपक्षे तृतीयां पैतृष्वसे-
यीमित्यर्थः । शुल्कं मूल्यम् । अनेन कूटस्थ^१मारभ्य गणयेदि-
त्युक्तं भवति । तथा च पुराणे ययातिवाक्यम्—

यो मे त्वं हृदयाज्जातो वयस्त्वं न प्रयच्छसि^२ ।

पापान्मातुलसम्बन्धात्प्रजा वै ते भविष्यति ॥

सुमन्तरापि—

‘पितृपत्न्यस्सर्वा मातरः; तद्भ्रातरो मातुलाः;

तद्दुहितरश्च भगिन्यः; तदपत्यानि भागिनेयानि;

अन्यथा सङ्करकारीणि स्युः’

इति । उच्यते; सत्यमेतानि मातुलदुहितृविवाहनिषेधपराण्ये ।
तथाऽप्यासुरादिविवाहेन पित्रादिभिरनिवृत्तसपिण्डभावायाः पु-
त्रस्य मातुलसुता परिणेतुर्मातुश्च सपिण्डेति सा तावदविवाह्या ।
तथैवंविधायाः पितृष्वसुर्दुहिता परिणेतुः पितुश्च सपिण्डा
सगोत्रा चेति साऽपि न परिणेया । या तु ब्राह्मादिविवाहोढा
तस्यास्स्वपित्रादिभिस्सापिण्डचनिवृत्तेस्तत्पुत्रस्य मातुलसुताप-
रिणयनं न^३ वार्यते । एवं पैतृष्वसेय्यामपि द्रष्टव्यम् । तदि-
दमुक्तं मनुना—

^१ मूलस्थ—ख; मूलस्थकूटस्थ ग. ^२ प्रयच्छति—ख. ग. ^३ केन—ग.

असपिण्डा च या मातृसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

इति । या मातृतः पितृतो वा सपिण्डा सगोत्रा च सैव परिखा
ज्या नान्येत्यभिप्रायः । अत एव व्यासः—

मातुस्सपिण्डा यत्नेन वर्जनीया द्विजातिभिः ।

इति । अत एव शातातपोऽपि मातृसगोत्राया एव निषेधमाह—

मातुलस्य सुतामूढा मातृगोत्रां तथैव च ।

समानप्रवरां चैव द्विजश्चा^१न्द्रायणं चरेत् ॥

न चात्र मातृगोत्रामित्यनेनैव सपिण्डमातुलदुहितृनिषेधसिद्धेः
किमर्थं मातुलसुताग्रहणमिति वाच्यम्, पक्षान्तरत्वेऽपि समा-
नत्वात् । तत्रापि मातृगोत्रादिप्रतिषेधेनैव मातुलदुहितृमात्र
निषेधसिद्धेः । अथ पक्षद्वयेनोभयविधमातुलदुहितृनिषेधः, तर्हि
मातुलसुताग्रहणेनैवालं, किं मातृगोत्रग्रहणेन ? किं च मनुरपि
पैतृष्वसेय्याः पितृसपिण्डाया एव पर्युदासमाह—

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च ।

मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत बुद्धिमान् ।

इति । अन्यथा भगिनीशब्दवैयर्थ्यं स्यात्, पैतृष्वसेयीमित्यने-
नैव पितृष्वसृदुहितृमात्रनिषेधसिद्धेः । भगिनीवद्भगिनी सपि-

! त्यक्त्वा चा—ग; कृत्वा चा—क; गत्वा—ख.

ण्डेत्यर्थः । एवमाप्तशब्देऽपि द्रष्टव्यम् । न च भगिनीशब्दः
पैतृष्वसेयी न विशिनष्टीति वाच्यम्,

एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत बुद्धिमान् ।

इति त्रित्वे सङ्ख्यापनात्^१ । पैठीनसिरपि—

‘पितृमातृष्वसृदुहितरो मातुलमुता धर्मतस्ता भगि-
न्यो वर्जयेत्’

इति । न चात्र सन्देहनिवृत्त्यर्थं भगिनीग्रहणमिति वाच्यम्, ‘वर्ज-
येत्’ इत्यादिविधिवलेनैव सन्देहनिवृत्तेः । ननु च ‘अस-
पिण्डा च या मातुः’ इत्यनेनैव मातृसपिण्डादिपर्युदासे सिद्धे
किमिति पुनः ‘पैतृष्वसेयी भगिनीम्’ इति तस्या एव निषेध-
उच्यते? सत्यमेवम्; तथाऽप्यत्र पातित्यादिदोषप्रतिपादन-
मुखेनैकान्ततो निवृत्तिसिद्ध्यर्थम् । ‘सा प्रशस्ता’ इति वच-
नान्मातृसपिण्डासगोत्रयोरप्राशस्त्यमात्रं स्यात् । न सर्वथा
वर्जनीयत्वं, यथा,

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।

इति चतुर्णां विवाहानां प्राशत्स्य उक्तेऽपि न गान्धर्वादीनामे-
कान्ततः परित्यागः किं त्वप्राशत्स्यमात्रं तथेहापि स्यात् ।
ततश्च या मन्वादिवचनैर्मातृसपिण्डा मातुलमुता या च पैतृ-
ष्वसेयी पितृसपिण्डा सैवोद्वाहकर्मणि परित्याज्या नान्येति
सिद्धम् । अत एवोक्तं चतुर्विंशतिमते—

^१ त्रित्वसङ्ख्यापनात्—क.

तृतीयां वा चतुर्थीं वा पक्षयोरुभयोरपि ।

विवाहेयन्मनुः प्राह पाराशर्योऽङ्गिरा यमः ॥

इति । उभयोर्मातापित्रोरित्यर्थः । एवं च यानि मातुलदुहितृपरि-
णयान्पेधपराणि तान्यनिवृत्तस्य मातृसपिण्डभावाभिप्रायाणीति
मन्तव्यम् । किं चैवं सत्येतेषां मन्वादिवाक्यानां चैकमेव
मूलं परिकल्पितं भवति । अन्यथा तेषां मूलान्तरकल्पनागौरवं
स्यात् । तेन विशेषविषयतैव न्याय्या । ननु यदि च मातुरसपि-
ण्डतया मातुलसुता परिणेत्या तर्हि तथाविधा मातृष्वसा तदु-
हिता च किमिति न परिणेत्या ? उच्यते ; सत्यम् ; न ब्रूमः
शाल्लतो न परिणेत्येति, किं तु लोकविरुद्धत्वात् । यच्च धर्म्य-
मपि लोकविरुद्धम् तन्नानुष्ठेयम् । तदुक्तं मनुना—

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यं^१ मप्याचरेन्न तु ।

इति । वराहमिहिरोऽपि—

देशाचारस्तावदादौ विचिन्त्यः

देशे देशे या स्थितिस्सैव कार्या ।

लोकद्विष्टं पण्डिता वर्जयन्ति

दैवज्ञोऽतो लोकमार्गेण यायात् ॥

इति । ननु च याज्ञवल्क्येन

पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्ततः ।

इति मातृपक्षे पञ्चमादूर्ध्वमुद्राहविधानात्कथं मातुलदुहितृपरिणय-
नम्? उच्यते—‘मातुरतपिण्डामुद्वहेत्’ इत्यनेन मातृबन्धुष्वप्य
विशेषेण विवाहप्राप्तौ तन्मा प्रसाङ्गीदिति मातृतो मातृबन्धुभ्यः
पञ्चमादूर्ध्वमुद्वहेदित्याविरोधः । एवं पितृबन्धुष्वपि द्रष्टव्यम् ।
अत एव गौतमः—

‘ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च मातृबन्धु
भ्यः पञ्चमात्’

इति । बीजिनो यो नियोगादुत्पादयति तस्मादप्यूर्ध्वं सप्तमा-
दित्यर्थः । बान्धवा अपि स्मृत्यन्तरे दर्शिताः—

पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितृमातृष्वसुस्सुताः ।

पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः ॥

मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुताः ।

मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः ॥

यत्पुनर्वसिष्ठेनोक्तम्—

पञ्चमीं मातृबन्धुभ्यस्सप्तमीं पितृबन्धुतः ।

इति तद्गौतमीयैकवाक्यत्वाय पञ्चमीं सप्तमीं चातीत्योद्वहेदित्ये-
व परम्, न पुनः पञ्चमीसप्तम्योरेवोद्वाहावधिपरम् । यदपि
नारदेनोक्तम्—

पञ्चमात्सप्तमादवर्गिबन्धुभ्यः पितृमातृतः ।

अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा ॥

इति, यदपि विष्णुना—

पञ्चमात्सप्तमाद्धीनां यः कन्यामुद्रहेद्विजः ।

गुरुतल्पी स विज्ञेयस्सगोत्रां चैवमुद्रहन् ॥

इति, तत्रापि पञ्चमीसप्तम्योर्नाभ्यनुज्ञा तत्र निषेधश्रवणात् ।
यदाह मरीचिः—

पञ्चमे सप्तमे चैव येषां वैवाहिकी क्रिया ।

क्रियापरा अपि ह्येते पतिताश्शूद्रतां गताः ॥

इति । एतेन यत्कैश्चिदुक्तं—

‘ऊर्ध्वं सप्तम्या अलाभे सप्तमीमुद्रहेत्’

इति, तदप्यपास्तम् । यदपि पैठीनसिनोक्तं—

‘त्रीन्मातृतः पञ्च पितृतः पुरुषानतीत्य विवाहः’

इति, तदप्यर्वाङ्गिषेधपरम् । न पुनश्चतुर्थपिष्ठचोर्विवाहाभिप्रायं,
विष्ण्वादिवचनाविरोधप्रसङ्गात् । ननु च ‘असपिण्डा च या
मातुः’ इत्यनेन या मातुरसपिण्डा तामुद्रहेदित्युक्तेः स्वमातृपक्षेऽ-
प्यविशेषेण विवाहप्राप्तौ तन्मा भूदिति मातृतो मातृपक्षे पञ्चमा-
दूर्ध्वमुद्रहेदिति नियमः किं न स्यात्? अतः कथं मातुलदुहि-
तृपरिणयनम्? एवं पितृपक्षेऽपि द्रष्टव्यम् । उक्तं च
विष्णुपुराणे—

पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम् ।

गृहस्थ उद्वेहेत्कन्यां न्यायेन विधिना नृप ॥

इति । पञ्चमीमतीत्यर्थः । मैवं, गौतमादिभिर्वन्धुष्वेव नियमवि-

धानात् । अथ वा मा भूद्वन्धुष्वेव नियमविधानम्,¹ तथाऽप्युक्त
प्रकारेण मन्वादिभिरेव मातुलदुहितृपैतृष्वसेयीपरिणयनाभ्यनु-
ज्ञानात्तद्व्यतिरेकेण पक्षद्वयेऽप्ययं नियमः क्रियत इत्यविरोधः ।
यद्वा पञ्चमात्सप्तमादिति याज्ञवल्कीयं पुत्रिकाकरणादिविषयमि-
त्यनुसन्धेयम् । यदत्र युक्तं तद्ग्राह्यम् । यत्तु सङ्गहकारेणोक्तं—

स्त्रीसन्ततिस्तथा पुंसामविवाह्ये उभे मते ।

स्त्रीपुंसोस्तु विवाह्या स्यात्पञ्चमात्सप्तमात्परम् ॥

इति, तदप्युक्तविषयमेवेत्यनवद्यम् । तेन स्मृतितत्सिद्धं मातु-
लदुहितृपैतृष्वसेयीपरिणयनम् । किं च श्रुतिरपीमेववार्थं श्राव-
यति । तथा वाजसनेये श्रूयते—

तस्मात्समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायते ।

उत तृतीये सङ्गच्छावहै चतुर्थे सङ्गच्छावहै ॥

इति । अस्यार्थः—समानादेकस्मात्पुरुषादत्ता भोक्ता भार्याया
अद्यश्च भोग्यो भार्यालक्षणश्च जायते, जायापती जायेते इति
यावत् । नन्वेकस्मादुत्पन्नयोर्जायापतित्वे भ्रातृभगिन्योरेव
जायापतित्वमुक्तं स्यात् इत्याशङ्क्याह तर्हि तृतीये पुरुष
इत्यादि । अनेन दौहित्रपुत्रयोर्मातुलदुहितृपैतृष्वसेयीपरिणयनमुक्तं
भवति । तयोः कूटस्थमारभ्य तृतीयत्वात् । सङ्गच्छावहै विवा-
हावहा इत्यर्थः । ननु च सङ्गच्छूहनपरोऽयमर्थवादो न स्वार्थे

¹ मा भूद्वन्धुविषयत्वं—क.

प्रमाणम् । उच्यते—ससमर्थवादो न स्वार्थे प्रमाणम्, किं तु यत्र प्रमाणान्तरमस्ति तत्र तत्प्रतिपादितार्थावलम्बनेन स्तुतिपरत्वं^१ यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इति । यत्र तु नास्ति प्रमाणान्तरं. यथा 'तृतीये पुरुषे सङ्गच्छावहै' इति तत्र तदनुवादान्यथानुपपत्त्या तथाविधविधिपरिकल्पनं केन वार्यते? अत एव—

‘त्रीणि ह वै यज्ञस्य उदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टु-
बत्र ह्येवावपन्त्यावोद्वपन्ति’

इत्यत्र गायत्र्यादिषु प्रतीतावापोद्वापान्यथानुपपत्त्या तत्प्रापको विधिः कल्प्यते । अत एव च

‘उपरि हि देवेभ्यो धारयति’

इत्यत्रापि समिदुपरिधारणविधिः । अन्यथा तत्रापि न स्यात् । यत्र पुनः प्रमाणान्तरविरोधः न तत्र विधिकल्पनं यथा—

‘आदित्यो यूपः’

इति । अत एव—

‘प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्’

इत्यत्रापि न विधिकल्पनाया अतिप्रसङ्गः, दुहितृगमने मन्वादिभिः प्रायश्चित्तविधानात् । अथ वा भवत्वर्थवादानुसारेण प्रजापतिस्त्वां दुहितरं गच्छेदिति विधिः । किमायातमितरे-
पाम्? न च महद्भिरकार्यं^२ कृतमित्यनेनापि कर्तव्यमित्यत्र प्रमा-

^१ स्तुतिपरं—क.

^२ महद्भिः कार्यं—क. ख.

णमस्ति । न हीन्द्रेणाहल्यादिपरदारगमनं कृतमित्यनेनापि गन्त-
व्यम् । अत एव शङ्खलिखितौ—

सुरां पिबन्ति त्रिदशास्सा चापेया द्विजातिभिः ।

हरन्ति वित्तं यत्सिद्धास्तव^१ सिद्धिर्न विद्यते ॥

वृद्धमनुरपि—

अनुष्ठितं तु यदेवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम् ।

नानुष्ठेयं मनुष्यैस्तदुक्तं कर्म समाचरेत् ॥

इति । श्रुत्यन्तरेऽपि—

‘गर्भे नु नौ जनिता दम्पती तदेव स्रष्टा सविता
विश्वरूपम्’

इति । नौ आवयोः गर्भे जठरे जनिता जगतस्स्रष्टा देवो दम्पती
जायापती अकरोदित्यर्थः । मन्त्रोपि—

आयाहीन्द्र पथिभिरीडितेभिः

यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व ।

तृप्तां जुहुर्मातुलस्येवं योपा

भागस्ते पैतृस्वसेयी वपामिव ॥

इति । हे इन्द्र ! पथिभिर्मागैरीडितेभिः प्रशस्तैर्नः अस्माकं इमं
यज्ञं आयाहि आगच्छ । आगत्य चेदमस्माभिर्दीयमानं भागधेयं
जुषस्व सेवस्व । अत एव यजमानास्तृप्तमाज्यादिना संस्कृतां
वपामवदानाख्यां त्वामुद्दिश्य जुहुस्त्यक्तवन्तः । अत्र दृष्टान्तद्वयं,

^१ सिद्धास्तथा—क. ख.

यथा मातुलस्य योषा दुहिता दौहित्रस्य भागो भजनीया परि-
णेतुं योग्या, यथा च पैतृष्वसेयी पौत्रस्य तथाऽयं ते तव भागो
वपाख्य इति मन्त्रार्थः । तेन श्रुतितोऽपि सिद्धं मातुलादिमुता-
परिणयनम् । किं चाचारादप्यवगच्छामः यथा^१ ह्याचरन्ति ताव-
दाक्षिणात्यास्त्रैविद्यवृद्धा वेदार्थानुष्ठातारश्चिष्टा एव मातुलादिमु-
ता^२ परिणयनम् । उक्तं च तदाचारप्रामाण्यं मनुना—

शिष्टाचारस्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ॥

इति । लक्षणं प्रमाणमित्यर्थः । देवलोऽपि—

येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः ।

येषु देशेषु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ॥

येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः ।

तत्र तान्नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः ॥

यस्मिन्देसे पुरे ग्रामे त्रैविद्यनगरेऽपि वा ।

यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचालयेत् ॥

इति । ननु—देशाचारस्यापि प्रमाणान्तराविरोधिन एव प्रामाण्य-
मुक्तं वसिष्ठेन—

‘देशाचारकुलधर्मा आम्रायैरविरुद्धाः प्रमाणम्’

इति । सत्यं, आम्रायो वेदस्तदविरोधिन एव प्रामाण्यमिति ।

न चात्र वेदविरोधोऽस्ति प्रत्युतानुकूल एवे^३ त्युक्तमधस्तात् ।

ननु स्मृतिविरोधेऽप्याचारो दुर्बल एव,

^१ तथा—ख.

^२ मातुलसुतादि.—ग.

^३ नुकूल्यमेवे—क.

‘श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्’

इति वसिष्ठस्मरणात् । अस्ति चात्र ‘मातुलस्य सुतामूढा’ इत्यादिस्मृतिविरोधः । तेनात्र कथमाचारस्य प्रामाण्यम्? मैवं, तेषां मातृसापिण्डाविषयत्वेन विरोधस्य परिहृतत्वात् । अथ वा मा भूत्तेषां विशेषविषयत्वं, किं तूदीच्यदेशे ये मातुलादिदुहितृसम्बन्धानाचरन्ति तद्विषयाणीत्यविरोधः । तेषामेव दोषश्रवणात् । तथा च बोधायनः—

‘पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दाक्षिणतः अनुपनीतेन भार्यया च सहभोजनं, पर्युषितभोजनमुच्छिष्टभोजनं पितृष्वसृमातुलदुहितृपरिणयनमिति । तथोत्तरतः पञ्च ऊर्णाविक्रयश्शीधुपानमुभयतोदाद्रिव्यवहारः आयुधीयकं समुद्रयानमिति इतर इतरस्मिन्कुर्वन्दुष्यति । इतर इतरस्मिन् । तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्’

इति । अयमर्थः—इतरो दाक्षिणात्यः इतरस्मिन् उत्तरदेशे मातुलसम्बन्धादिकं कुर्वन् दुष्यति, न स्वदेशे तथेतरः उदीच्य इतरस्मिन् दाक्षिणदेशे शीधुपानादिकं कुर्वन् दुष्यति । न स्वदेशे । कुतः, देशप्रामाण्यात् देशनिबन्धनादाचारप्रामाण्यस्येत्यर्थः । अत एव देवलः—

यस्मिन्देशे य आचारो न्यायदृष्टस्तु कल्पितः ।

तस्मिन्नेव स कर्तव्यो देशाचारस्मृतो भृगोः ॥

इति । न चैवं सत्युदीच्यानां स्वदेशे परदेशे वा मातुलसम्बन्धा-
द्यविरुद्धमिति शङ्कनीयम् । यदाहापस्तम्बः—

येषां परम्पराप्राप्ताः पूर्वजैरप्यनुष्ठिताः ।

त एव तैर्न दुष्येयुराचारैर्नेतरैः पुनः ॥

येषां पितृपितामहादिपरम्पराप्राप्ताः पूर्वजैश्च त्रैविद्यवृद्धैरनुष्ठिताः
आचारास्सन्ति त एव तैराचारैरनुष्ठीयमानैर्न दुष्येयुः, नेतरैः ।
न ह्युदीच्यानां तथाविधा आचारास्सन्ति (यथा)¹ दाक्षिणात्या
नाम् । अतस्तैरेव स्वदेशे कार्याणि नान्यैरिति सिद्धम् । देश-
व्यवस्थया प्रामाण्यमुक्तं वार्तिककारैः²—

सर्वेषामेवमादीनां प्रतिदेशं व्यवस्थया ।

आपस्तम्बेन संस्कृत्य दुष्टादुष्टत्वमाश्रितम् ॥

इति । यत्तु बोधायनेन 'देशप्रामाण्यम्' इत्येवमन्तमुक्तं—

'मिथ्यैतदिति गौतमः । उभयं चैव नाद्रियेत

शिष्टागमविरोधदर्शनात् शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनाच्च'

इति, तन्न पूर्वोक्तनिराकरणार्थं गौतमग्रहणात् । किं तु शिष्टस्मृति-
विरोधदर्शनाद्गौतमस्य मातृसपिण्डापरिणयनमभिप्रेतमिति³ दर्श-
यितुम् । एवं च यदुक्तमन्यैः—

'स्यादेवं यद्यनन्तरमेव मिथ्यैतदिति न ब्रूयात्'⁴

¹ नेदं पदमावश्यकमपि कुत्रापि कोशे दृश्यते.

² वार्तिककारपादैः— क.

³ यनमनभिप्रेतमितीति वरम्.

⁴ इयं चापराकीर्तिरिति भाति

इति, तदप्यपास्तम् । तेन श्रुतेः स्मृतेराचाराच्च सिद्धं मातुलदुहितृ-
पैतृष्वसेयीपरिणयनमिति^१ सर्वमनवद्यम् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां मातुलदुहितृपरिणयनसमर्थनम्.

कन्यालक्षणानि.

‘ अनन्यपूर्विकां कान्तां ’ इत्यादिना कानि चित्कन्यालक्षणान्यु-
क्तानि । अधुना लक्षणान्तराण्युच्यन्ते । तत्र मनुः—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।

तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥

शातातपोऽपि—

हंसस्वनां^२ मेघवर्णां मधुपिङ्गललोचनाम् ।

तादृशीं वरयेत्कन्यां^३ गृहस्थस्सुखमे^४धते ॥

आपस्तम्बोऽपि—

‘ बन्धुशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत ’

इति । लक्षणसम्पन्नमित्यनेन विपरीतां नोद्वहेदित्याह । अत
एव मनुः—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।

नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥

वाचाटां बहुभाषिणीम् । पिङ्गलां पिङ्गलाक्षीम् । यमोऽपि—

^१ मातुलसम्बन्धादिकमिति—ग.

^२ स्वरां ; ^३ मुद्वहन्कन्यां ;

^४ स्वयं—वैद्य.

ह्रस्वा दीर्घा कृशा स्थूला पिङ्गाक्षी गौरपाण्डुरा ।
न पूज्या न च सेव्यास्ता नाशमृत्युकरास्त्रियः¹ ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

न प्रश्रुव्यञ्जनवतीं न चैव पुरुषाकृतिम् ।
न घर्घरस्वरां क्षामां न च काकस्वनां तथा ॥
नाति² बद्धेक्षणां तद्रुद्धृत्ताक्षीं नोद्वहेद्बुधः ।
यस्याश्च रोमशे जङ्घे गुल्फौ यस्यास्तथोन्नतौ ॥
गण्डयोः कूपकौ यस्या हसन्त्यास्तां न चोद्वहेत् ।
नातिरूक्षच्छर्विं पाण्डुकरजामरुणेक्षणाम् ॥
आपीनहस्तपादां च न कन्यामुद्वहेद्बुधः ।
न वामनां नातिदीर्घां नोद्वहेत्संहतभुवम् ॥
न चातिच्छिद्रदशनां न कराळमुखीं नरः ।

इति । अथ नामतो वर्ज्याः । यथाह मनुः—

नक्ष्वृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥

ऋक्षं नक्षत्रम् । अन्त्या म्लेच्छा । भीषणं भयानकम् । आप-
स्तम्बोऽपि—

‘नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामाश्च गर्हिताः ।
सर्वाश्च रेफलकारोष्मान्ता वरणे परिवर्जयेत्’

¹ सा पतिमृत्युकरा यतः—वैद्य.

² नानि—वैद्य.

यमोऽपि—

देवनान्नीं नदीनान्नीं शैलगन्धर्वनाभिकाम् ।
ऋक्षवृक्षलतानान्नीं दारार्थे परिवर्जयेत् ॥

तथा पुनर्भूरप्यविवाह्या । यदाह काश्यपः—

सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः ।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥
उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका ।
आग्निं परिगता या च पुनर्भूप्रसवा च या ॥
इत्येताः काश्यपेनोक्ता दहन्ति कुलमग्निवत् ।
प्ररोहत्यग्निना दग्धः पादपस्सुचिरादपि ॥
न च पौनर्भवादग्धं कुलं कापि प्ररोहति ।

पौनर्भवाः पुनर्भुव इत्यर्थः । तथा च बोधायनः—

‘वाग्दत्ता मनोदत्ता आग्निं परिगता सप्तमं पदं
नीता भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तविधा
पुनर्भूः । तां गृहीत्वा न प्रजां न धर्मं वा विन्देत्’

इति । वाग्दत्ता पुनस्संस्कारकर्मणि पुनर्भूभवति । अतस्तां
गृहीत्वा परिणीय प्रजां धर्मं च न विन्देन्न भजेदित्यर्थः । अत
एव नारदः—

कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता ।
पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनस्संस्कारकर्मणि ॥

पाणिग्रहणदूषितेति वाग्दत्तादेरुपलक्षणार्थम् । याज्ञवल्क्योऽपि—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूस्संस्कृता पुनः ।

इति । अक्षता वाग्दत्तादिका । क्षता तु भुक्तादिका । अत्र यद्य-
प्युक्तानि बाह्यलक्षणानि कथं चित् ज्ञातुं शक्यानि, तथाऽप्याभ्य-
न्तराणां दुर्विज्ञेयत्वात्तद्ज्ञानमाश्वलायनोक्तविधिना कार्यम् । अत
एवाश्वलायनोऽपि दुर्विज्ञेयानि लक्षणानीत्याह—

‘अष्टौ पिण्डान् कृत्वा ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्यं
प्रतिष्ठितम् । यदियं कुमार्यभिजाता तदिदमिह
प्रतिपद्यताम् । यत्सत्यं तद्दृश्यताम् । इति पिण्डा-
नभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयादेषामेकं गृहाणेति । क्षेत्रा
च्चेदुभयतस्सस्यादृलीयात्, अन्नवत्यस्याः प्रजा
भविष्यतीति विद्यात् । गोष्ठात्पशुमती । वेदपुरी-
षाद्ब्रह्मवर्चस्विनीति¹ अविनाशिनो हृदात्सर्वसम्प-
न्ना । देवनात्कितवी । यैदिं चतुष्पथाद्विप्रव्रा-
जिनी । ईरिणादधन्या स्यात् । श्मशानात्पतिघ्नी’

इति । विविधं व्रजतीति विप्रव्राजिनी स्वैरिणीत्यर्थः । एवमुक्त-
लक्षणयोगिन्यामविशेषेण विवाहप्राप्तौ क चित्कुलतोऽपवाद-
माह यमः—

चतुर्दश कुलानीमान्यविवाहानि निर्दिशेत् ।

अनार्षेयं ब्राह्मणानामृत्विजां च विवर्जयेत् ॥

अत्युच्चमतिह्रस्वं च अतिवर्णं च वर्जयेत् ।
 हीनाङ्गमतिरिक्ताङ्गमामयाविकुलानि च ॥
 श्वित्रिकुष्ठिकुलादीनां कुर्याद्विपरिवर्जनम् ।
 सदा कामकुलं वर्ज्यं लोमशानां च यत्कुलम् ॥
 अपस्मारिकुलं यच्च यच्च पाण्डुकुलं भवेत् ।

इति । अनार्षेयमविज्ञातप्रवरम् । अत्युच्चमतिदीर्घा यस्मिन्कुले
 तदत्युच्चम् । अतिह्रस्वमतिकुब्जा यस्मिन् । अतिशयितो वर्णो
 यस्मिन् तदतिवर्णम् । एतच्च रोगिकुलवर्जनं तद्रोगराङ्गान्तिभ-
 यात् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

स्फीतादपि न सञ्चारिरोगदोषसमन्वितात् ।

इति । स्फीतात्समृद्धादित्यर्थः । दोषाः पातित्यम् । मनुरपि—

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।

स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।

क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥

इति । हीनक्रियं यागाद्यनुष्ठानरहितम् । निष्पुरुषं पुरुषशून्यम् ।
 निश्छन्दो वेदहीनम् । रोमशं बहुरोमशम् । अर्शसं व्याधिविशे-
 षोपेतम् । एवमितराण्यपि द्रष्टव्यानि । एतच्च हीनक्रियादिवर्जनं
 तथाविधापत्यपरिहारार्थम् । श्रूयते च तथाविधापत्योत्पत्तिः
 पुराणे—

मातुलान्भजते पुत्रः कन्यका भजते पितृन् ।

याज्ञवल्क्योऽपि—

यथाशीला भवेन्माता तथाशीला भवेत्पुता ।

इति । अत एव च मनुस्सद्भिरेव सह सम्बन्धमाचरेदित्याह—

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं^१ सम्बन्धानाचरेत्सह^२ ।

निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्यजेत् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

दशपुरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात् ।

मातृतः पितृतः पञ्च विख्याताः पुरुषा यस्मिन्कुले तद्दशपुरुष-
विख्यातं कुलं, तस्मान्महाकुलात् पुत्रपश्वादिसमृद्धात्कन्यामुद्वहे
दित्यर्थः । सा च सवर्णैव ग्राह्या । यदाह व्यासः—

स्नात्वा समुद्वहेत्कन्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।

इति । एतत्प्रथमपरिणयनविषयम् । अत एव मनुः—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

इति । अनेन सवर्णापरिणयनोत्तरकालमसवर्णापरिणयनमवि-
रुद्धमित्याह । अत एव याज्ञवल्क्यः—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्यास्स्वाशूद्रजन्मनः ॥

वर्णक्रमाद्ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वैश्या शूद्रा चेति तिस्रो भार्याः ।

^१ स्सार्थ—त.

^२ ह्यः.

क्षत्रियस्य वैश्या शूद्रा चेति द्वे । वैश्यस्यैका शूद्रेति । सवर्णा पु
नस्सर्वेषां मुख्या स्थितैव । न च ब्राह्मणस्य ब्राह्मणी क्षत्रिया
वैश्या चेति तिस्रो भार्या इति व्याख्यानं शङ्कनीयं, तथात्वे
'स्वाशूद्रजन्मनः' इत्यविवक्षितार्थं स्याद्वैश्यस्यापि तथात्वेना-
विशेषात् । अतः पूर्वोक्तैव^१ ज्यायसी । अत एव मनुः—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशस्मृते ।

ते च स्वा चैव राजस्सुस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥

इति । एतत्तु कामतः प्रवृत्तविषयम् । यदाह स एव—

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमास्स्युः क्रमोऽवराः ।

इति । अवरा जघन्या इत्यर्थः । अनेन धर्मार्थं सवर्णापरिणयन-
मित्युक्तं भवति । अत एव विष्णुः—

द्विजस्य भार्या शूद्रा तु धर्मार्थं न भवेत्कचित् ।

रत्यर्थमेव सा तस्य रागान्धस्य प्रकीर्तिता ॥

इति । सा धर्मार्थं न भवेत् धर्मकार्येषु नानुप्रविशेदित्यर्थः । अत
एव मनुः—

दैवपिड्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।

नाश्रन्ति पितृदेवास्तं न च स्वर्गं स गच्छति ॥

तत्प्रधानानि तदायत्तानीत्यर्थः । यत्तु तेनैवोक्तं—

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।

कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रभार्योपदिश्यते ॥

इति, तदग्रत एव शूद्रापरिणयनविषयं,

‘ इमास्स्युः क्रमशोऽवराः ’

इति तेनैव क्रमविधानात् । उक्तं च याज्ञवल्क्येन—

‘ तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण ’

इति । आपद्यपि तिष्ठतोऽस्सवर्णमिलभमानयोरपीत्यर्थः । एतच्चा-
नयोरत्यन्तनिषेधार्थं, न पुनर्वैश्यस्य प्राप्त्यर्थम् । यतस्स एवाह—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥

इति । पैठीनासिस्तु सवर्णालाभे क्षत्रियादिविवाहमाह—

‘ अलाभे कन्यकायास्स्नातकव्रतं चरेदपि वा क्ष-

त्रियायां पुत्रानुत्पादयेत् वैश्यायां शूद्रायां वेत्यन्ये ’

इति । यदापि च याज्ञवल्क्येनोक्तं—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसङ्ग्रहः ।

न तन्मम मतं यस्मात्तत्रात्मा जायते स्वयम् ॥

इति, तदपि मानवेन समानार्थम् । न चैवं सति

‘ तत्रात्मा जायते स्वयम् ’

इति हेतुत्वेनानुगुणमिति वाच्यं, तेनापि

‘ तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण ’

इति शूद्रापरिणयनस्योक्तत्वात् । किं च हेतुत्वानुसारेण कदा-
चिदपि शूद्राविवाहानङ्गीकारे क्षत्रियादिविवाहोऽपि न स्यात्,

तत्राप्यात्मन एवोत्पत्तिः । अतो नायं हेतुः किं त्वयमर्थवादः
इति मन्तव्यम् । यत्पुनर्यमेनोक्तं—

ब्राह्मणो वृषलीं गत्वा त्र्यहं भवति सूतकी ।

अथास्यां गर्भमाधत्ते ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥

इति ; यदपि मनुना—

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।

जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥

इति, तेनापि व्युत्क्रमेणोद्वाहकर्म गमनं तस्यामेव सुतोत्पत्तिर्निषि-
ध्यते ; न पुनस्तत्र सुतोत्पत्तिपात्रम् । तथात्वे तु,

‘चतुस्त्रिद्वैयकभागिनो वर्णतो ब्राह्मणात्मजाः’

इति विभागवचनं न स्यात् । अत एव मनुरपि केवलशूद्रापत्य-
तया दोषमाह—

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।

गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।

कुलान्याथ विनश्यन्ति¹ यानि हीनानि मन्त्रतः ॥

इति । गोभिरश्वौर्विक्रीयमाणैरित्यर्थः । तथा मतान्तराण्यपि स
एवाह—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥

¹ कुलान्यकुलतां यान्ति — क & ग.

अस्यार्थः—शूद्रावेदी विप्रः पतति । अत्रात्रेरुतध्यतनयस्य गौतम-
स्य च मतमुक्तम् । अतस्तयोर्मते शूद्राविवाहो नास्ति । शौनकस्य
न विवाहमात्रात्पातित्यं, किं तु सुतोत्पत्त्या । अतस्तस्य मते
शूद्रामृतौ नोपेयात् । भृगोस्तु न तत्र सुतोत्पत्त्याऽपि पतनं, किं
तु तदपत्यतया तान्येव शूद्रायामुत्पन्नान्येव अपत्यानि यस्यासौ
तदपत्यः; तस्य भावस्तदपत्यता; तयेत्यर्थः । अतस्तस्य मते
ब्राह्मण्यामप्रसूतायां शूद्रामृतौ नोपेयादिति । तथा वसिष्ठोऽपि
शूद्रापरिणयननिषेधमाह—

‘शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम् । तदु तथा न कुर्यात् । अं-
होभिर्ध्रुवः कुलापकर्षः प्रत्युतास्वर्ग्यः’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां कन्यालक्षणानि.

वरलक्षणानि.

अथ वरलक्षणानि । तत्र गौतमः—

‘विद्याचारित्रवन्धुशीलसम्पन्नाय दद्यात्’

इति । विद्या वेदः श्रुतं च । चारित्रमनुष्ठानम् । बन्धुः प्रशस्ता-
भिजनः । शीलं वृत्तम् । एतैस्सम्पन्नाय कन्यां दद्यादित्यर्थः ।
आपस्तम्बोऽपि—

‘बन्धुलक्षणशीलसम्पन्नश्श्रुतवानरोग इति वरस-
म्पत्’

इति । यमोऽपि—

कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च
 विद्यां च वित्तं च सनाथतां च ।
 एतान्गुणान्तसप्त परीक्ष्य देया
 कन्या बुधैश्शेषमचिन्तनीयम् ॥

इति । यत्तु विष्णुनोक्तम्—

ब्राह्मणस्य कुलं ग्राह्यं न वेदा न पदक्रमाः ।
 कन्यादाने तथा श्राद्धे न विद्या तत्र कारणम् ॥

इति, तत्कुलस्य प्राधान्यप्रतिपादनपरम् । न पुनर्विद्यानिराक-
 रणार्थम् । अत एवाश्वलायनः—

‘कुलमग्रे परीक्षेत’

इति । तथा पुंस्त्वमपि परीक्षणीयं तस्येत्याह याज्ञवल्क्यः—

यत्रात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनाप्रियः ।

कात्यायनोऽपि—

अपत्यार्थं स्त्रियस्सृष्टास्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः ।

क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥

इति । अतस्तत्परीक्षणीयमिति भावः । नारदस्तु तत्परी-
 क्षोपायमाह—

यस्याप्सु प्लवते बीजं हादि मूत्रं च फेनिलम् ।

पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतस्तु पण्डकः ॥

इति । बीजं वीर्यम् । हादि शब्दवत् । याज्ञवल्क्योऽपि—

हादिफेनिलमूत्रस्तु गुरुशुक्लो वृषस्वनः ।

पुमान्स्यादन्यथा षण्डो दुश्चिकित्सो मुखेभगः ।

मुखेभगषण्डविशेषः । शातातपोऽपि वरलक्षणान्याह—

वरो वरयितव्योऽर्थी कुलशीलसमन्वितः ।

रूपवान्पण्डितः प्राज्ञो युवा दोषविवर्जितः ॥

इति । वरयितव्यः कन्यापित्रेति शेषः । दोषा अपि कात्या
यनेनोक्ताः—

उन्मत्तः पतितः कुप्टी तथा षण्डस्मगोत्रजः ।

चक्षुश्श्रोत्रविहीनश्च तथाऽपस्मारदूषितः ॥

वरदोषास्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिताः ।

दूरस्थानामविद्यानां मोक्षमार्गानुसारिणाम् ॥

शूराणां निर्धनानां च न देया कन्यका बुधैः ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां वरलक्षणानि.

कन्यादानकालाः

अथ कन्यादानकालाः । तत्र संवर्तः—

अष्टमे तु भवेद्गौरी नवमे नम्रिका भवेत् ।

दशमे कन्यका प्रोक्ता द्वादशे वृषली स्मृता ॥

वृषली रजस्वला ।

बन्ध्या तु वृषली ज्ञेया वृषली च मृतप्रजा ।

अपरा वृषली ज्ञेया कुमारी या रजस्वला ॥

इति देबलस्मरणात् । एतच्च प्रायिकाभिप्रायं, न पुनर्द्वादश एव रजस्वला भवतीति, कासां चिद्वर्गापि रजोदर्शनसम्भवात् ।

अत एव यमः—

अष्टवर्षा भवेद्द्वौरी नववर्षा तु रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥

यत्पुनरापस्तम्बेनोक्तं—

अष्टवर्षा भवेद्द्वौरी दशवर्षा तु कन्यका ।

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे रजस्त्रीणां प्रवर्तते ॥

इति, यदापि यमेनोक्तं—

संप्राप्ते द्वादशे वर्षे रजस्त्रीणां प्रवर्तते ।

इति, यदापि यमेन—

सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।

मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥

इति, तदापि प्रायिकाभिप्रायं, कासां चित्तत्रापि रजोदर्शनासम्भवात् । अत एव मनुः—

त्रिंशद्र्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।

त्रयष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥

इति । सत्वरोऽल्पवया इत्यर्थः । एवं च यावद्रजोदर्शनं न भवति तावत्कन्योद्वाहो न विरुद्ध इत्युक्तं भवति । अत एव यमः—

तावदुद्वाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।

इति । गौतमोऽपि—

‘प्रदानं प्रागृतोरप्रयच्छन्दोषी प्राग्वासःप्रतिपत्ते-
रित्येके’

इति । संवर्तोऽपि—

रोमकाले तु सम्प्राप्ते सोमो भुङ्क्ते तु कन्यकाम् ।

रजःकाले^१ तु गन्धर्वो वह्निस्तु कुचदर्शने^२ ॥

तस्मादुद्वाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ॥

इति । वसिष्ठोऽपि—

प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता ।

ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति ॥

इति । नग्निका च पुराणे दर्शिता—

यावन्न लज्जयाऽङ्गानि कन्या पुरुषसन्निधौ ।

योन्वादीन्यवगूहेत तावद्भवति नग्निका ।

इति । सङ्गहकारोपि—

यावच्चेलं न गृह्णाति यावत्क्रीडति पांसुभिः ।

यावद्दोषं न जानाति तावद्भवति नग्निका ॥

अमरस्तु यावदुददर्शनं नग्निकेत्याह—

‘नग्निकाऽनागतार्तवा’

इति । तथा वरस्यापि परिणयनकालमाह मनुः—

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।

त्रयष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥

इति । बृहस्पतिरापि—

^१ रजो दृष्ट्वा;

^२ कुचौ दृष्ट्वा तु पावकीः—वैद्य.

त्रिंशद्वर्षो दशाब्दां तु भार्या विन्देत् नग्निकाम् ।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षमवाप्नुयात् ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

वैषैरेकगुणैर्भार्यामुद्रहेत्रिगुणस्त्रयम् ।
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां कन्यादानकालाः.
कन्यादानफलम्.

अथ कन्यादानफलम् । यस्तूक्तविधिना कन्यां प्रयच्छति
तस्य फलमाह मनुः—

नाग्निहोत्रदिभिस्तत्स्यादक्षयं ब्राह्मणस्य वा ।
यत्कन्यां विधिवद्दत्त्वा फलमाप्नोति मानवः ॥

मरीचिरपि—

नाग्निचिन्नरकं याति न कन्यादो न तत्सुतः ।
विश्वजित्सम्मितो यज्ञः कन्यादानं महाफलम् ॥

संवर्तोऽपि—

ज्योतिष्टोपातिरात्राणां शतं शतगुणीकृतम् ।
प्राप्नोति कन्यकां दत्त्वा होममन्त्रैश्च संस्कृताम् ॥

बृहस्पतिरपि—

सहस्रसम्मिता धेनुरनङ्गान्दश धेनवः ।
दशानडुत्समं यानं दक्षयानसमो हयः ॥
दशवाजिसमा कन्या भूमिदानं च तत्समम् ।
कनकाश्वतिला नागा दासीरथमहीमृहाः ।

कन्या च कपिला धेनुर्महादानानि वै दश ॥

यमोऽपि—

दशानां तु सहस्राणां यज्ञानां धुर्यवाहिनाम् ।
 सुपात्रे विनियुक्तानां कन्या विद्या च तत्समम् ॥
 गौरीं ददन्नाकपृष्ठं वैकुण्ठं रोहिणीं ददत् ।
 कन्यां ददद्ब्रह्मलोकं रौरवं तु रजस्वलाम् ॥

इति । तथा रजस्वलापरिणेतुरपि स एव दोषमाह—

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्रता तथैव च ।
 त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
 यस्तां विवायेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः ।
 असम्भाष्यो ह्यपाङ्ग्यस्स विप्रो वृषलीपतिः ॥
 वृषलीसङ्गृहीता यो ब्राह्मणो मदमोहितः ।
 सततं सूतकं तस्य ब्रह्महत्या दिने दिने ॥

इति । यः पुनस्तामुपभुङ्क्ते तस्यापि स एव दोषमाह—

यः करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनं द्विजः ।
 स भैक्षभुग्जपान्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥
 वृषलीगमनं चैव मासमेकं निरन्तरम् ।
 इह जन्मनि शुद्रत्वं मृतश्वा चैव जायते ॥
 वृषलीफेनपीतस्य निश्वासोपहतस्य च ।
 तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्नैव विद्यते ॥

यदा तु कन्यैव रजस्वला भवति तदा तत्पितुर्भ्रूणहत्यामाह
बृहस्पतिः—

पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

भ्रूणहत्या पितुस्तस्यास्सा कन्या वृषली स्मृता ॥

भ्रूणहत्या गर्भहत्या । सा च प्रत्यृतु वेदितव्या । तथा च
याज्ञवल्क्यः—

अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।

नारदोऽपि—

यावन्तश्चर्तषस्तस्यास्समतीयुः पतिं विना ।

तावसो भ्रूणहत्यास्स्युस्तस्य यो न ददाति ताम् ॥

यत्पुनर्मनुनोक्तं—

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमसपि ।

न त्वेवैनां प्रयच्छेत गुणहीनाय कर्हि चित् ॥

इति, तद्गुणवति सम्भवति गुणहीनाय न दद्यादित्येवम्परं, न
पुनर्गुणहीननिषेधार्थम् । यत आह बोधायनः—

दद्याद्गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे ।

अपि वा गुणहीनाय नोपरोद्ध्या रजस्वला ॥

यमोऽपि—

दद्याद्गुणवते कन्यां नग्निकामेव शक्तितः ।

न त्वेव गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम् ॥

इति । यदा तु तामपि न प्रयच्छति तदा कन्यैव स्वसदृशं भर्तारं
वरयेत् । तदाह यमः—

कन्या तु द्वादशे वर्षे याऽप्रदत्तां गृहे वसेत् ।
 भ्रूणहत्या पितुस्तस्यास्सा कन्या वरयेत्स्वयम् ॥
 एतच्च वरणमृतुप्रभृति वर्षत्रयादूर्ध्वं वेदितव्यम् ।

तथा च बोधायनः—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम् ।
 ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् ॥
 अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रेयेत् ।

सदृशो गुणवान् । मनुरपि—

त्रीणि वर्षाण्युपासीत कुमार्यर्तुमती सती ।
 ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥
 अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
 नैनः किं चिदग्रामोति न च यं साऽधिगच्छति ॥

यं भर्तारमधिगच्छति सोऽपि न दोषमाप्नोतीत्यर्थः । यत्तु
 विष्णुनोक्तं—

ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।
 इति, तद्वत्तुत्रयादूर्ध्वं विधेधपरम् । अत्र मनुः—
 अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
 मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥
 यस्तु वाचा कन्यां प्रदाय पुनस्तामपहरति स राज्ञा दण्ड्य
 इत्याह याज्ञवल्क्यः—

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चोरदण्डभाक् ।

मनुरपि—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।

सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥

सकृदंशो निपतति सकृदेव पित्रादिभिर्भागं लभत इत्यर्थः । एत-
च्चादुष्टवराभिप्रायम् । यदाह नारदः—

दत्त्वा न्यायेन यः कन्यां वराय न ददाति ताम् ।

अदुष्टश्चेद्वरो राज्ञा स दण्ड्यस्तत्र चोरवत् ॥

अनेन दोषदर्शनेन वाग्दत्तामपि न पूर्वस्मै दद्यादित्युक्तं भवति ।

अत एव गौतमः—

‘प्रतिश्रुत्वाप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्’

इति । अनेनैवाभिप्रायेण याज्ञवल्क्योऽपि—

दत्तामपि हरेत्कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आत्रजेत् ।

इति । यत्तु मनुनोक्तं—

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे चापि साधवः ।

यदन्यस्याभ्यनुज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥

इति, तदप्यदुष्टवराभिप्रायम् । अत एव नारदः—

स्त्रीपुंसयोस्तु सम्बन्धाद्वरणं प्राग्विधीयते ।

वरणाद्ब्रह्मणं पाणेस्संस्कारो हि विलक्षणः ¹

तयोरनियतं प्रोक्तं वरणं दोषदर्शनात् ।

¹ णेस्संस्कारेणविलक्षणम्—ख ; णेस्संस्कारो विलक्षणः—क. णेस्सम्म-
न्धोऽयं त्रिलक्षणः ; णेस्संस्कारो ह्यात्रिलक्षणः—मदन.

तयोर्वरणपाणिग्रहणयोर्मध्ये वरणमेव दोषदर्शनादनियतं, न पाणिग्रहणम् । तयोर्वाग्दानमात्रेण¹ पतित्वानुपपत्तेरिति भावः । अत एव यमः—

नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते ।

पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे ॥

अनेन सप्तमपदादर्वाक्षपरिणेतुः मरणेऽपि न विधवात्वमित्युक्तं भवति । तथा च वसिष्ठः—

अद्विर्वाचा च या दत्ता भ्रियेतादौ वरो यदि ।

न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ॥

पितुरेव न प्रतिग्रहीतुरित्यर्थः । कात्यायनोऽपि—

वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा ।

रक्तागमांस्त्रीनतीत्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम् ॥

रक्तागमो रजोदर्शनम् । एवं देशान्तरगतेऽपि द्रष्टव्यम् । यदाह नारदः—

प्रतिगृह्य तु यः कन्यां वरो देशान्तरं व्रजेत् ।

त्रीनृतून्समतिक्रम्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम् ॥

मनुस्तु शुल्कदाने विशेषमाह—

कन्यायां दत्तशुल्कायां भ्रियेत यदि शुल्कदः ।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥

इति । एवं च वाग्दानप्रभृत्या सप्तमपदादोषदर्शने मरणादौ वा कन्यामन्यस्मै दद्यात्, नोर्ध्वमित्युक्तं भवति । अत एव कात्यायनः—

अनेकेभ्यो हि दत्तायामनूढायां तु यत्र वै ।

वरागमश्च सर्वेषां लभेतादिवरस्तु ताम् ॥

अथागच्छेयूरूढायां न तां पूर्ववरो हरेत् ।

पूर्ववरस्त्वदत्तं शुल्कमेव हरेन्न कन्यामित्यर्थः । मनुरपि—

न दत्त्वा कस्य चित्कन्यां पुनर्दद्यात् विचक्षणः ।

दत्त्वा पुनः प्रयच्छेद्यः प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥

तदपि तेनैवोक्तं—

पञ्च पञ्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृतैः ।

शतमश्वानृतैः हन्ति सहस्रं पुरुषानृतैः ॥

पञ्च बान्धवानित्यर्थः, तेषामेव प्रकृतत्वात् । वसिष्ठस्तु पाणिग्रहणादुपर्यप्यन्यस्मै दानमाह—

पाणिग्रहे कृते कन्या केवलं मन्त्रसंस्कृता ।

सा चेदक्षतयोनिस्स्यात्पुनस्संस्कारमर्हति ॥

नारदोऽपि—

उद्वाहिताऽपि या कन्या न चेत्सम्प्राप्तमैथुना ।

पुनस्संस्कारमर्हति यथा कन्या तथैव सा ॥

एतदपि दोषदर्शने वेदितव्यम् । अत एव यमः—

वरश्चेत्कुलशीलाभ्यां न युज्येत कथं चन ।
न मन्त्रः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत् ॥
समाकृष्य तु तां कन्यां बलादक्षतयोनिकाम् ।
पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽब्रवीत् ॥

कात्यायनोऽपि—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीव एव वा ।
विकर्मा वा सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥
ऊढाऽपि देया साऽन्यस्मै संप्रावरणभूषणा ।

मनुरपि—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

एवं च यानि संस्कारादूर्ध्वमक्षतयोन्याः पुनरुद्वाहपराणि तानि
युगान्तराभिप्रायाणीति मन्तव्यम् । अत एवादिपुराणे—

ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा ।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डुलुम् ॥

स्मृत्यन्तरेऽपि—

देवरात्तु सुतोत्पत्तिं गोमेधं च कमण्डुलुम् !
अक्षतां पौरुषं मेधं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

मनुस्तु दोषदर्शने कन्याया अपि परित्यागमाह—

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥

विविधं प्रकर्षेण दुष्टां विप्रदुष्टाम् । नारदोऽपि—

नादुष्टां दूषयेत्कन्यां नादुष्टं दूषयेद्वरम् ।

दोषे सति न दोषस्स्यादन्योन्यं त्यजतोर्द्वयोः ॥

एतदपि सप्तपदादर्वाग्वेदितव्यं, तत्रैव भार्यात्वस्योपपत्तेः¹ ।

अत एव मनुः—

पाणिग्रहणिका मन्त्रा² नियतं दारलक्षणम् ।

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिस्सप्तमे पदे ॥

यस्तु कन्यादोषमनाभिधाय प्रयच्छति स राज्ञा दण्ड्य इत्याह
नारदः—

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।

तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं पूर्वसाहसचोदितम् ॥

पणशतद्वयं सप्तत्यधिकं पूर्वसाहसम् । यत्तु याज्ञवल्क्येनोक्तं—

अनाख्याय ददद्दोषं दण्ड उत्तमसाहसम् ।

इति, तद्दोषभूयत्स्वाभिप्रायम् । साशीतिपणसाहस्रमुत्तमसाहसम् ।

यः पुनरदुष्टामेव परित्यजति सोऽपि दण्ड्य इत्याह नारदः—

प्रतिगृह्य तु यः कन्यामदुष्टामुत्सृजेन्नरः ।

विनेयस्सोऽप्यकामोऽपि कन्यां तामेव चोद्वेहेत् ॥

विनेयो दण्ड्य इत्यर्थः । दण्डमपि स एवाह—

अदुष्टां प्रतिगृह्याथ त्यजन्नुत्तमसाहसम् ।

¹ स्योत्पत्तेः—क. ² पाणिग्रहणमन्त्रस्तु—ग.

इति । कन्यादोषा अपि तेनैवोक्ताः—

दीर्घकुत्सितरोगार्ता व्यङ्गा संस्पृष्टमैथुना ।

धृष्टाऽन्यगतभावा च कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां कन्यादानफलानि.

कन्यादातृनिर्णयः.

अथ कन्यादातृनिर्णयः । तत्र याज्ञवल्क्यः—

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।

कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥

प्रकृतिस्थ उन्मादादिदोषरहितः । अप्रकृतिस्थत्वे तु पित्रादि-
नाऽपि कृतमकृतमेव । यदाह नारदः—

स्वतन्त्रोऽपि हि यत्कार्यं कुर्यादप्रकृतिं गतः ।

तदप्यकृतमेव स्यादस्वातन्त्र्यस्य ¹ हेतुतः ॥

यत्पुनर्मनुक्तं—

यस्मै दद्यात्पिताऽप्येनां भ्राता चानुमतौ पितुः ।

तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं ² च न लङ्घयेत् ॥

इति । तत्तयोः प्रधान्यप्रातिपादनार्थं न पुनरन्यनिषेधाय । अत
एव नारदः—

पिता दद्यात्स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमतौ पितुः ।

मातामहो मातुलश्च स कुल्यो बान्धवस्तथा ॥

¹ स्वतन्त्रत्वे—वैद्य.

² स्वर्थात्—ग.

माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते ।

तस्यामप्रकृतिस्थायां दद्याः कन्यां स्वजातयः ¹ ॥

इति । यदा तु सर्वेषामभावत्सदा राजा दद्यात् । तदाह स एव—

यदा तु नैव कश्चित्स्यात्कन्या राजानमात्रजेत् ।

यदाऽसावपि क्षितिपालनाद्याकुलतया न ददाति तदा कन्यैव
तदनुज्ञया स्वसदृशं भर्तारं वरयेत् । तदपि तेनैवोक्तं—

अनुज्ञया वरं तस्य प्रतीत्य ² वरययेत्स्वयम् ।

याज्ञवल्क्योऽपि—

गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।

गम्यं गमनार्हमित्यर्थः । तथा च वरयेदित्यनुवृत्तौ नारदः—

सवर्णमनुरूपं च कुलशीलबहु ³ श्रुतैः ।

सहधर्मं चरेत्तेन पुत्रांश्चोत्पादयेत्ततः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां कन्यादातृनिर्णयः

विधवानियोजनम्

अथ विधवानियोजनम् । तत्र मनुः—

देवराट्ठा सपिण्डाट्ठा स्त्रिया सम्याङ्गियुक्तया ।

प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य पारिक्षये ॥

स्त्रिया श्वशुरादिभिर्नियुक्तया देवराट्ठर्तुर्ज्येष्ठात्कनिष्ठाट्ठा तदभावे

¹ सजातयः—वैश्य.

² प्रतीतं—वैद्य.

³ बल - क.

सपिण्डाद्वाऽभिलपिता प्रजा पुंस्त्वलक्षणा तयोत्पादनीयेत्यर्थः ।
याज्ञवल्क्योऽपि—

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया ।

सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् ॥

पुत्रकाम्यया तस्या इति शेषः, अन्यथा नियोगनिषेधात् ।
तथा च यमः—

नाकामा सन्नियोज्या स्यात्पुत्रकामां नियोजयेत् ।

इति । न चापुत्रायास्स्वर्गाद्यभावेन पुत्रकामनया भवितव्य-
मिति शङ्कनीयम्—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।

स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्म¹चारिणः ॥

इति स्मरणात् । पुत्रो-प्येक एवोत्पादनीयो न द्वितीयः ।
तदाह मनुः—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथं चन ॥

कोचिदेकपुत्रोऽप्यपुत्रसम एवेति नियोगार्थानिष्पत्तिं मन्यमानाः
पुत्रान्तरोत्पत्तिं मन्यन्ते । तदपि तेनैवोक्तम्—

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।

अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥

अत्र गमनविधिमाह यमः—

¹ यथावद्ब्रह्म.—क.

ऋतौ तु तस्यां स्नातायां वाग्यतोऽस्तमिते निशि ।
 न स्पृशन्नखरोमाणि गन्धस्पर्शविवेदयन् ॥
 एक एव घृताक्ताङ्गो दुर्गन्धश्शोकदुर्भनाः ।
 मुखान्मुखं परिहरन्गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन् ॥
 यतात्मा गर्भमादध्याद्गर्भे दत्ते त्वपत्रजेत् ।
 अपत्रजेत्पुनर्न गच्छेदित्यर्थः । अत एव याज्ञवल्क्यः—
 आ गर्भसम्भवाद्गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत् ।
 अनेन विधिना जातः क्षेत्रजोऽस्य भवेत्सुतः ॥
 अस्य पूर्वपारिणेतुरित्यर्थः । यत्पुनर्मनुनोक्तं—
 नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
 अन्यास्मिन्विनियुञ्जाना धर्मं हन्युस्सनातनम् ॥
 इति, यदपि स्मृत्यन्तरे—
 न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्भर्तापि^१ दिश्यते ।
 इति, तत्कलौ निषेधपरमित्यविरोधः । अत एव ऋतुः—
 देवरान्न सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या न दीयते ।
 न यज्ञो गोवधः कार्यः कलौ न च कमण्डलुः ॥
 बोधायनोऽपि—
 विधिर्योऽनुष्ठितः पूर्वं क्रियते नेह साम्प्रतम् ।
 पुराकल्पस्स यद्रच विधवाया नियोजनम् ॥
 इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां विधवानियोजनम् ।

विवाहभेदाः.

अथ विवाहभेदाः । तत्र मनुः—

अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्थः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ॥

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

इति । तत्र याज्ञवल्क्यः—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्तयलङ्कृता ।

यस्मिन्नुक्तलक्षणं वरं स्वगृहमानीय तस्मै यथाशक्तयलङ्कृता कध्या

दीयते स ब्राह्मो विवाह इत्यर्थः । मनुरपि—

आच्छाद्य चार्हयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥

अर्हयित्वा अलङ्कारादिभिः पूजयित्वेत्यर्थः । अस्यां जातस्तु दश

पित्रादीन्दश पुत्रादींश्चात्मानं पापान्मोचयति । तथा च

गौतमः—

‘दश पूर्वान्दशापरानात्मानं च ब्राह्मीपुत्रः पुनाति’

इति । स यदि सदृत्त इति शेषः । तथा च मनुः—

दश पूर्वापरान्वर्गानात्मानं चैकविंशकम् ।

ब्राह्मीपुत्रस्सुकृतकृन्मोचयत्येनसः पितृन् ॥

गौतमोऽपि—

‘पुनान्ति साधवः पुत्राः’

इति । दैवार्पणयोःरपि लक्षणमाह याज्ञवल्क्यः—

यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्पस्तु गोद्वयम् ॥

यज्ञे प्रारब्धे यस्मिन्नलङ्कृत्य ऋत्विजे कन्या दीयते स दैवो
विवाहः । तथा च मनुः—

यज्ञे तु वितते सम्यग्ऋत्विजे कर्म कुर्वते ।

अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥

यत्र पुनर्गोद्वयमादाय कन्या दीयते स आर्षो विवाहः । गोद्व-
यग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । अत एव मनुः—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मस्त उच्यते ॥

मिथुनं वृषभो धेनुश्च । अनयोः फलमाह याज्ञवल्क्यः—

चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजषष्ट ।

प्रथमजो दैवोत्पन्नस्सप्तपूर्वान् सप्तापरान्पुनातीति । उत्तरज आ-
र्षोत्पन्नः । स पुनर्स्त्रीस्त्रीन् । तथा च मनुः—

दैवोद्वजस्सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।

आर्षोद्वजस्सुतस्त्रीस्त्रीन् षट् षट्कायोद्वजस्सुतः ॥

कायः प्राजापत्यः । तत्स्वरूपमपि स एवाह—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य तु ।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिस्मृतः ॥

इति । तथाऽऽसुरादिचतुष्टयमाह याज्ञवल्क्यः—

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वस्समयान्मिथः ।

राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥

वराद्रविणमादाय यत्पित्रादिभिर्दानरहितं कन्यार्पणं स आसुरो विवाहः । तथा च मनुः—

ज्ञातये द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।

कन्याऽऽप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥

आप्रदानमादानं स्वीकारः । स्वाच्छन्द्यात् स्वेच्छात् इत्यर्थः ।

गान्धर्वस्तु कन्यावरयोरिच्छयाऽन्योन्यसंयोगः । तथा च मनुः—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।

गान्धर्वस्स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥

मैथुन्यो मैथुनाय हित इत्यर्थः । राक्षसस्तु युद्धेन कन्याहरणम् ।
तथा च मनुः—

हत्वा छित्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।

प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥

प्रसह्य बलात्कारेणेत्यर्थः । पैशाचः पुनः कन्यकाच्छलाद्भवति ।

छलनं छलः । छद्मना स्वापाद्यवस्थां कन्याहरणं पैशाच इत्यर्थः । तथा च शौनकः—

‘सुप्तानां प्रमत्तानां वाऽपहारे पैशाचः’

इति । तेष्वामुरादिषु सन्ततिदोषानाह मनुः—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
 ब्रह्मवर्चसिनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्भृताः ॥
 रूपसम्बन्धुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
 पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥
 इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
 जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषस्सुताः ॥

नृशंसो हिंस्रः । ब्रह्मद्विषो वेदद्विषः । न चासुरादिविवाहेषु
 सप्तपदातिक्रमणाद्यभावेन पतित्वभार्यात्वयोरनुपपत्तिरिति शङ्क-
 नीयं, तत्रापि स्वीकारानन्तरमेव संस्कारविधानात् । तथा च
 देवलः—

गान्धर्वादिविवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः ।
 कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैस्समयेनाग्निसाक्षिकः ॥

गृहपरिशिष्टेऽपि—

गान्धर्वासुरपैशाचविवाहा राक्षसश्च यः ।
 पूर्वं परिश्रय^१स्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयते ॥

परिश्रय^१स्वीकारः । अत एव वसिष्ठोऽपि न बलादपहारमात्रेण
 भार्यात्वमाह—

बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।
 अन्यस्मै विधिवदेया यथा कन्या तथैव सा ॥

अत्र वर्णन्यवस्थया विवाहनियममाह मनुः—

पठानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽपरान् ।

विद्वद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यान् राक्षसान् ॥

ब्राह्मादीन्गान्धर्वान्तान्ब्राह्मणस्य धर्म्यान् धर्मादनपेतान् विजा-
नीयात् । अपरानासुरादीन्पैशाचान्तान्क्षत्रियस्य । वैश्यशूद्रयोरपि
तानेव राक्षसवर्जितान् । एतेष्वपि प्रशस्तानाह स एव—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।

राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥

स्मृत्यन्तरेऽपि—

चत्वारो ब्राह्मणस्याद्याश्शस्ता गान्धर्वराक्षसौ ।

राज्ञस्तथाऽऽसुरो वैश्ये शूद्रे चान्यस्तु गर्हितः ॥

गर्हितो न कस्यापि प्रशस्त इत्यर्थः । अत एव यमः—

अपकृष्टो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टमः ।

इति । अत एवान्यविवाहालाभ एव पैशाचमाह व्यासः —

सर्वोपायैरसाध्या स्यात् मुकन्या पुरुषस्य या ।

चौर्येणापि विवाहेन सा विवाह्या रहस्स्थिता ॥

इति । केचिदार्थमपि प्रशस्तं नेच्छन्ति, तत्रापि शुल्कग्रहणात् ।

तथा च मनुः—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदार्हुर्मृषैव तत् ।

अल्पोऽपि वा महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥

इति । मृषा मिथ्या । नैतद्धर्माय, यतस्तावन्मात्रेणाप्यसौ
विक्रय इत्यर्थः । देवलस्तु न गोमिथुनं शुल्कमित्याह—

एवं^१ विवाहाश्चत्वारो धर्म्याश्च्रेयःप्रदायकाः^२ ।

अशुल्का ब्राह्मणाद्यर्हास्ततो यान्ति द्वयोः कुलम्^३ ॥

इति । एवं च ब्राह्मणस्य आसुरगान्धर्वौ प्रशस्तविवाहालाभे
वेदितव्यौ । एवं क्षत्रियोदेरपि द्रष्टव्यम् । यत्तु काश्यपेनोक्तं—

क्रीता द्रव्येण या नारी न सा पन्नचभिधीयते ।

न सा दैवे न पित्र्ये च दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत् ॥

इति, तत्प्रशस्तविवाहसम्भवविषयम् । यदप्यत्र प्रशस्तविवाहा-
भिप्रायेण मनुनोक्तं—

दुर्विवाहैः क्रियालोपैः वेदानध्ययनेन च ।

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मण्यातिक्रमेण च^४ ॥

इति, तदपि पूर्वोक्तेन समानविषयम् । तथा शुल्कादानेऽपि स
एव दोषमाह—

न कन्ययाः पिता विद्वान् गृहीयाच्छुल्कमण्वपि ।

गृह्णंश्चुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।

शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छत्रं दुहितृविक्रयम् ॥

^१ पूर्वे ; ^२ स्तोत्रप्रधानिकाः ; ^३ ब्राह्मणार्हाश्च तारयन्ति कुलद्वयम्— वैद्य.

^४ नैष श्लोको मुद्रितायां मनुस्मृतौ.

यमोऽपि—

यो मनुष्यो मनुष्यस्य विक्रयाद्धनमिच्छति ।

तस्य मूत्रं पुरीषं च स परत्रोपजीवति ॥

कन्याविक्रयिणो मूर्खा इह किल्विषकारिणः ।

पतन्ति नरके घोरे दहत्या सप्तमं कुलम् ॥

इति । एतदात्मार्थं धनग्रहणे वेदितव्यम् । कन्यार्थे तु न दोष
इत्याह मनुः—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।

अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥

इति । यच्छुल्कं कन्यार्थं तत्कुमारीणां केवलमर्हणं पूजनमित्यर्थः।
आनृशंस्यमपापित्वम् । अत्र यज्ञपार्श्वः—

विवाहे वितते तन्त्रे होमकाल उपस्थिते ।

कन्याया ऋतुरागच्छेत्कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ॥

स्नापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि ।

युञ्जान आहुतिं हुत्वा ततस्तन्त्रं प्रवर्तयेत् ॥

इति श्रीसकलविद्याविशारदकेशवादित्यभट्टोपाध्यायसूनुयाज्ञिक-
देवणभट्टोपाध्यायविरचितायां स्मृतिचन्द्रिकायां विवाहप्रकरणम्.

समाप्तस्संस्कारकाण्डः.



स्मृतिचन्द्रिकायाम्
आह्निककाण्डः.

आ णि क का ण्ड : .

मूत्रपुरीषोत्सर्जनविधिः.

उक्तास्संस्काराः ! इदानीमवसरप्राप्तमाह्निकं प्रस्तूयते । तत्र मनुः—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय धर्मार्थावनुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

वेदतत्त्वार्थः परमात्मा । तथा च कूर्मपुराणं—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय धर्मार्थावनुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशं तदुद्भूतं ध्यायति मनसेश्वरम् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।

धर्मार्थकामान् स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत् ॥

धर्मादिषु यो यस्मिन्काले विहितस्स तस्मिन्नेव कर्तव्य इत्यर्थः ।

अत्र यत्कर्तव्यं तदाह विष्णुः—

‘ ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात् ’

इति । ब्राह्ममुहूर्तो रात्रेः पश्चिमो यामः—

रात्रेस्तु पश्चिमो यामो मुहूर्तो ब्राह्म उच्यते ।

इति पितामहस्मरणात् । अङ्गिरा अपि—

उत्थाय पश्चिमे यामे रात्रेराचम्य चोदकम् ।

अन्तर्धाय तृणैर्भूमिं शिरः प्रावृत्य ¹ वाससा ॥

¹ शीर्षे संवेष्टय—ग.

वाचं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवार्जितः ।

कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु शुचौ देशे समाहितः ॥

इति । अनेन यत्र स्वप्नादिना निमित्तेनाचमनप्राप्तिः तत्राचम्यैव मूत्रपुरीषे कुर्यादित्युक्तं भवति । तृणान्ययज्ञियानि । तथा च यमः—

शिरः प्रावृत्य कुर्वीत शकृन्मूत्रविसर्जनम् ।

अयज्ञियैरनाद्रैश्च तृणैस्संछाद्य मेदिनीम् ॥

इति । तृणग्रहणं काष्ठादेरपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव मनुः—

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठं पत्रं लोष्टं तृणानि वा ।

नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवकुण्ठितः ॥

इति । तिरस्करणमन्तर्धानम् । संवीताङ्गः आच्छादितदेहः ।

अवकुण्ठितः प्रच्छन्नशिराः^१ । अत्र विशेषमाह विष्णुः—

‘घ्राणास्ये वाससा वेष्टयित्वा मृद्धानीं ग्रीवा-
यामासज्योच्चरेत्’

इति । मृद्धानीं मृद्ग्रन्थनार्थं शार्दी^२ । आपस्तम्बोऽपि —

नोर्ध्वं नाधो न तिर्यक्च किञ्चिदीक्षेत बुद्धिमान् ।

नभोभूम्यन्तरं पश्यन् कृत्वा मूर्ध्नि च वस्त्रकम्^३ ॥

अङ्गिरा अपि—

कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कण्ठलम्बितम् ।

विण्मूत्रं तु गृही कुर्याद्यद्वा कर्णे समाहितः ॥

^१ प्रावृताशिराः—ग. ^२ मृद्धारणशार्दी.—ख. ^३ मूत्रधुपवीतकम्.—ख.

इति । कर्णे निधानमेकवस्त्रविषयम् । तथा च साहचर्यायनगृह्यं—

‘यद्येकवस्त्रो यज्ञोपवीतं कर्णे कृत्वा मूत्रपुरीषो-
त्सर्गं कुर्यात्’

इति । अत्र दिङ्मयममाह यमः—

प्रत्यङ्मुखस्तु पूर्वाह्ने पराह्ने प्राङ्मुखस्तथा ।

उदङ्मुखस्तु मध्याह्ने निशायां दक्षिणामुखः ॥

देवलोऽपि—

सदैवोदङ्मुखः प्रातस्सायाह्ने दक्षिणामुखः ।

विष्णूमूत्रमाचरेन्नित्यं सन्ध्यासु परिवर्जयेत् ॥

मनुरपि—

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।

दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोस्तु यथा दिवा ॥

इति । अत्रैषां विकल्पो वेदितव्यः । यत्तु देवलेनोक्तं—

विष्णूमूत्रमाचरेन्नित्यं सन्ध्यासु परिवर्जयेत् ।

इति, तन्निरुद्धेतरविषयम्,

‘न वेगं धारयेन्नोपरुद्धः क्रियां कुर्यात्’

इति गौतमस्मरणात् । यदपि मनुना—

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।

यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधभयेषु च ॥

इति, तदपि रात्रावहनि वा नीहाराद्यन्धकारजनितदिङ्मोहन-

विषयम् । एतच्चावसथादक्षिणस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां दिशि वा कार्यम् । तथा चापस्तम्बः—

‘आराच्चावसथान्मूत्रपुरीषे कुर्यादक्षिणां दिशं
दक्षिणापरां वा’

इति । गत्वेति शेषः । आरादूरादित्यर्थः । तथा च मनुः—

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ¹ ।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥

अत्र ब्रह्माण्डपुराणं—

प्रतिश्रयादक्षिणपश्चिमेन
क्षिप्रं गत्वा क्षेत्रमात्रं शरस्य ।
कुर्यात्पुरीषं हि शिरोऽवकुण्ठ्य
न च स्पृशेज्जातु शिरः करेण ॥

प्रतिश्रयो निकेतनम् । एतदहर्विषयम् । यदाहापस्तम्बः—

‘अस्तमिते च बहिर्ग्रामादारादवसथाद्वा मूत्रपुरी-
षयोः कर्म वर्जयेत्’

इति । अत्र मनुः—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न बल्मीके कदाचन ॥

¹ वनेजनम्—मुद्रितपुस्तकपाठः.

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।

न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥

वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।

न कदाचन कुर्वीत विष्णूत्रस्य विसर्जनम् ॥

इति । चितिः हविःप्रक्षेपादिकरणेष्टकासमूहः । ससत्त्वेषु सप्राणि-
ष्वित्यर्थः । पर्वतग्रहणेनैव तत्र निषेधे सिद्धे पुनः पर्वतमस्तकग्रहण-
मत्यन्तार्तस्य पर्वते न दोष इति वक्तुमित्युक्तं तद्भाष्ये । यमोऽपि—

तुषाङ्गारकपालानि देवतायतनानि च ।

राजमार्गश्मशानानि क्षेत्राणि च बिलानि च ॥

उपरुद्धो न सेवेत छायां दृश्यं चतुष्पथम् ।

उदकं चोदकान्तं च पन्थानं च विवर्जयेत् ॥

वर्जयेद्वृक्षमूलानि चैसश्वभ्रविलानि च ।

हारीतोऽपि—

‘न चत्वारोपद्वारयोर्मूत्रपुरीषे कुर्यात् न गोमये न
गोष्ठे न तीर्थे न सख्यपूर्णे न यज्ञभूमौ न यज्ञियानां
वृक्षाणामधस्तात्’

इति । चत्वारमङ्गणम् । उपद्वारं द्वारसमीपम् । आपस्तम्बोऽपि—

‘न सोपानत्को मूत्रपुरीषे कुर्यात्’

इति । विष्णुरपि—

‘नाप्रच्छादितायां भूमौ नोषरे न शाद्वले नोद्यानो-
दकसमीपयोर्नकाशे’

इति । शाद्वलो हरिततृणप्रदेशः । गौतमोऽपि—

‘न वाय्वग्निविप्रादित्वापो देवता गाश्च प्रतिपश्य-
न्वा मूत्रपुरीषामेध्यान्युदस्येत्’

इति । प्रतिशब्द आभिमुख्ये । यमोऽपि—

प्रत्यादिसं न मेहेत न पश्येदात्मनश्शक्तत् ।
दृष्ट्वा सूर्यं निरक्षितं गामग्निं ब्राह्मणं तथा ॥

विष्णुरपि—

‘न प्रत्यनिलानलेन्द्रकस्त्रीगुरुब्राह्मणान्’

इति । व्यासोऽपि—

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः ।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥

मूत्रपुरीषाधिकारे शङ्खः—

‘नानुदको नामृत्को नापरिवेष्टितशिराः’

इति । एतद्विप्रकृष्टोदकमृत्तिकाभिप्रायम् । अत एवापस्तम्बः—

‘शिरःपरिवेष्टनं प्रथमं निवीतं द्वितीय दिशाम-
वलोकनं तृतीयमन्तर्धानं चतुर्थं मौनं पञ्चमं पुरीषं
षष्ठं मृत्तिकाग्रहणं सप्तममुदकमष्टमम्’

इति । ततो लोष्टादिना परिमृष्टगुदमेहनो गृहीतशिश्नश्चोत्तिष्ठेत् ।
तथा च भरद्वाजः—

अथापकृष्य विष्मूत्रं लोष्टकाष्ठतृणादिना ।

उदस्तवासा उत्तिष्ठेद्दृढं विधृतमेहनः ॥

इति । उदस्तवासा उत्क्षिप्तवासाः । मेहनं लिङ्गम् ।

अत्र विशेषमाह हारीतः—

लोष्टेन परिमृज्यात्तु शुष्ककाष्ठेन वा गुदम् ।

इति । पुराणेऽपि—

मार्जनं वामहस्तेन वीरणाद्यैरयाज्ञियैः ।

कुर्यान्मूत्रपुरीषाणामेवमायुर्न हीयते ॥

इति । यत्तु गौतमेनोक्तं—

‘ न पर्णलोष्टाश्मभिर्मूत्रपुरीषापकर्षणं कुर्यात् ’

इति, तदुक्तकाष्ठासम्भवविषयमित्यनवद्यम् । अत्र जाबालिः—

स्नानं कृत्वाऽऽर्द्रवासास्तु विष्मूत्रं कुरुते यदि ।

प्राणायामत्रयं कृत्वा पुनस्स्नानेन शुध्यति ॥

हारीतोऽपि—

आहारं तु रहः कुर्याद्विहारं चैव सर्वदा ।

गुप्ताभ्यां लक्ष्मीयुक्तस्यात्प्राकाशे हीयते श्रिया ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां मूत्रपुरीषोत्सर्जनविधिः ।

शौचविधिः

अथ शौचविधिः । तत्र याज्ञवल्क्यः—

गृहीतशिश्वश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः ।

गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥

उद्धृतैः कमण्डल्वादिभिः । अतन्द्रितोऽनलस इत्यर्थः । देवलोऽपि—

आ शौचान्नोत्सृजेच्छिन्नं प्रस्नावोच्चारयोरपि ।

गुदं हस्तौ च निर्णिज्य मृदम्भोभ्यां मुहुर्महुः ॥

इति । एतच्च जलाशयादन्यत्र कार्यम् । तथा च पैठीनसिः—

मूत्रोच्चारणे कृते शौचं न स्यादन्तर्जलाशये ।

अन्यत्रोद्धृत्य तत्कुर्यात्सर्वदैव समाहितः ॥

दक्षोऽपि—

तीर्थे शौचं न कुर्वीत कुर्वीतोद्धृत्य वारिणा ।

मृत्तिका वारि चैवास्य शौचाय 'परिचारकौ ॥

इति । यदा तूद्धरणमुदकस्य न सम्भवति तदा विशेषमाह विवस्वान्—

अरन्नि ² मात्रं जलं सक्त्वा कुर्याच्छौचमनुद्धृते ।

पश्चात्तच्छोधयेत्तीर्थमन्यथा ह्यशुचिर्भवेत् ॥

तीर्थमत्र शौचस्थलम् । अत एव ऋश्यशृङ्गः—

यस्मिन् स्थाने ³ कृतं शौचं वारिणा तत्तु ⁴ शोधयेत् ।

न शुद्धिस्तु भवेत्तस्य ⁵ मृत्तिकां यो न शोधयेत् ॥

तत्र मृत्स्वरूपमाह यमः—

आहरेन्मृत्तिकां प्राज्ञः ⁶ कूलात्ससिकता तु या ⁷ ।

कूलग्रहणमनुपहतदेशो ⁸ पलक्षणार्थम् । मरीचिरपि—

¹ चास्य शौचज्ञौ परिचारकौ - क. ग.

² रन्नि - मदन.

³ देशे ;

⁴ तं तु ;

⁵ भवेत्तावत् - स्मृतिरन्ना.

⁶ विप्रः ;

⁷ ससिकतां तु वा - स्मृतिर.

⁸ ग्रहणं तद्देशो - क. ग,

विप्रे तु शुक्ला मृच्छौचे रक्ता क्षत्रे विधीयते ।
हरिद्रवर्णा वैश्ये तु शूद्रे कृष्णां विनिर्दिशेत् ॥

इति । अत्र

‘ कृष्णां स्त्रीशूद्रयोस्तथा ’

इति काश्यपीये विशेषः । यत्र पुनरुक्तलक्षणा मृन्न लभ्यते तत्र
कथमित्यपेक्षिते मनुराह—

यस्मिन्देशे तु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ।

सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तथा शौचं विधीयते ॥

इति । अत्र वर्ज्या यमेन दर्शिताः—

नाखुकृष्टान्न बल्मीकात्पांसुलान्न च कर्दमात् ।

न मार्गान्नोषरान्नैव शौचशिष्टात्परस्य च ॥

एतास्तु वर्जयेन्निसं वृथा शौचं हि तत्स्मृतम् ।

देवलोऽपि—

अङ्गारतुषकीटास्थिशर्करावालुकान्विताम् ।

बल्मीकोषरतोयान्तः कुड्याघातश्मशानजाम् ॥

आहृतामन्यशौचार्थमाददीत न मृत्तिकाम् ।

विष्णुपुराणेऽपि—

बल्मीकान्मूषिकोत्खातान्मृदं नान्तर्जलात्तथा ।

शौचावशिष्टां गेहाच्च नादद्यात्कूप^१ सम्भवाम् ॥

अन्तः प्राण्युपपन्नां च हलोत्खातां तथा^२ नृप ।

परित्यजेन्मृदस्त्वेतास्सकलाश्शौचसाधनाः ॥

^१ द्याल्लेप—ग.

^२ लाङ्गलोद्घातितां—ग.

इति । नान्तर्जलादिति वाप्यादिव्यतिरिक्तविषयम् । अत एव यमः—

वापीकूपतटाकेषु बाह्यतो नाहरेन्मृदम् ।

आहरेज्जलमध्यात्तु परतो मणिवन्धनात् ॥

इति । वापी दीर्घिका । मणिवन्धनं करबाहुसन्धिदेशः । एवमाहृत्योदकं मृदं चाहनि शोचमुदङ्मुखः कुर्यात् । तथा च ब्रह्माण्डपुराणं—

उद्धृतोदकमादाय मृत्तिकां चैव वाग्यतः ।

उदङ्मुखो दिवा कुर्याद्रात्रौ चेदक्षिणामुखः ॥

इति । अत्र मृत्सङ्ख्यामाह दक्षः—

एका लिङ्गे करे तिस्र उभयोर्मृद्वयं स्मृतम् ।

एतन्मूत्रशौचविषयम् । यदाह शातातपः—

एका लिङ्गे करे सव्ये तिस्रो द्वे हस्तयोर्द्वयोः ।

मूत्रशौचं समाख्यातं शुक्ले तु त्रिगुणं ^१ भवेत् ॥

इति । अत्र मृत्परिमाणमाह विवस्वान्—

पर्वमात्रप्रमाणास्तु लिङ्गशौचे मृदस्स्मृताः ।

दक्षोऽपि—

लिङ्गे तु मृत्समाख्याता त्रिपर्व ^२ पूर्यते यया ।

दातव्यमुदकं तावद्यावत्स्यान्मृत्तिकाक्षयः ॥

इति । अत्र विशेषमाह ब्रह्माण्डपुराणे ^३—

^१ तद्विगुणं ग ; पुरीषे द्विगुणं—पराशरमाधवीये.

^२ त्रिपर्वी—मदन.

^३ पुराणं—क.

आद्यन्तयोस्तु शौचानामद्भिः प्रक्षालनं स्मृतम् ।

मुनिर्णिक्ते मृदं दद्यान्मृदन्ते जलमेव च ॥

इति । यत्तु विवस्वद्रचनं—

तिस्रो मृदो लिङ्गशौचे ग्राह्याः सान्तरमृत्तिकाः ।

वामपाणां मृदः पञ्च तिस्रः पाण्योर्द्वयोरपि ॥

इति, तल्लेपभूयस्ताभिप्रायं, दक्षोक्तालपपरिमाणाभिप्रायं वा ।

सान्तरा जलेन व्यवहिता इत्यर्थः । दक्षोऽपि शौचमाह—

तिस्रोऽपाने दशैकस्मिन्नुभयोस्सप्त मृत्तिकाः ।

इति । मनुरपि—

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकस्मिन्करे दश ।

उभयोस्सप्त दातव्या मृदश्शुद्धिमभीप्सता ॥

इति । ननु किमिदं केवलविट्ठौचविषयमाहोस्वित्सहकरणशौच-
विषयं वा ? न तावदाद्यं, लिङ्गशौचस्यादृष्टार्थत्वप्रसङ्गात्, पर-
स्परानपेक्षशौचद्वयाविधानघटनाच्च । नापि द्वितीयं, मूत्रशौचान्तः-
पातिनो हस्तशौचस्य लोपप्रसङ्गात् । न चात्र लोपोऽस्त्विति
वाच्यं, प्रमाणाभावात्, मूत्रशौचप्रतिपादकवचनविरोधाच्च । नापि
तन्त्रं, गुदशौचव्यवायेनानेककालत्वात् । नापि प्रसङ्गः प्रयोज-
नान्तरसम्भवात् । ननु च यदि सहकरणविषयत्वं, तर्हि पृथक्करणे
मनुना मूत्रशौचमनुक्तमेव स्यात् । अतः किंविषयमेतदिति न

विद्वः । उच्यते; ससं न विद्वौचविषयत्वं,^१ किं तु 'एका लिङ्गे' इत्येतदुक्तन्यायेन पूर्वोक्तमूत्रशौचोपलक्षणार्थम् । एवं च तस्मिंस्तस्मिन्निमित्ते तत्तच्छौचमनुष्ठेयमित्युक्तं भवति । यत्र क्रमेण निमित्तद्वयसन्निपातस्तत्र तेनैवोक्तक्रमेण नैमित्तिकानुष्ठानम् । यत्र पुनस्सहनिमित्तद्वयं, तत्राप्युक्तन्यायेन नैमित्तिकमनुष्ठेयमित्युक्तं भवतीत्यनवद्यम् । अत्र मृत्पारिमाणमाहाङ्गिराः—

प्रथमा प्रसृतिर्ज्ञेया द्वितीया च तदर्धिका ।

तृतीया मृत्तिका ज्ञेया त्रिभागकरपूरणा ॥

इति । हस्तशौचे तु विशेषमाह हारीतः—

‘ ए का लिङ्गे तिस्रोऽपाने दद्यादश सव्ये षट्पृष्ठे
सप्त पद्भ्याम् ’

इति । पृष्ठे सव्यस्य पश्चाद्भागे, तस्यैव प्रकृतत्वात् । दक्षोऽपि—

षडन्या नखशुद्धौ तु देयाश्शौचेप्सुना मृदः ।

न शौचं वर्षधाराभिराचरेत्तु^२ कदाचन ॥

इति । नखशौचानन्तरं शङ्खः—

तिस्रस्तु मृत्तिका देयाः कृत्वा तु नखशोधनम् ।

तिस्रस्तु पादयोर्देयाश्शौचकामस्य निःशः ॥

इति । अत्र विशेषमाह मरीचिः—

तिस्रभिश्चा तलात्पादौ शोध्या गुल्फौ तथैव च ।

हस्तौ त्वा मणिवन्धाच्च लेपगन्धापकर्षणात् ॥

^१ चादिविषयत्वं—ग,

^२ राचामेतु—क. ख.

एतच्च शौचद्वयं गृहस्थस्य वेदितव्यम् । तथा च मनुः—

एतच्छौचं गृहस्थस्य द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।

त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम् ॥

इति ।^१यत्तु वसिष्ठेनोक्तं—

पञ्चापाने दशैकस्मिन्नुभयोस्सप्त मृत्तिकाः ।

इति ; यदपि यमेन—

द्वे लिङ्गे मृत्तिके देये गुदे पञ्च करे दश ।

उभयोस्सप्त दातव्याः पुनरेका गुदे तथा ॥

इति, अत्रापि^१—

अर्धप्रसृतिमात्रा तु प्रथमा मृत्तिका भवेत् ।

पूर्वपूर्वार्धमात्रास्तु चतस्रोऽन्याः प्रकीर्तिताः ॥

इति वृद्धवसिष्ठेनाल्पपरिमाणविधानादविरोधः^२ । “द्वे लिङ्गे”

इति लेपभूयस्त्वाभिप्रायम्,

विष्णूत्रोत्सर्गशुद्धयर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ॥

इति मनुस्मरणात् । गुदे पुनर्दानं तु सर्वत्र विद्ध्यौचे संबध्यते,

विरोधाभावात् । यदपि शङ्खेनोक्तं—

मेहने मृत्तिकास्सप्त लिङ्गे द्वे परिकीर्तिता ।

एकस्मिन्विंशतिर्हस्ते द्वयोर्ज्ञेयाश्चतुर्दश ॥

तिस्रस्तु मृत्तिका देयाः कृत्वा तु नखशोधनम् ।

तिस्रस्तु पादयोर्ज्ञेयाश्चौचकामस्य निखशः ॥

^१ तदपि—क. ख.

^२ दविरोधम्—क. ख.

एतच्छौचं गृहस्थानां तथा गुरुनिवासिनाम् ।

द्विगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां त्रिगुणं भवेत् ॥

इति, तत्रापि—

‘ अवदानसमा मृत्स्यात् ’

इति मरीच्युक्तालपपरिमाणाश्रयणादविरोधः । अङ्गुष्ठपर्वमात्रमव-
दानम् । मेहनमत्र पायुः । यत्तु शातातपेनोक्तं—

आर्द्रामलकमात्रास्तु ग्रासा इन्दुव्रते स्मृताः ।

तथैवाहुतयस्सर्वाश्शौचार्थे याश्च मृत्तिकाः ॥

इति, तद्धस्तशौचाभिप्रायं गुदलिङ्गयोः परिमाणान्तरविधानात् ¹ ।

इन्दुव्रतं चान्द्रायणम् । एवमुक्तशौचकरणेऽपि यत्र गन्धो लेपश्च
नापैति तत्र सङ्ख्यातिरेकेऽप्यविरोध इत्याह मनुः—

यावन्नापैस्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।

तावन्मृद्गारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥

देवलोऽपि—

यावत्तु शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं विधीयते ।

प्रमाणं शौचसङ्ख्याया न शिष्टैरुपदिश्यते ॥

इति । यत्तु दक्षेणोक्तं—

न्यूनाधिकं न कर्तव्यं शौचं शुद्धिमभीप्सता ।

प्रायश्चित्तेन शुद्ध्येत विहितातिक्रमे कृते ॥

इति, तत्सङ्कल्पितसङ्ख्याया अर्वाक् तत्समाप्तौ वा गन्धाद्यपगमे

वेदितव्यम् । एवं चोक्तसङ्ख्याया अर्वागेव यत्र गन्धाद्यपगमस्तत्र सङ्ख्यानियमोऽदृष्टार्थ इत्यनुसन्धेयम् । एवमुक्तशौचकरणेऽपि यस्य भावशुद्धिर्नास्ति न तस्य शुद्धिरित्याह व्याघ्रपादः¹—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथाऽऽन्तरम् ॥

गङ्गातोयेन कृत्स्नेन मृद्धारैश्च नगोपमैः² ।

आ मृत्योराचरेच्छौचं भावदुष्टो न शुद्ध्यति ॥

इति । भोजने तु गुदस्त्रावे शुद्धौ विशेषमाह बृहस्पतिः—

भुजानस्य तु विप्रस्य कदाचित्स्रवते गुदः ।

उच्छिष्टमशुचित्वं च तस्य शौचं कथं भवेत् ॥

पूर्वं कृत्वा तु शौचं तु ततः पश्चादुपस्पृशेत् ।

ततः कृतोपवासश्च पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥

अनुपनीतानां तु पितामहोक्तं द्रष्टव्यं—

न यावदुपनीयन्ते द्विजाश्शूद्रास्तथाऽङ्गनाः ।

गन्धलेपक्षयकरं शौचमेषां विधीयते ॥

इति । स्त्रीशूद्रयोस्त्वादिपुराणे विशेषो दर्शितः—

स्त्रीशूद्रयोरर्धमानं प्रोक्तं शौचं मनीषिभिः ।

इति । यस्तु विष्णूत्रोत्सर्जनायोपविष्टस्तन्न करोति तस्याप्यर्ध-
शौचमेव । तथा च वृद्धपराशरः—

¹ व्याघ्रः—क; व्याघ्रपात्—ख.

² श्रापि गोमयैः—ख.

उपविष्टस्तु विष्मूत्रं कर्तुं यस्तु न विन्दति ।
 स कुर्यादर्धशौचं तु स्वस्य शौचस्य सर्वदा ॥
 इति । एवं रात्रावपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं चतुर्विंशतौ^१—
 यद्विवा विहितं शौचं तदर्धं निशि कीर्तितम् ।
 तदर्धमातुरे प्रोक्तमातुरस्यार्धमध्वनि ॥

एतच्छौचसामर्थ्याभावातुर^२ विषयम् । अन्यथा तु यथासाम
 र्थ्यमेव शौचम् । तथा चादिपुराणम्—

दिवा शौचस्य निश्चयं पथिकादौ विधीयते ।
 आर्तः कुर्याद्यथाशक्ति स्वस्थः कुर्याद्यथोदितम् ॥

बोधायनोऽपि—

देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।
 उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥

इति । अत्र दक्षः—

शौचे यत्नस्सदा कार्यश्शौचमूलो द्विजस्मृतः ।
 शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः ॥
 यस्य शौचेऽपि शैथिल्यं वृत्तं तस्याप्यरक्षितम् ।

देवलोऽपि—

धर्मविदक्षिणं हस्तमधश्शौचे न योजयेत् ।
 तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत् ॥

^१ चतुर्विंशतिमते—क.

^२ एतच्चासामर्थ्ययुक्तातुर—क. एतच्च सामर्थ्ययुक्तातुर—ख.

आपस्तम्बोऽपि—

‘शक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतस्स्यात्’
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां शौचविधिः.

शारीरमलशौचम्.

अथ शारीरमलशौचम् । तत्र मनुः—

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्रुचताः ॥

इति । खानीन्द्रियच्छिद्राणि । मला अपि तेनैवोक्ताः—

वसा शुक्रमसृज्ज्जा मूत्रविड्ढाणकर्णविद् ।

श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥

इति । वसा कायस्नेहः । असृक् शोणितम् । मज्जा शिरसो मेदः ।

कर्णविट्कर्णमलम् । अश्रु नेत्रजलम् । एतैरुपहतस्य शुद्धिमाह

बोधायनः—

आददीत मृदोऽपश्च षट् पूर्वेषु शुद्धये ।

उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्धयति ॥

इति । मनुस्तूत्तरेष्वपि मृज्जलाभ्यां शुद्धिरित्याह—

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्धयर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।

दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥

विण्मूत्रमुत्सृज्यते येन तत्तथोक्तम् । तच्छुद्धयर्थमित्यर्थः । एतच्च

पूर्वोक्तेन विकल्पचमानं देशकालाद्यपेक्षया व्यवस्थापनी-

यम् । इदं च बोधायनोक्तं—

देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।

उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥

इति । एतत्स्वकीयमलसंस्पर्शने । परकीयमलसंस्पर्शे तु देव-
लोक्तं द्रष्टव्यं—

मानुषास्थि वसां विष्टामर्तवं मूत्ररेतसी ।

मज्जानं शोणितं वाऽपि परस्य यदि संस्पृशेत् ॥

स्नात्वाऽपमृज्य चेलादीनाचम्य स शुचिर्भवेत् ।

तान्येव स्वानि संस्पृश्य पूतस्स्यात्परिमार्जनात् ॥

इति । परिमार्जनं प्रक्षालनम् । अत्र विशेषमाह विष्णुः—

नाभेरधस्ताद्बाहुषु च कायिकैर्मलैस्सुरादिभिर्मद्यै
वोपहतो मृतोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य स्नानेनेन्द्रियेषूपहत-
स्तूपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन दशनच्छदोपहतश्चेति ।

अत्र यमः—

गात्रे तिस्रः पादयोस्तु हस्तयोस्तिस्र एव तु ।

मृदः पञ्च दशामेध्ये हस्तादीनां विशेषतः ॥

एतदात्मीयमूत्रादिस्पर्शे शौचमुदाहृतम् ।

उत्सर्गकालादन्यत्र परकीये तु पठ्यते ॥

परस्य शोणितस्पर्शे रेतोविण्मूत्रयोस्तथा ।

चतुर्णामपि वर्णानां द्वात्रिंशन्मृत्तिकास्मृताः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां शारीरमलशौचम्.

आचमनविधिः.

अथाचमनविधिः । तत्र वृद्धपराशरः—

कृत्वाऽथ शौचं प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च मृज्जलैः ।

निबद्धशिखकच्छस्तु द्विज आचाममाचरेत् ॥

अत्र विशेषमाह मार्कण्डेयः—

सपवित्रेण हस्तेन कुर्यादाचमनक्रियाम् ।

नोच्छिष्टं तत्पवित्रं तु भुक्तोच्छिष्टं तु वर्जयेत् ॥

इति । एतदक्षिणहस्ताभिप्रायं, वामे निषेधश्रवणात् । तदाह
हारीतः—

वामहस्ते कुशान्कृत्वा समाचामति यो द्विजः ।

उपसृष्टं भवेत्तेन रुधिरेण मलेन च ॥

इति । एतदपि केवलवामहस्तविषयं, उभयोः फलविशेष-
श्रवणात् । तथा च गोबिलः—

उभयत्र स्थितैर्दक्षैस्समाचामति यो द्विजः ।

सोमपानफलं तस्य भुक्त्वा यज्ञफलं लभेत् ॥

इति । अत्र दिङ्मयममाह हारीतः—

ऐशान्याभिमुखो भूत्वोपस्पृशेत्तु यथाविधि ।

ऐशान्युत्तरपूर्वा । उपस्पृशेत् आचामोदित्यर्थः । याज्ञवल्क्योऽपि—

अन्तर्जानु शुचौ देश उपविष्ट उद्घ्याखः ।

प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥

अन्तर्जानु जान्वे रन्तरा अरानि कृत्वेत्यर्थः,

‘अन्तरूर्वोररानि कृत्वा त्रिरपो हार्दं पिबेत्’

इति हारतिस्मरणात् । ब्राह्मग्रहणं कायदैवयोरपि प्रदर्शनार्थम् ।
अत एव मनुः—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥

इति । विप्रग्रहणमितरयोरपि प्रदर्शनार्थं,

‘ द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ’

इति स्मरणात् । कायं प्राजापत्यम् । त्रैदशिकं दैवम् । अत्र
तीर्थस्वीकरणमाचमनस्याद्यप्रयोगे वेदितव्यम् । न प्रतिप्रयो-
गम् । तथात्वे नित्यकालमित्यघटनात् । तीर्थान्यपि याज्ञव-
ल्क्येन दर्शितानि—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।

प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥

देशिन्युपाङ्गुष्ठिका । अत्र विशेषमाहतुश्शङ्खलिखितौ—

‘ अङ्गुष्ठमूलस्योत्तरतः प्रागग्रायां रेखायां ब्राह्मं
तीर्थं देशिन्यङ्गुष्ठयोरन्तरा पित्र्यं कनिष्ठिकातल-
योरन्तरा प्राजापत्यम् ’

इति । तत्रोदकनियममाह शङ्खः—

अद्भिस्तमुद्धृताभिस्तु हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ।

वह्निना च न तप्ताभिरक्षाराभिरुपस्पृशेत् ॥

आचामेदित्यनुवृत्तौ याज्ञवल्क्योऽपि—

अद्रिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ।

प्रकृतिस्थाभिः अविकृताभिः । हारीतोपि—

विवर्णं गन्धवत्तोयं फेनिलं च विवर्जयेत् ।

वसिष्ठोऽपि—

न वर्णरसदुष्टास्तु याश्च स्युरशुभागमाः ।

प्रचेता अपि—

अनुष्णाभिरफेनाभिः पूताभिर्वस्त्रचक्षुषा ।

हृद्गताभिरशब्दाभिस्त्रिचतुर्वा द्विराचमेत् ॥

अनुष्णाभिरित्यनातुरविषयम् । अत एव यमः—

रात्रावनीक्षितेनैव शुद्धिरुक्ता मनीषिणाम् ।

उदकेनातुराणां च तथोष्णेनोष्णपायिनाम् ॥

उष्णपायिनामातुराणां न पुनरातुरमात्राणामित्यर्थः । आप-
स्तम्बोऽपि—

‘न वर्षधारास्वाचामेत्तथा न प्रदरोदके तप्ताभिश्चा-
कारणात्’

इति । प्रदरो गर्तः । न प्रदरोदक इति गोरपर्याप्तोदकविषयं,

‘प्रदरादपि या गोस्तर्पणाय स्युः’

इति वसिष्ठस्मरणात् । यत्र पुनरुक्तलक्षणा आपो न लभ्यन्ते तत्र
कथमित्यपेक्षिते देवलः—

येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः ।

येषु देशेषु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ॥

येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः ।

तत्र तान्नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः ॥

इति । एतच्चोदकं यावद्दामेन न संस्पृशति^१ तावन्नाचामेदित्याह यमः—

तावन्नोपस्पृशोद्विद्रान्यावद्दामेन न स्पृशेत् ।

वामे हि द्वादशादित्या वरुणश्च जलेश्वरः ॥

इति । अत्र दक्षः—

प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च त्रिः पिवेदम्बु वीक्षितम् ।

इति । वीक्षितमित्यहर्विषयं,

रात्राववीक्षितेनैव शुद्धिरुक्ता मनीषिणाम् ।

इति यमस्मरणात् । प्रक्षालने विशेषमाह हारीतः—

‘आ मणिवन्धनात्पाणी प्रक्षाल्य आ जङ्घात्पादौ’

इति । मणिवन्धः करबाहुसन्धिदेशः । देवलोऽपि—

इत्येवमाद्रिराजानु प्रक्षाल्य चरणौ पृथक् ।

हस्तौ चा मणिवन्धाभ्यां पश्चादासीत संयतः ।

अथाम्बु प्रथमात्तीर्थादक्षिणात्रिः पिवेत्समम् ॥

इति । प्रथमाद्वाह्यादित्यर्थः । प्रक्षालनानन्तरं विष्णुपुराणं—

निष्पादिताङ्घ्रिशौचस्तु पादावभ्युक्ष्य वै पुनः ।

त्रिः पिवेत्सलिलं तेन तथाऽद्भिः परिमार्जयेत् ॥

इति । त्रिः पिवेदित्यर्वाङ्घ्रिष्वेधपरं न पुनरुर्ध्वं,

‘शुचौ देश आसीनो दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा कृत्वा

यज्ञोपवीत्या मणिवन्धनात्पाणी प्रक्षाल्य वाग्यतो

हृदयस्पृशस्त्रिचतुर्वाऽप आचामेत्’

इति गौतमस्मरणात् । आत्मतुष्ट्यभिप्रायेण चायं विकल्पः ।

हृदयस्पृशो हृदयङ्गमा इत्यर्थः । तथाच देवलः—

अप्सु पीतासु हृदयं प्राप्तासु ब्राह्मणश्शुचिः ।

राजन्यः कण्ठमाख्यं वै विद्वद्रस्पर्शनाच्छुचिः ॥

इति । स्पर्शनात्तालुनेति शेषः । शूद्रग्रहणं स्त्रीणामपि प्रदर्शनार्थम् ।

अत एव याज्ञवल्क्यः—

हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासङ्ख्यं द्विजातयः ।

शुध्येरन् स्त्री च शूद्रश्च सकृत् स्पृष्टाभिरन्ततः ॥

इति । सकृदेकवारम् । अन्ततस्तेन तालुना स्पृष्टाभिरित्यर्थः ,

अप्सु प्राप्तासु हृदयं ब्राह्मणश्शुद्धिमाप्नुयात् ।

राजन्यः कण्ठतालू च वैश्यश्शूद्रस्त्रियोऽपि च ॥

इति स्मरणात् । हृदयंगमानां परिमाणमाहोशना—

‘ माषमज्जनमात्रा हृदयङ्गमा भवन्ति ’

इति । भारद्वाजोऽपि—

माषमज्जनमात्रास्तु सङ्गृह्य त्रिः पिबेदपः ।

इति । ग्रहणेऽपि विशेषमाह स एव—

आयतं पूर्वतः कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्करम् ।

संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः ॥

मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठे तु शेषेणाचमनं चरेत् ।

इति । पाणिना दक्षिणेनेति शेषः । तथा च पुराणम्—

दक्षिणं तु करं कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्पुनः ।

त्रिः पिबेदक्षिणेनाम्बु द्विरास्यं परिमार्जयेत् ॥

इति । तत्परिमार्जनमङ्गुष्ठमूलेनैव कार्यम् । तथा च दक्षः—

संमृज्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्या ^१ ततो मुखम् ॥

इति । संमृज्यालोमकं देशमिति शेषः । आपस्तम्बस्तु त्रिः
परिमृजोदेत्याह—

‘त्रिरोष्ठौ परिमृजेद्विरित्येके । सकृदुपस्पृशेद्विरि-
त्येके । दक्षिणेन पाणिना सव्यं प्रोक्ष्य पादौ
शिरश्चेन्द्रियाण्युपस्पृशेत्’

इति । ओष्ठौ चात्र सलोमकौ,

‘अथर्ववेदेतिहासपुराणानीति ध्यायन् ब्राह्मेण
तीर्थेनोष्ठयोस्सलोमदेशमुन्मृजेत्’

इति कण्वस्मरणात् । सकृदुपस्पृशेन्मुखमिति शेषः,

‘ओष्ठौ परिमृज्य ततो मुखं परिमृजेत् अग्निं ध्यायन्’

इति भार्गवस्मरणात् । इन्द्रियाणि शीर्षण्यानि चोपस्पृशेत्,

‘खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि’

इति गौतमस्मरणात् । तदुपस्पर्शनमाह दक्षः—

संहृत्य तिसृभिः ^२ पूर्वमास्यमेवमुपस्पृशेत् ।

अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम् ॥

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुश्श्रोत्रे पुनःपुनः ।

नाभिं कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां हृदयं तु तलेन वै ॥

सर्वाभिश्च शिरः पश्चाद्बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ॥

^१ द्विजो मृज्या—क. ख.

^२ संहताङ्गुलिभिः—मदन.

इति । तिसृभिर्मध्यमाभिरिति शेषः ,

मध्यमाभिर्मुखं पूर्वं तिसृभिस्समुपस्पृशेत् ।

इति योगियाज्ञवल्क्यस्मरणात् । प्रदेशिन्युपाङ्गष्ठिका ।

अनामिकोपकनिष्ठिका । पुनःपुनरुदकमालभ्येति शेषः ,

प्राणस्थानानि सर्वाणि स्पृष्ट्वा जलमुपस्पृशेत् ।

आचामन्ब्राह्मणो निसमित्याह भगवान्भृगुः ॥

इति वैयाघ्रपादस्मरणात् । शिरश्शङ्खोऽत्र मूर्धानमाह ,

‘मूर्धानं हृदयं स्पृशेत्’

इति विष्णुस्मरणात् । अग्रेण कराग्रेणेत्यर्थः । तथा च वैयाघ्रपादः—

अंसौ स्पृष्ट्वा कराग्रेण तोयं स्पृष्ट्वा समाहितः ।

संस्मृत्य पद्मनाभं च विप्रस्तम्यग्विशुद्धयति ॥

इति । अत्र ,

‘ओङ्कारेण सह यज्ञपुरुषं मनसा स्मरेत्’

इति नारायणीये विशेषः । अत्र पैठीनसिः—

‘सव्ये पाणौ शेषा अपो निनयेत्’

इति । शेषा आचमनशिष्टाः । वृद्धशङ्खस्त्वन्यथोपस्पर्शनमाह—

तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नासापुटद्वयम् ।

मध्यमाङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नेत्रद्वयं ततः ॥

अङ्गुष्ठस्यानामिकया योगेन श्रवणे स्पृशेत् ।

कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेत् स्कन्धद्वयं नरः ॥

नाभिं च हृदयं तद्वत् स्पृशेत्पाणितलेन तु ।

संस्पृशेत्तु ततश्शीर्षमयमाचमने विधिः ॥

इति । शङ्खोऽपि—

ततोऽङ्गुलिचतुष्केण स्पृशेन्मूर्धानमादितः ।

तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नेत्रद्वयं पृथक् ॥

मध्यमानामिकाभ्यां तु स्पृशेन्नासापुटे क्रमात् ।

अङ्गुष्ठेन कनीयस्याः कर्णे संयोगतस्स्पृशेत् ॥

तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन नाभिं हृदि तलं स्पृशेत् ।

पैठीनसिरापि—

‘ अग्निरङ्गुष्ठस्तस्मात्तेनैव सर्वाणि स्थानानि स्पृशेत् ’

इति । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था । येषां तु शाखिनामङ्गोपस्पर्शनमनाख्यातं तेषां विकल्प एव । यत्र पुनः कतिपयाङ्गोपस्पर्शनमुक्तं तत्राविरोधाद्वचनानुसाराद्वाऽङ्गान्तरोपस्पर्शनमस्तीत्यवगन्तव्यम् । अत एव संवर्तः—

परिमृज्याद्विरास्यं तु द्वादशाङ्गानि चालभेत् ।

इति । एवं कुर्वतः फलमाह वैयाघ्रपादः—

एवं यो ब्राह्मणो निसृष्टोपस्पर्शनमाचरेत् ।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत्सपादि तर्पयेत् ॥

वृद्धशङ्खोऽपि—

त्रिः प्राश्नीयाद्यदम्भस्तु प्रीतास्तेनास्य देवताः ।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च भवन्तीत्यनुश्रुमः ॥

गङ्गा च यमुना चैव प्रीयेते परिमार्जनात् ।
 पादाभ्यां प्रायते विष्णुः ब्रह्मा शिरसि कीर्तितः ॥
 नासत्यदस्त्रौ प्रीयेते स्पृष्टे नासाणुद्वये ।
 स्पृष्टे लोचनयुग्मे तु प्रीयेते शशिभास्करो ॥
 कर्णयुग्मे तथा स्पृष्टे प्रीयेते त्वनलानिलौ ।
 स्कन्धयोस्स्पर्शनादेव प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥
 नाभिस्पर्शेन देवेशाः प्रीयन्ते चास्य नित्यशः ।
 संस्पृष्टे हृदये चास्य प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥
 मूर्ध्नि संस्पर्शनादेव प्रीतस्तु पुरुषो भवेत् ।
 भूम्यम्बुपर्वता नागा अंसयोस्तु चराचरम् ॥

इति । अथाकरणे दोषः पुराणे दर्शितः—

यः क्रियाः कुरुते मोहादनाचम्यैव नास्तिकः ।
 भवन्ति हि वृथा तस्य क्रियास्सर्वा न संशयः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामाचमनविधिः.

आचमननिमित्तानि.

अथाचमननिमित्तानि । तत्र मनुः—

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ।
 वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्वंश्च सर्वदा ॥

खानीन्द्रियाणि । आचान्तस्त्रिरपः पीत्वेत्यर्थः । आपस्तम्बोऽपि—

‘ स्वप्ने क्षवयौ शिङ्गाणिकाश्चालम्भे लोहितस्य
 केशानामग्नेर्गवां ब्राह्मणस्य स्त्रियाश्चालम्भे महापथं

च गत्वाऽमेध्यं चोपस्पृश्याप्रयतं च मनुष्यं नीवीं
च परिधायाप उपस्पृशेत् '

इति । श्वथः क्षुतम् । शिङ्गाणिका नासामलम् । अश्रु नेत्रज-
लम् । नीवीं शङ्खेनात्राधोवासो लक्ष्यते । अधोवस्त्रग्रथनं नीवी ।
कूर्मपुराणेऽपि—

चण्डालम्लेच्छसम्भाषे स्त्रीशूद्रोच्छिष्टभोजने ।
उच्छिष्टं पुरुषं दृष्ट्वा भोज्यं चापि तथाविधम् ॥
आचामेदश्रुपाते वा लोहितस्य तथैव च ।
अग्नेर्गवामथालम्भे स्पृष्ट्वाऽप्रयतमेव च ॥
स्त्रीणामथात्मनस्स्पर्शे नीवीं विपरिधाय च ।

हारीतोऽपि—

‘सुषुप्सुर्भोज्यन्वाऽऽचामेत्’

इति । प्रजापतिरपि—

उपक्रमे विशिष्टस्य कर्मणः प्रयतोऽपि सन् ।

आचामेदिति शेषः । मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

देवार्चनादिकार्याणि तथा गुर्वभिवादनम् ।
कुर्वीत सम्यगाचम्य तद्रदेव भुजिक्रियाम् ॥

वसिष्ठोऽपि—

कृत्वा चावश्यकार्याणि आचामेच्छौचतत्परः

आवश्यकार्याणि निखानि । शातातपोऽपि—

आचामेच्चर्वणे नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम् ।
 ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥
 सुप्ता क्षुत्त्वा च भुक्त्वा च ष्ठीवित्वोक्त्वाऽनृतं वचः ।
 रथ्यां श्मशानं वाऽऽक्रम्य आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥

बृहस्पतिरापि—

अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधसम्भवे ।
 मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासेऽनृतभाषणे ॥
 निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नुपस्पृशेत् ।

हारीतोऽपि—

‘देवता अभिगन्तुकाम आचामेत्’

इति । यमोऽपि—

उत्तीर्योदकमाचामेदवतीर्य तथैव च ।
 एवं स्याच्छ्रेयसा युक्तो वरुणश्चैव पूजितः ॥

अवतीर्य प्रविश्येत्यर्थः । हारीतोऽपि—

‘नोत्तरेदनुपस्पृश्य’

इति । जलामिति शेषः । उपस्पर्शनमाचमनम् । ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

संदेहेषु च सर्वेषु शिखामोक्षे तथैव च ।
 विना यज्ञोपवीतेन नित्यमेवमुपस्पृशेत् ॥

मनुरपि—

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।

अशुच्यमेध्यादि । पद्मपुराणे—

चण्डालादीन् जपे होमे दृष्ट्वाऽऽचामेद्विजोत्तमः ।

श्वादीन्दृष्ट्वा तथैवापि कर्णे वा दक्षिणं स्पृशेत् ॥

वसिष्ठोऽपि—

क्षुते निष्ठीवने सुप्ते परिहासेऽश्रुपातने ।

पञ्चस्वेतेषु चाचामेच्छ्रोत्रं वा दक्षिणं स्पृशेत् ॥

इति । अत्रार्थवादमाह पराशरः—

प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्यास्सरितस्तथा ।

विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सन्तीति मनुरब्रवीत् ॥

आदित्यो वरुणस्तमो वह्निर्वायुस्तथैव च ।

विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः ॥

इति । एतच्च दक्षिणकर्णस्पर्शनमाचमनासम्भवे वेदितव्यम् ।

तथा च मार्कण्डेय पुराणम्—

सम्यगाचम्य तोयेन क्रियाः कुर्वीत वै शुचिः ।

देवतानामृषीणां च पितॄणां चैव यत्नतः ॥

कुर्वीतालम्भनं वाऽपि दक्षिणश्रवणस्य वै ।

यथाविभवतो ह्येतत्पूर्वभावे ततः परम् ॥

न विद्यमाने पूर्वोक्त उत्तर प्राप्तिरिष्यते ।

इति । अथ वा बोधायनोक्तं द्रष्टव्यं—

‘ नीवीं विप्रः परिधायाप उपस्पृशेदार्द्रतृणं भूमिं

गोमयं वा स्पृशेत् ’

इति । उपस्पृशेदाचामेदित्यर्थः । आपस्तम्बोऽपि—

‘नीवीं च परिधायप उपस्पृशेदार्द्रां वा शक्र-
दोषधीर्भूमिं वा’

इति । शक्रुत् गोमयम् । अत्र बोधायनः—

‘शक्तिविषये मुहूर्तमपि नाप्रयतत्स्यात्’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायानावमननिमित्तानि

द्विराचमननिमित्तानि.

अथ द्विराचमननिमित्तानि । तत्र याज्ञवल्क्यः—

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्याऽपसर्पणे ।

आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥

विष्णुरपि—

‘रथ्यामाक्रम्य कृतमूत्रपुरीषः पञ्चनखास्थिस्नेहं

स्पृष्ट्वाऽऽचान्तः पुनराचामेच्चण्डालम्लेच्छभाषणे च’

इति । बोधायनोऽपि—

भोजने हवने दाने उपहारे प्रतिग्रहे ।

हविर्भक्षणकाले च द्विराचमनमिष्यते ॥

शङ्खोऽपि—

‘स्नाने भोजनकालेष्वचान्तः पुनराचापेत्’

इति । व्यासोऽपि—

होमे भोजनकाले च सन्ध्ययोरुभयोरपि ।

आचान्तः पुनराचामेज्जपहोमार्चनेषु च ॥

होमे दान इत्यर्थः । कूर्मपुराणेऽपि—

प्रक्षाल्य पाणी पादौ च भुञ्जानो द्विरुपस्पृशेत् ।
 ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वातो विपरिधाय च ॥
 रेतोमूत्रपुरीषाणामुत्सर्गे शुक्तभाषणे ।
 छिावित्वाऽध्ययनारम्भे स्वासश्वासागमे ^१ तथा ॥
 चत्वरं वा श्मशानं वा समागम्य समाहितः ^२ ।
 सन्धयोरुभयोस्तद्वदाचान्तोऽप्याचमेत्पुनः ॥
 इति । शुक्तं निष्पुन्रवाक्यम् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां द्विराचमन
 निमित्तानि ॥

आचमनापवादः

अथाचमनापवादः । तत्र याज्ञवल्क्यः—

मुखजा विप्रुषो मेध्यास्तथाऽऽचमनविन्दवः ।

श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततश्शुचिः ॥

अस्यार्थः—मुखनिस्सृताश्श्लेष्मविन्दवो मेध्याः, नोच्छिष्टं कुर्वन्ति
 न चेदङ्गे निपतन्ति । तथा च गौतमः—

‘ न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे
 निपतन्ति ’

इति । अतो नाचामेदिति भावः । अङ्गस्पर्शे तु स्पर्शनिमित्तमा
 चमनं भवत्येव । आपस्तम्बस्त्वङ्गास्पर्शेऽप्याचमनमाह—

‘ य आस्यात्पतन्तो बिन्दव उपलभ्यन्ते तेष्वच-
 मनं विहितम् । ये भूमौ न तेष्वचामेदित्येके ’

^१ स्वासवातागमे — क. ख.

^२ द्विजोत्तमः — वैद्य.

इति । अत्र देशकालविभेदेन व्यवस्था । आचमनविन्दवस्त्वङ्ग
स्पृष्टा अपि मेध्या नोच्छिष्टं कुर्वन्ति । तथा च मनुः—

स्पृशन्ति विन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।

भौमिकैस्तैस्समा ज्ञेया नैतैरप्रयतो भवेत् ॥

इति । अत्र परानाचामयतः पादाविति सम्बन्धः । भौमिकैरनु-
पहतदेशस्थैरित्यर्थः । दातुः पादग्रहणमवयवान्तरस्यापि प्रदर्श-
नार्थः, ' भौमिकैस्तैस्समा ज्ञेयाः ' इति हेत्वभिधानात् ।

प्रत्याचामयतो याश्च शरीरे विप्रुषो नृणाम् ।

उच्छिष्टदोषो नास्त्यत्र भूमितुल्यास्तु तास्स्मृताः ॥

इति यमस्मरणाच्च । तथाऽऽस्यगतं श्मश्रु च मेध्यं नोच्छिष्टं
करोति । यदाह देवलः—

श्मश्रुभिश्च मुखाविष्टैराशौचं नोपदिश्यते ।

इति । अत्र विशेषमाहापस्तम्बः—

‘ न श्मश्रुभिरुच्छिष्टो भवत्यन्तरास्ये सद्गिर्यावन्न
हस्तेनोपस्पृशति ’

इति । हस्तग्रहणमङ्गान्तरस्यापि प्रदर्शनार्थः,

‘ न चेदङ्गे निपतन्ति ’

इति गौतमस्मरणात् । दन्तसक्तं दन्तलग्नमन्नादि । तद्यदि
स्वयमेव च्युतं तदा तत्परित्यज्य शुचिर्भवतीत्यर्थः । अच्युतं
तु दन्तवन्नोच्छिष्टं करोति यदि न जिह्वास्पृष्टम् । तथा च मनुः—

दन्तवदन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्न तु ।

परिच्युनेषु तत्स्थाना^१ निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥

निगिरन्नन्तःप्रवेशयन्नित्यर्थः । एवकारस्त्वाचमनानिवृत्त्यर्थम् ।
एतच्च निगिरणं याज्ञवल्क्येनोक्तत्यागेन विकल्प्यते । ‘दन्तवद-
न्तलग्नेषु’ इत्येतद्रसानुपलब्धौ वेदितव्यम् । यथाऽऽह शंङ्खः—

‘दन्तवदन्तलग्नेषु रसवर्जमन्यत्र जिह्वाऽभिमर्शनात्’

इति । रसवर्जं रसानुपलब्धावित्यर्थः । केचिज्जिह्वाऽभिमर्शनेऽपि
यावत्परिच्युतिर्न भवति तावच्छुचिरित्याहुः । तथा च गौतमः—

‘दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाऽभिमर्शनात्प्रा-
क्च्युतेरित्येके । च्युतेष्वास्त्राववद्विद्यानिगिरन्नेव
तच्छुचिः ।

इति । आस्त्रावो मुखोदकम् । तद्यथाऽशुचि^२र्न भवति तथेत्यर्थः ।
दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदित्यनिर्हार्यलेपाभिप्रायम् । तथा च देवलः—

भोजने दन्तलग्नानि निर्हृत्याचमनं चरेत् ।

दन्तलग्नमसंहार्यं लेपं मन्येत दन्तवत् ॥

न तत्र बहुशः कुर्याद्यत्नमुद्धरणे पुनः ।

भवेदशौचमसर्थं तृणवेधादूणे कृते ॥

इति । एवं च यद्रसहीनमजिह्वास्पृष्टमनिर्हार्यं च तद्दन्तवदितुक्तं
भवति । अत्र शातातप —

^१ स्वस्थाना—क.

^२ तद्यथा च्युतमशुचि—क. ग.

दन्तलग्ने फले मूले भुक्तस्नेहे तथैव च ।
 ताम्बूले चेक्षुदण्डे च नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥
 इति । भुक्तस्नेहोऽस्यन्तानिर्हार्यः ,
 भुक्त्वाऽऽचामेद्विधानेन यथोक्तेन समाहितः ।
 शोधयेन्मुखहस्तौ च मृदद्भिर्घर्षणैरपि ॥

इति देवलस्मरणात् । षष्टिंशन्मतेऽपि—

अद्भिः पत्रैर्मूलपुष्पैस्तृणकाष्ठप्रयैस्तथा ।
 सुगन्धिभिस्तथा द्रव्यैर्नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥
 अत्रैरपि—

मधुपर्के च सोमे च अप्सु प्राणाहुतीषु च ।
 नोच्छिष्टस्य भवेद्दोषस्त्वत्रेस्तु वचनं यथा ॥
 अप्सु अमृतापिधानमसीत्यादिषूच्छिष्टस्य मन्त्रोच्चारणे दोषो
 नास्तीत्यर्थः । वसिष्ठोऽपि—

प्राणाहुतिषु सोमेषु मधुपर्के तथैव च ।
 आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥
 इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामाचमनापवादः.

आचमनप्रतिषेधः.

अथाचमनप्रतिषेधः । तत्र देवलः—

सोपानत्को जलस्थो वा मुक्तकेशोऽपि वा पुनः ।
 उष्णीषी वाऽपि नाचामेद्वस्त्रेणावेष्ट्य वा शिरः ॥

श्मश्रुदेशेऽपि वेष्टितवानुष्णीषी । विष्णुरपि¹—

न गच्छन्न शयानश्च न चेलं न परं स्पृशन् ।

न हसन्नैव सञ्जल्पन्नात्मानं चापि वीक्षयन् ॥

केशान्नीवीमधःकायं न स्पृशन्धरणीमपि ।

यदि स्पृशति चैतानि भूयः प्रक्षालयेत्करम् ॥

गोबिलोऽपि—

नान्तरीयैकदेशस्य कृत्वा चैवोत्तरीयताम् ।

इति । अन्तरीयमधोवासः । प्रचेता अपि—

‘नान्तर्वासा न निर्वासा नान्यत्कुर्वन्नासमपाद
आचामेत्’

इति । आपस्तम्बोऽपि—

‘नाग्न्युदकशेषेण वृथा कर्माणि कुर्वीताचामेद्रा ।
पाणिसङ्कुब्धेनोदकेन’

इति । विष्णुरपि—

¹ विष्णुरपि—

न गच्छन्न शयानश्च न स्थितः प्रह्व एव वा ।

न स्पृशन्न हसन्नल्पन्न श्रचण्डालदर्शने ॥

स्थितः ऋज्वीभूतः । प्रह्वोऽवनतः । न स्पृशन्नन्यमिति शेषः । देवलोपि—

शिखां बध्वा वसित्वा द्वे निर्णिक्ते वाससी उभे ।

तृष्णीभूत्वा समादाय न क्रुध्यन्नावलोकयन् ॥

न गच्छन्न शयानश्च नालपन्न परं स्पृशन् ।

न हसन्नैव सञ्जल्पन्नात्मानं चापि वीक्षयन् ॥ — क.

‘पादप्रक्षालनोच्छेषेण नाचामेत् । भूमौ स्नावयित्वाऽऽचामेत्’

इति । संवर्तोऽपि—

शूद्राशुच्येकहस्तैस्तु दत्ताद्भिर्न कदाचन ।

आरूढपादुको वाऽपि न शुद्ध्येत द्विजोत्तमः ॥

मरीचिरपि—

न बहिर्जानु त्वरया नासनस्थो न चोत्थितः ।

न पादुकास्थो नाचित्तशुचिः प्रयतमानसः ॥

भुक्त्वाऽऽसनस्थोऽप्याचामेन्नान्यकाले कदाचन ।

भृगुरपि—

विना यज्ञोपवीतेन तथाऽधौतेन वाससा ।

मुक्त्वा शिखां वाऽप्याचान्ते कृतस्यैव पुनःक्रिया ॥

सोष्णीषो बद्धपर्यङ्कः प्रौढपादश्च यानगः ।

दुर्देश¹ प्रपदस्थश्च नाचामञ्जुद्धिमाप्नुयात् ॥

कृतस्य आचमनस्येति शेषः । प्रौढपाद आसनाद्यारूढपादः,

आसनारूढपादो वा जान्वोर्वा जङ्घयोस्तथा ।

कृतावसक्थिको यश्च प्रौढपादस्स उच्यते ॥

इति गोबिलस्मरणात् । प्रपदं पादाग्रम् । पुलहोऽपि—

शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ।

अकृत्वा पादयोश्शौचपाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥

इति । ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

कण्ठं शिरो वा प्रावृत्य रथ्यापणगतोऽपि वा ।

अकृत्वा पादयोश्चैवाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥

इति । आपणः क्रयविक्रयभूमिः । कौशिकोऽपि—

अपवित्रकरः कश्चिद्ब्राह्मणो य उपस्पृशेत् ।

अपूतं तस्य तत्सर्वं भवत्याचमनं तथा ॥

गौतमोऽपि—

‘नाञ्जलिना पिबेन्न तिष्ठन्नद्धतोदकेनाचामेत्’

इति । उद्धृतोदकेनैवाचामेन्न पशुबन्मुखेन पिबेदित्यर्थः । न तिष्ठ-

न्निति स्थलविषयम् । जले तु तिष्ठन्नप्याचामेदेव । तथा च

विष्णुः—

जान्वोरुद्धर्धं जले तिष्ठन्नाचान्तश्शुचितामियात् ।

अधस्ताच्छतकृत्वोऽपि समाचान्तो न शुद्ध्यति ॥

इति । जान्वोरधस्तादित्यनेन जानुमात्रेऽप्यविरुद्धमित्याह । तथा

च स्मृतिः—

जानुमात्रे जले तिष्ठन्नासीनः प्राङ्मुखस्तथेल ।

सर्वतश्शुचिराचान्तस्तयोस्तु युगपत्स्थितः ॥

इति । तयोर्जलस्थलयोरित्यर्थः । तथा च हारीतः—

जलस्थो वा स्थलस्थो वा द्वयोर्वा समवास्थितः ।

जलस्थो जलकृषेण स्थलस्थस्स्थलकर्मसु ॥

उभयोरुभयस्थस्तु कर्मस्वधिकृतो भवेत् ।

इति । अस्यार्थः—यदि जलस्थ आचामति तदा जलकृत्य एवाधिकृतो भवति । यदा तु स्थलस्थस्तदाऽपि स्थलकृत्य एव । यदि पुनरुभयत्र तदोभयोरपि क्रियमाणेषु कर्मस्वधिकृतो भवतीति । तथा च पैठीनासिः—

‘ अन्तरुदकमाचान्तोऽन्तरेव शुद्ध्यति । बहिरुदकमाचान्तो बहिरेव शुद्ध्यति । तस्माद्बहिरेकमन्तरेकं च कृत्वा पादमाचमने सर्वत्र शुद्धो भवति ’

इति । अत्र दक्षः—

स्नात्वाऽचामेद्यदा विप्रः पादौ कृत्वा जले स्थले ।
उभयोरप्यसौ शुद्धस्ततः कर्मक्षमो भवेत् ॥

इति । अन्यत्र तु हारीतेनोक्तं द्रष्टव्यं—

आर्द्रवासा जले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ।
शुष्कवासास्थले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ॥
आर्द्रवासास्थलस्थस्तु यद्याचामेन्नराधमः ।
वस्त्रनिश्च्योतनं तस्य प्रेतास्तत्र पिबन्ति हि ॥

इति । अत्र व्यासः—

अपः पाणिनखाग्रेषु आचामेद्यस्तु ब्राह्मणः
सुरापानेन तत्तुल्यमित्येवमृषिरब्रवीत् ॥

यमोऽपि—

अपः करनखस्पृष्टा य आचामति वै द्विजः ।
सुरां पिबति मुन्यक्तं यमस्य वचनं यथा ॥

उद्धृत्य वामहस्तेन यः पिबेद्ब्राह्मणो जलम् ।
सुरापानेन तत्तुल्यं मनुस्स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

अत्र विशेषः कूर्मपुराणे दर्शितः—

न वामहस्तेनोद्धृत्य पिबेद्वक्त्रेण वै जलम् ।

इति । अत्र स्मृत्यन्तरम्—

अलाबु ताम्रपात्रं च करकं च कमण्डलुम्^१ ।

गृहीत्वा स्वयमाचामेन तेनाप्रयतो भवेत् ॥

करकालाबुकांस्येन ताम्रपर्णं^२ पुटेन च ।

म्बहस्ताचमनं कार्यं स्नेहलिप्तानि^३ वर्जयेत् ॥

कांस्यपात्रे^४ च यत्तोयं यत्तोयं ताम्रभाजने ।

सौवर्णे राजते चैव नैवागुद्धं तु कर्हि चित् ॥

इति । इत्याचमन प्रतिषेधाः ॥

आचमनविषयः.

अथान्यदप्याचमनविषयं किञ्चिदुच्यते । तत्र गौतमः—

‘द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायाचमेत्’

इति । अस्यार्थः—यदि ब्राह्मणभोजनादौ प्रवृत्ते द्रव्यहस्तः कथं-
चिदुच्छिष्टस्पर्शनादप्रयतो भवति तदा तद्रव्यं भूमौ निधायाचा-
मेदिति । द्रव्यमत्राभ्यवहार्यम् । तथा च वसिष्ठः—

^१ अलाबुताम्रपात्रस्थं करकस्थं च यत्पयः—क. ख. ^२ ताम्रचर्म—क. ख.

^३ स्नेहलेपांश्च—क. ख.

^४ करपात्रे—क. ख.

प्रचरन्नभ्यवहार्येषूच्छिष्टं यदि संस्पृशेत् ।

भूमौ निक्षिप्य तद्रव्यमाचम्य प्रचरेत्पुनः ॥

अभ्यवहारेष्वन्नपानादिषु प्रचरन्परिवेषणं कुर्वन्नित्यर्थः । बृहस्प-
तिरपि—

प्रचरन्नन्नपानेषु यदोच्छिष्टमुपस्पृशेत् ।

भूमौ निधाय तद्रव्यमाचान्तः प्रचरेत्पुनः ॥

इति । अत्र विशेषमाहतुशङ्कल्लिखितौ—

‘द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायचम्याभ्युक्षेत्तद्रव्यम्’

इति । एवं द्रव्यहस्तस्याचमनाच्छुद्धिः द्रव्यस्य तु निधानाभ्यु-
क्षणाभ्यामित्यनुसंधेयम् । यदा तु द्रव्यस्यैव साक्षादुच्छिष्टस्पर्शनं
तदा तत्परित्याज्येयम् । यदाह वसिष्ठः—

‘उच्छिष्टमगुरारभोज्यं स्वयमुच्छिष्टमुच्छिष्टोपहतं च’

इति । यत्पुनर्मनुनोक्तं—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथं चन ।

अनिधायैव तद्रव्यमाचान्तश्शुचितामियात् ॥

इति, तदनभ्यवहार्यवस्त्रादिविषयं, इतरत्र निधानविधानात्
मार्कण्डेयोऽत्र विकल्पमाह—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तो निधाय वा ।

आचम्य द्रव्यमभ्युक्ष्य पुनरादातुमर्हति ॥

इति । कूर्मपुराणेऽपि—

तैजसं वा समादाय यदुच्छिष्टो भवेद्विजः ।

भूमौ निक्षिप्य तद्रव्यमाचम्याभ्युक्षयेत्तु तत् ॥

यद्यमत्रं समादाय भवेदुच्छेषणान्वितः ।

अनिधायैव तद्रव्यमाचान्तश्शुचितामियात् ॥

वस्त्रादिषु विकल्पस्स्यात्तत्स्पृष्टावेवमेव हि ।

तत्स्पृष्टो उच्छिष्टस्पृष्टौ । निधानमनिधानं वा कार्यमित्यर्थः ।

अनभ्यवहार्यं प्रकृत्य बोधायनोऽपि—

‘तैजसं चेदादायोच्छिष्टस्यात्तदुदस्याचम्यादा-
स्यन्नाग्निः प्रोक्षेदथ चेदन्नेनोच्छिष्टस्यात्तदुदस्याच-
म्यादास्यन्नाग्निः प्रोक्षेदेतदेव विपरीतममत्रे ’

इति । उदस्य निधायेत्यर्थः । विपरीतमनुदस्येति यावत् । पक्वा-
न्मादाय मूत्रादिकरणे श्लोक आपस्तम्बोक्तो द्रष्टव्यः—

भूमौ निक्षिप्य तद्रव्यं^१ शौचं कृत्वा यथाविधि ।
उत्सङ्गोपात्तपक्वान्न उपस्पृश्य ततश्शुचिः ॥

इति । एतदापद्यशक्यनिधानद्रव्यविषयं,

अरण्येऽनुदके रात्रौ चोरव्याघ्राकुले पथि ।

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा द्रव्यहस्तो न दुष्यति ॥

इति बृहस्पतिस्मरणात् । मार्कण्डेयस्तु शौचमप्यनिधायैव कार्य-
मित्याह—

पक्वान्नेन गृहीतेन मूत्रोच्चारं करोति यः ।

अनिधायैव तद्रव्यमङ्गे कृत्वा समाश्रितम् ॥

शौचं कृत्वा यथान्यायमुपस्पृश्य यथाविधि ।

अन्नमभ्युक्षयेच्चैवमुद्धृत्वा र्कस्य दर्शयेत् ॥

त्यक्त्वाऽग्रमात्रं वा तस्माच्छेषं शुद्धिमवाप्नुयात् ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामाचमनप्रकरणम्

दन्तधावनविधिः

अथ दन्तधावनविधिः । तत्र शातातपः—

मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥

कासायनोऽपि—

उत्थाय नेत्रे प्रक्षाल्य शुचिर्भूत्वा समाहितः ।

परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥

मन्त्रोऽपि—

आयुर्वलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च ।

ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते ॥

अत्र कालनियममाह मार्कण्डेयः—

प्रातरुत्थाय¹ यतवाग्भक्षयेद्दन्तधावनम् ।

प्रक्षाल्य भक्षयेत्पूर्वं प्रक्षाल्यैव च संसजेत् ।

शुचौ देशे इति शेषः । तथा च व्यासः—

प्रक्षाल्य तु शुचौ देशे दन्तधावनमुत्सृजेत् ।

पतितेऽभिमुखे सम्यग्भोज्यमाप्नोत्यभीप्सितम् ॥

¹ प्रातर्भुक्त्वा च—क. ख.

इति । अत्र विष्णुः—

प्रक्षाल्य भुक्त्वा तज्जहान्नाद्यादिन्दुक्षये च तत् ।
इन्दुक्षयेऽमावास्यायाम् । एतन्निषिद्धतिथ्याद्युपलक्षणम् । अत
एव यमः—

चतुर्दश्यष्टमी दर्शः पूर्णिमा सङ्क्रमो रवेः ।
एषु स्त्रीतैलमांसानि दन्तकाष्ठं च वर्जयेत् ॥
श्राद्धे जन्मादिने चैव विवाहेऽजीर्णदूषितः ।
प्रेते चैवोपवासे च वर्जयेदन्तधावनम् ॥

इति । विष्णुरपि—

प्रतिपददर्शषष्ठीषु चतुर्दश्यष्टमीषु च ।
नवम्यां भानुवारे च दन्तकाष्ठं विवर्जयेत् ॥

पैठीनसिरपि—

प्रतिपददर्शषष्ठीषु नवम्यां चैव भारत ।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहसा सप्तमं कुलम् ॥

व्यासोऽपि—

श्राद्धे यज्ञे च नियमे पत्यौ च प्रोषिते तथा ।
वारे पाते च सङ्क्रान्त्यां नन्दाभूताष्टपर्वसु ॥
तैलाभ्यङ्गं रतिं मांसं दन्तकाष्ठं च वर्जयेत् ।

इति । वारे भानुवारे । तत्र दिङ्मियममाह मार्कण्डेयः—

उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा कषायं तिक्तकं कटुम्¹ ।

¹ त्यक्तकण्टकम्— ग, तिक्तकण्टकम्.—मदन.

दन्तधावनं भक्षयेदिति शेषः । उदङ्मुखः प्राङ्मुख इत्यर्थः, अत्र दोषश्रवणात् । तदाह कात्यायनः—

पूर्वामुखो धृतिं विन्द्याच्छरीरारोग्यमेव च ।
दक्षिणेन तथा क्रौर्यं पश्चिमेन पराजयम् ॥
उत्तरेण गवां नाशः स्त्रीणां परिजनस्य च ।
पूर्वोत्तरे तु दिग्भागे सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥

अत्र काष्ठलक्षणमाह विष्णुः—

कण्टाक्षीरवृक्षोत्थं द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ।
कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलं पूर्वार्धकृत¹ कूर्चकम् ॥
दन्तधावनमुद्दिष्टं जिह्वालेखनिका तथा ।
सुसूक्ष्मं सूक्ष्मदन्तस्य समदन्तस्य मध्यमम् ।
स्थूलं विषमदन्तस्य त्रिविधं दन्तधावनम् ॥
द्वादशाङ्गुलकं विप्रे काष्ठमाहुर्मनीषिणः ।
क्षत्रविद्धू द्रजातीनां नवषट्चतुरङ्गुलम् ।

कूर्मपुराणेऽपि—

मध्याङ्गुलसमस्थौल्यं द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ।
सकूर्चं दन्तकाष्ठं स्यात्तदग्रेण तु धावयेत् ॥

गर्गोऽपि—

दशाङ्गुलं तु विप्राणां क्षत्रियाणां नवाङ्गुलम् ।
अष्टाङ्गुलं तु वैश्यानां शूद्राणां सप्तसम्मितम् ।
चतुरङ्गुलमानं तु नारीणां नात्र संशयः ॥

¹ पर्वार्धकृत. — स्मृतिरत्नाकरे.

व्यासोऽपि—

वर्जयेदन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि नित्यशः ।

भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि पर्वस्वपि च वर्जयेत् ॥

कानि पुनश्चास्त्रदृष्टानीत्येवोक्तं आहाङ्गिराः—

आम्रपुन्नागविल्वानामपामार्गशिरीषयोः ।

भक्षयेत्प्रातरुत्थाय वाग्यतो दन्तधावनम् ॥

नारदोऽपि—

सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः^१ ।

वृद्धमनुरपि—

खदिरस्य करञ्जस्य कदम्बस्य तथैव च ।

अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः ॥

विष्णुरपि—

‘वटाश्वत्थार्कखदिरकरञ्जकरवीरजात्यपामार्गमा-

लतीककुभविल्वानामन्यतमम्’

इति । मार्कण्डेयोऽपि—

वटाश्वत्थार्क^२ खदिरकरवीरांश्च भक्षयेत् ।

जात्यं च विल्वं खदिरं^३ मूलं तु ककुभस्य च ॥

अरिमेदं प्रियङ्गुं च कण्टकिन्यस्तथैव च ।

इति । एतेषु फलमाह गर्गः—

सर्जे धैर्यं बटे दीप्तिः करञ्जे विजयो रणे ।

प्लक्षे चैवार्थसम्पत्तिर्बदर्या मधुरस्वरः ॥

^१ यशस्कराः—वैद्य.

^२ वज्रासनार्क - वैद्य.

^३ बदरं—वैद्य.

खदिरे चैव सौगन्ध्यं^१ बिल्वे तु विपुलं धनम् ।
 औदुम्बरे वाक्यसिद्धिर्बन्धूके च दृढा श्रुतिः ।
 सैध्रे^२ च कीर्तिसौभाग्यं पालाशे सिद्धिरुत्तमा ।
 कदम्बे सकला लक्ष्मीराम्रे चारोग्यमेव च ।
 अपामार्गे धृतिर्मेधा प्रज्ञा^३ शक्तिर्वपुश्श्रुतिः !
 आयुश्शीलं यशो लक्ष्मीस्सौभाग्यं चोपजायते ॥
 अर्केण दन्तरोगांस्तु बीजपूरेण तु व्यथा^४ म् ।
 ककुभेन तथाऽऽयुष्मान् भवेत्पलितवर्जितः ॥
 दाडिमे सिन्धुवारे च करञ्जे कुटजे^५ तथा ।
 जात्यां च करमर्दे च दुस्स्वप्नं चैव नाशयेत् ।

इति । 'वर्जनीयानि वर्जयेत्' इत्युक्तम् । तान्याह मार्कण्डेयः—

शाल्मल्यश्चत्थहव्यानां^६ धवकिंशुकयोरपि ।
 कोविदारशमीपीलुश्लेष्मातकविभीतकान् ॥
 वर्जयेद्दन्तकाष्ठेषु गुग्गुलुं क्रमुकं तथा ।

हारीतोऽपि—

'कालेयपालाशकोविदारश्लेष्मातकबिल्वकण्टकि-
 वृक्षानिर्गुण्डीशिखण्डिशिरीषमालतीकरवीरबदरीक-
 रञ्जवेणुवर्जम्'

इति । मार्कण्डेयोऽपि—

^१ सौभाग्यं—क. ^२ वज्रे—वैद्य. ^३ प्रजा—ग. ^४ अर्केण हान्ति रोगं तु
 विजयस्तु रणे तथा—क. ख. ^५ क्षुल्लके कटके—वैद्य. ^६ भव्यानां—वैद्य.

त्याज्यं सपत्रमज्ञातमूर्ध्वशुष्कं च पाटितम् ।
त्वग्धीनं ग्रन्थिसंयुक्तं तथा पालाशार्शिशुपे ॥

उशनाऽपि—

तिन्दुकेङ्गुदबन्धूकमोचामरजबल्वजम् ।
कार्पासं दन्तकाष्ठं च विष्णोरपि हरेच्छ्रियम् ॥

गर्गोऽपि—

कुशं काशं पालाशं च शिथुपां यस्तु भक्षयेत् ।
तावद्भवति चण्डालो यावद्वा नैव ¹ पश्यति ॥

इति । एतेषु केषुचिद्विधिप्रतिषेधाभ्यां विकल्पो वेदितव्यः । अ-
त्रोशना—

‘ न दन्तकाष्ठान्पाटयेन्नाङ्गुलीभिर्दन्तान्प्रक्षालयेत् ’

इति । एतदनामिकाङ्गुष्ठव्यतिरिक्तविषयम् । यदाह वृद्धयाज्ञ-
वल्क्यः—

इष्टकालोष्ठपाषाणैरितराङ्गुलिभिस्तथा ।
मुक्त्वा चानामिकाङ्गुष्ठौ वर्जयेदन्तधावनम् ॥

इति । अत्र विशेषः कूर्मपुराणे दर्शितः—

नोत्पाटयेदन्तकाष्ठं नाङ्गुल्यग्रेण धावयेत् ।

इति । एवं च यदुक्तं पैठीनसिना—

‘ तृणपर्णोदकेनाङ्गुल्या वा दन्तान्धावयेत्प्रदेशिनी-
वर्जम् ’

इति, अत्र प्रदेशिनीग्रहणं निषिद्धाङ्गुल्युपलक्षणार्थमित्याविरोधः ।

अत्र व्यवस्थामाह व्यासः—

प्रतिपददर्शषष्ठीषु नवम्यां दन्तधावनम् ।

पणैरन्यत्र काष्ठैस्तु जिह्वोल्लेखस्सदैव तु ॥

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथौ तथा ¹ ।

अपां द्वादशगण्डूपैर्विदध्यादन्तधावनम् ² ॥

इति । यत्तु तेनैवोक्तं—

यो मोहात्स्नानवेलायां भक्षयेदन्तधावनम् ।

निराशास्तत्र गच्छन्ति देवताः पितृभिस्सह ॥

इति, तन्मध्याह्नस्नानविषयं,

प्रातस्स्नानं प्रकुर्वीत दन्तधावनपूर्वकम् ।

इति दक्षस्मरणात् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां दन्तधावनविधिः.

कुशमहिमा.

अथ कुशमहिमा । तत्र गोविलः—

कुशमूले स्थितो ब्रह्मा कुशमध्ये तु केशवः ।

कुशाग्रे शङ्करं विद्यात्सर्वे देवास्समन्ततः ॥

हारीतोऽपि—

कुशहस्तेन यज्जप्तं दानं चैव कुशैस्सह ।

कुशहस्तस्तु यो भुङ्क्ते तस्य सङ्ख्या न विद्यते ॥

पुराणेऽपि—

¹ प्र तीषिद्धदिनेष्वपि ;

² मुखशुद्धिर्भविष्यति. — स्मृतिर.

कुशपूतं भवेत्स्नानं कुशेनोपस्पृशेज्जलम् ¹ ।
 कुशेन चोद्धृतं तोयं सोमपानेन सम्मितम् ॥
 कुशमालां तु यः कण्ठे समावहति सर्वदोषं ।
 लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
 करे कण्ठे शिखायां च कर्णयोरुभयोरपि ।
 पवित्रधारको यश्च न स पापेन लिप्यते ॥

कौशिकोऽपि—

कुशासनं सदा पूतं यतीनां तु विशेषतः ।
 कुशासनोपविष्टस्य सिध्यते योग उत्तमः ॥

पुराणेऽपि—

अपां पुष्करपर्णेषु यथा लेपो न विद्यते ।
 एवं पवित्रहस्तस्य न लेपो विद्यते ² क्वचित् ॥

हारीतोऽपि—

जपहोमहरः ह्येते असुरा व्यक्तरूपिणः ।
 पवित्रकृतहस्तस्य विद्रवन्ति दिशो दश ॥

गोबिलोऽपि—

वज्रं यथा सुरेन्द्रस्य शूलं हस्ते हरस्य च ।
 चक्रायुधं यथा विष्णोरेवं विप्रकरे कुशः ॥

इति । इति कुशमाहिमा.

¹ शक्ततः—ख.

² लिप्यते क.

कुशोत्पादनविधिः.

अथ कुशोत्पादनविधिः । तत्र कौशिकः—

शुचौ देशे शुचिर्भूत्वा स्थित्वा पूर्वोत्तरामुखः ।

ओङ्कारेणैव मन्त्रेण कुशास्पृश्या द्विजोत्तमैः ॥

उत्पादनमन्त्रोऽपि—

विरिञ्चिना सहोत्पन्न परमोद्विनिसर्गज ।

नुद सर्वाणि पापानि दर्भ स्वस्तिकरो मम ॥

अत्र कालनियममाह हारीतः—

मासे नभस्यमावास्या तस्यां दर्भोच्चयो मतः ।

अयातयामास्ते दर्भा नियोज्यास्त्युः पुनः पुनः ॥

इति । नभाश्चावणः । अत एव यातयामाः कालान्तरे लूना
इत्यर्थः । अनेनैवाभिप्रायेण शङ्खोऽपि—

दर्भाः कृष्णाजिनं मन्त्रा ब्राह्मणाश्च विशेषतः ।

अयातयामास्ते सर्वे नियोज्यास्त्युः पुनःपुनः ॥

इति । पुनःपुनर्विनियोगयोग्या इत्यर्थः । अत एव मार्कण्डेयः—

सपवित्रेण हस्तेन कुर्यादाचमनक्रियाम् ।

नोच्छिष्टं तत्पवित्रं तु भुक्तोच्छिष्टं तु वर्जयेत् ॥

इति । एतद्ग्रन्थिर्विहीनदर्भाभिप्रायं,

ग्रन्थिर्यस्य पवित्रस्य न तेनाचमनं चरेत् ॥

इति हारीतस्मरणात् । अत्र शातातपः—

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये पितृतर्पणे ।

अशून्यं तु करं कुर्यात्सुवर्णरजतैः कुशैः ॥

मार्कण्डेयोऽपि—

कुशपाणिस्सदा तिष्ठेद्ब्राह्मणो दम्भवर्जितः ।

स नित्यं हन्ति पापानि तूलराशिमिवानलः ॥

पुराणेऽपि—

कौशेयं विभृत्यान्नित्यं पवित्रं दक्षिणे करे ।

भुञ्जानस्तु विशेषेण गहिंतान्नविशोधनम् ॥

अत्रिरपि—

उभाभ्यामपि पाणिभ्यां विप्रैर्दर्भपवित्रके ।

धारणीये प्रयत्नेन ब्रह्मग्रन्थिसमन्विते ॥

ब्रह्मयेङ्गे जपे चैव ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते ।

भोजने वर्तुलः प्रोक्तः एवं धर्मो न हीयते ॥

इति । अत्राङ्गुलिनियमो मत्स्यपुराणे दर्शितः—

धार्योऽनामिकया दर्भो ज्येष्ठानामिकयाऽपि वा ।

उभयानामिकाभ्यां तु धार्ये दर्भपवित्रके ॥

अनामिका उपकनिष्ठिका । पवित्रलक्षणमपि तत्रैवोक्तं—

संत्यज्य वैष्णवं मार्गं ब्रह्ममार्गविनिस्तुतम् ।

सकृत्प्रदाक्षिणीकृत्य पवित्रमभिधीयते ॥

सप्तभिर्दर्भपुञ्जीलैः कुर्याद्ब्राह्मं पवित्रकम् ।

पञ्चभिः क्षत्रियस्यैव चतुर्भिश्च तथा विशः ॥

द्राभ्यां शूद्रस्य विहितमन्तराणां तथैव च ।

मार्कण्डेयोऽपि—

चतुर्भिर्दर्भपुञ्जीलैः ब्राह्मणस्य पवित्रकम् ।

एकैकं न्यूनमुद्दिष्टं वर्णे वर्णे यथाक्रमम् ॥

त्रिभिर्दैर्भैश्शान्तिकर्म पञ्चभिः पौष्टिकं तथा ।

चतुर्भिराभिचाराख्यं कुर्वन्कुर्यात्पवित्रकम् ॥

इति । स्थालीपाकादौ तु कात्यायनोक्तं द्रष्टव्यं—

अनन्तर्गर्हितं साग्रं कौशं द्विदलमेव च ।

प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥

इति । गोवालपवित्रं प्रकृत्य कौशिकः—

गवां बालपवित्रेण धार्यमाणेन नित्यशः ।

न स्पृशन्ति हि पापानि श्रीश्च गात्रेषु तिष्ठति ॥

गवां बालपवित्रेण बहुचपास्तिं करोति यः ।

पञ्चाग्रयो हुतास्तेन यावज्जीवं न संशयः ॥

गवां बालपवित्रेण सन्ध्योपास्तिं करोति यः ।

स वै द्वादश वर्षाणि कृतसन्ध्यो भवेन्नरः ॥

इति । तथा दर्भलक्षणमपि तेनैवोक्तं—

सप्तपत्राश्शुभा दर्भाः^१ तीरक्षेत्रसमुद्भवाः ।

ते प्रशस्ता द्विजातीनां दैवे पित्र्ये च कर्मणि ॥

अप्रसूता^२ स्सूता दर्भाः प्रसूता^२ स्तु कुशास्सूताः ।

समूलाः कुतपास्साग्राश्छिन्नाग्रास्तृणसंज्ञिताः ॥

^१ सप्त दर्भाश्शुभा धार्याः—वैद्य.

^२ प्रसूना—वैद्य.

हारीतोऽपि—

अच्छिन्नाग्रान्सपत्रांश्च समूलान्कोमलान् शुभान् ।

पितृदेवजपार्थं च समादध्यात्कुशान्द्विजः ॥

एतत्प्रस्तरादिव्यतिरिक्तविषयम् । तथा च ब्रह्माण्डपुराणं—

छिन्नमूला गृहितव्याः प्रस्तरार्थं कुशोत्तमाः ।

अग्निकार्ये च यागे च समूलान्परिवर्जयेत् ॥

अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

हरिता यज्ञिया दर्भास्सिताग्राः^१ पाकयज्ञियाः ।

समूलाः पितृदैवत्याः कल्माषा वैश्वदैविकाः ॥

इति । पितृदैवत्याः पित्र्या इत्यर्थः । तथा च यमः—

समूलस्तु भवेद्दर्भः पितृणां श्राद्धकर्मणि ।

मूलेन लोकान्जयति शक्रस्य च महात्मनः ॥

इति । एतदेकोद्दिष्टश्राद्धविषयं, यतस्स एवाह—

एकोद्दिष्टे कुशाः कार्याः समूलाश्श्राद्ध^२ कर्मणि ।

बहिर्लूनास्सकृलूनास्सर्वत्र पितृकर्मसु ॥

इति । बहिर्लूनाः उपमूललूनाः । एवं च यदुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे—

उपमूले तथा लूनाश्श्राद्धार्थे तु कुशास्मृताः ।

तथा श्यामाकनीवारा^३ दूर्वा च समुदाहृता ॥

इति ; यदपि गोविलेन—

‘उपमूले लूनाः पितृकार्येषु’

^१ पीतकाः—वैश्व.

^२ यज्ञ—क. ख.

^३ तदलाभे च नीवारः—वैश्व.

इति । तदेकोद्विष्टभ्राद्धेतरविषयमित्यवगन्तव्यम् । अत्र पुराणं—

सपिण्डीकरणं यावद्देकदर्भैः पितृक्रिया ।

सपिण्डीकरणादूर्ध्वं द्विगुणैर्विधिबद्धवेत् ॥

तिल¹ क्षेत्रोद्भवैर्दर्भैः प्रयत्नाद्विगुणीकृतैः ।

पितॄणां तर्पणं कुर्याद्देवानां तु यदृच्छया ॥

पित्रयं मूलेन मध्येन स्नानं दानं² प्रयत्नतः ।

दैवं कर्म कुशाग्रेण कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥

इति । यदृच्छयाऽपि अनियमेनेत्यर्थः । उक्तकुशालाभे शङ्कः—

कुशालाभे द्विजश्रेष्ठः काशैः कुर्वीत यत्नतः ।

तर्पणादीनि कर्माणि काशाः कुशसमास्मृताः ॥

इति । विष्णुरपि—

‘कुशालाभे कुशस्थाने काशान्दूर्वा वा दध्यात्’

इति । बर्हिषि तु यमोक्तो विशेषः—

कुशाः काशास्तथा दूर्वा यवा व्रीहय एव च ।

बल्वजान्पुण्डरीकाणि सप्तधा बर्हिरुच्यते ॥

अत्र वृष्यानाह हासीतः—

पथि दर्भाश्चितौ दर्भा ये दर्भा यज्ञभूमिषु ।

स्तरणासन्नपिण्डेषु³ षड्कुशान्परिवर्जयेत् ॥

ब्रह्मयज्ञे च यें दर्भा ये दर्भाः पितृतर्पणे ।

इता मूत्रपुरीषाभ्यां तेषां त्यागो विधीयते ॥

¹ तीर ? ² मध्येन मानुषं तु— स्मृतिर. ³ वरणासनपीठार्थाः—स्मृतिर.

अपूता गर्हिता दर्भा ये च छिन्ना नखैस्तथा ।
 कथितानग्निदग्धांश्च कुशान्यन्नेन वर्जयेत् ॥
 नीवीमध्ये तु ये दर्भा ब्रह्मसूत्रे च ये कृताः ।
 पवित्रांस्तान्विजानीयाद्यथा काशस्तथा कुशः ॥
 इति । कथिताः द्विसिताः । इति कुशोत्पाटनविधिः.

ज्ञानप्रशंसा

अथ ज्ञानप्रशंसा । अत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

अगम्यागमनात् स्तेयात्पापेभ्यश्च प्रतिग्रहात् ।
 रहस्याचरितात्पापान्मुच्यते ज्ञानमाचरन् ॥
 मनःप्रसादजननं रूपसौभाग्यवर्धनम् ।
 शोकदुस्स्वप्नं हं ज्ञानं मोक्षदं ज्ञानदं¹ तथा ॥
 ज्ञानमूलाः क्रियास्सर्वाश्श्रुतिस्मृत्युदिता नृणाम् ।
 तस्मात्ज्ञानं निषेवेत श्रीपुष्ट्यारोग्य² वर्धनम् ॥
 याम्यं हि यातनादुःखं नित्यज्ञाया न पश्यति ।
 नित्यज्ञानेन पूयन्ते येऽपि पापकृतो जनाः ॥
 गुणा दश ज्ञानपरस्य साधोः
 रूपं च तेजश्च बलं च शौचम् ।
 आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं
 दुस्स्वप्नघातश्च तपश्च मेधा ॥

सत्यव्रतोऽपि—

¹ ह्लादनं—ग.

² श्रीपुण्यायुष्य - ग.

बलं रूपं यशो धर्मं ज्ञानमायुस्सुखं धृतिम् ।

आरोग्यं परमाप्नोति सम्यक्स्नानेन मानवः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां स्नानप्रशंसा.

स्नानभेदाः.

अथ स्नानभेदाः । तत्र शङ्खः—

स्नानं तु द्विविधं प्रोक्तं गौणमुख्यप्रभेदतः ।

तयोस्तु वारुणं मुख्यं तत्पुनष्पद्विधं भवेत् ॥

निसं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।

क्रियास्नानं तथा षष्ठं पोढा स्नानं प्रकीर्तितम् ॥

इति । एतेषां लक्षणमाह स एव—

अस्नातस्तु पुमान्नाहो जप्याग्निहवनादिषु ।

प्रातस्स्नानं तदर्थं तु नित्यस्नानं प्रकीर्तितम् ॥

चण्डालशवधूमादि¹ स्पृष्ट्वाऽस्नातां रजस्वलाम् ।

स्नानार्हस्तु यदा स्नायात्स्नानं नैमित्तिकं हि तत् ॥

पुष्यस्नानादिकं यत्तु दैवज्ञविधिचोदितम् ।

तद्धि काम्यं सगुहिष्ठं नाकामस्तत्प्रयोजयेत् ॥

दैवज्ञो ज्योतिर्वित् ।

पुष्टिकाप्रः पवित्राणि ह्यर्चिष्यन्देवताः पितृन् ।

स्नानं समाचरेद्यस्तु क्रियाङ्गं तत्प्रकीर्तितम् ॥

मलापकर्षणं नाम स्नानमभ्यङ्गपूर्वकम् ।

मलापकर्षणार्थं तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा ॥

¹ शवयूपादीन्—क ; शवधूपादि—वैद्य.

सरस्सु देवखातेषु तीर्थेषु च नदीषु च ।

क्रियास्नानं समुद्दिष्टं स्नानं तत्र मता क्रिया ॥

स्नानमेव तत्र क्रियाङ्गतया विहितमित्यर्थः । गोविलोऽपि—

नित्यं सततनिर्वृत्तं काम्यं कामाय यद्धितम् ।

निमित्तादुपजातं तु स्नानं नैमित्तिकं स्मृतम् ॥

इति । अनेन माध्यन्दिनस्नानस्यापि निश्चयमुक्तं भवति, तस्यापि सततनिर्वर्त्यत्वात् । तथा च वैयाघ्रपादः—

प्रातस्स्नायी भवेन्नित्यं मध्यस्नायी भवेदिति ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां स्नानप्रभेदाः.

नित्यस्नानम्.

अथावसरप्राप्तं नित्यस्नानमुच्यते । तत्र शौनकः—

प्रातराचमनं कृत्वा शौचं कृत्वा यथार्थवित्¹ ।

दन्तशौचं ततः कृत्वा प्रातस्स्नानं समाचरेत् ॥

इति । अत्राचमनं कृत्वेति दन्तशौचेऽपि सम्बध्यते । तथा च कूर्मपुराणम्—

प्रक्षाल्य दन्तकाष्ठं वै भक्षयित्वा विधानतः ।

आचम्य प्रयतो नित्यं प्रातस्स्नानं समाचरेत् ॥

इति । अत्र दक्षः—

अस्नात्वा नाचरेत्कर्म जपहोमादि किञ्चन ।

लालास्वेदसमाकीर्णश्शयनादुत्थितः पुमान् ॥

अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः ।
 स्रवसेव दिवा रात्रौ प्रातस्स्नानं विशोधनम् ॥
 प्रातस्स्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं¹ हितम् ।
 सर्वमर्हति शुद्धात्मा प्रातस्स्नायो जपादिकम् ॥

कात्यायनोऽपि—

यथाऽहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादतन्द्रितः ।
 दन्तान्प्रक्षाल्य नद्यादौ गृहे वै तदमन्त्रवत् ॥
 इति । अमन्त्रवदिति सर्वथा मन्त्रनिषेधपरं न भवन्ति । किं तु
 मन्त्रबहुत्वनिषेधार्थम् । यतस्स एवाह—

अल्पत्वादोमकालस्य बहुत्वात्स्नानकर्मणः ।
 प्रातस्संक्षेपतः स्नानं होमलोपो विगर्हितः ॥

इति । तथा स्नानं चतुर्विंशतावुक्तम्—

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्वारुणैश्च मृदा सह ।
 कुर्याद्ब्रह्माहूतिभिर्वाऽथ यत्किंचेदमृचाऽपि वा ॥
 द्रुपदादिति वा स्नायाज्जुम्बुकायेति वा पुनः ।
 पुण्यानि च स्मरेत्तीर्थान्युशाना मुनिरब्रवीत् ॥

अत्र कालनियममाह जाबालिः—

सततं प्रातरुत्थाय दन्तधावनपूर्वकम् ।
 आचरेदुषसि स्नानं तर्पयेद्देवमानुषान् ॥

इति । विष्णुरपि—

¹ दृष्टादृष्टफलं—पराशरमाधवीयम्.

‘प्रातस्स्नाययरुणकरग्रस्तां प्राचीमवलोक्य स्नायात्’

इति । यत्तु चतुर्विंशतावुक्तम्—

उषस्युषसि यत्स्नानं सन्ध्यायामुदितेऽपि वा ।

प्राजापत्येन तत्तुल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥

इति, तदपि वैष्णवेन समानार्थम् । यत्सन्ध्यायां स्नानं तदप्युषसि¹; यदि बोदिते² उद्गते-उदयाभिमुख इति, तस्याप्युषः-कालपरत्वात् । युक्तं चैतत् । अन्यथा—

‘प्रातस्सन्ध्यां सनक्षत्रां’

इत्यादिविरोधस्त्वात्, अस्नातस्य सन्ध्याद्यनधिकारात् । यदाह विष्णुः—

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्मणि ।

पवित्राणां तथा जप्ये दाने च विधिबोदिते ॥

दक्षोऽपि—

स्नानसूलाः क्रियास्सर्वास्सन्ध्योपासनमेव च ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्नानं कुर्यात्समाहितः ॥

इति । यद्येवं तर्ह्येतद्वचनबलादेव सन्ध्याऽप्युत्कृष्यताम् ? मैवं,

सन्धौ सन्ध्यामुपासीत नास्तगे नोदिते रवौ ।

इति योगयाज्ञवल्क्येन उदिते निषेधस्मरणात् । तथा—

रात्रचन्तयामनाडी द्वे सन्ध्यादिः³ काल उच्यते ।

दर्शनाद्रविरेखायास्तदन्तो⁴ मुनिभिस्मृतः ॥

¹ तदुप्युषसि—ग. वैद्य.

² यदकोदिते उदयाभिमुख इत्यर्थः—वैद्य.

³ सन्ध्यादेः—क.

⁴ खाया अस्तगो—वैद्य.

इति दक्षेण कालनियमाच्च । रविरेखादर्शनादुपलक्षितः कालः
सन्ध्यान्त इत्यर्थः । अतः पूर्वोक्तैव व्याख्या ज्यायसी । अत्र
ब्रह्माण्डपुराणम्—

निसं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।

तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन प्रकीर्तितम् ॥

अतस्स्नानानन्तरं तर्पयेदिति भावः । यत्तु चतुर्विंशतिमते—

स्नानादनन्तरं तावत्तर्पयेत्पितृदेवताः ।

इति । अत्र विशेषमाह यमः—

द्वौ हस्तौ युग्मतः कृत्वा पूरयेदुदकाञ्जलिम् ।

गोशृङ्गमात्रमुद्धृत्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ॥

इति । यत्तु व्याघ्रेणोक्तं—

उभाभ्यामथ हस्ताभ्यामुदकं यः प्रयच्छति ।

स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाकिञ्चराः ॥

इति, तच्छ्राद्धविषयम् । तथा च कार्ष्णाजिनिः—

श्राद्धे विवाहकाले च पाणिनैकेन दीयते ।

तर्पणे तूभयेनैव विधिरेष सनातनः ॥

इति । पितृतर्पणं प्रकृत्य स एवाह—

नाभिमात्रे जले स्थित्वा चिन्तयन्नूर्ध्वमानसः ।

आगच्छन्तु मे पितरो गृह्णन्त्वेतान्पयोऽञ्जलीन् ॥

पितृणामम्बरस्थानामभ्यस्थो दक्षिणामुखः ।

त्रींस्त्रीञ्जलाञ्जलीन्दद्यादुच्चैरुच्चतरान्बुधः ॥

इति । अत्र विशेषस्मृत्यन्तरे दर्शितः—

बाहुपूर्णं तिलैः कृत्वा जलस्थस्तर्पयोत्पितृन् ।

स्थलस्थेन न कर्तव्यं पितृणां तृप्तिमिच्छता ॥

इति । एवं च यदुक्तं गोविलेन—

रोमसंस्थांस्तिलान्कृत्वा यस्तु तर्पयते पितृन् ।

पितरस्तर्पितास्तेन रुधिरेण मलेन च ॥

इति, तत्स्थलतर्पणाविषयमित्यवगन्तव्यम् । ननु चात्र कथं पितृतर्पणं,

‘ तर्पयेद्देवमानुषान् ’

इति जावालिस्मरणात् ;

‘ अपराह्णं पितृणाम् ’

इति श्रुतेश्च । मैवं, तथात्वे—

‘ पूर्वाह्णे देवानाम् ’

इति श्रुतेर्मध्यन्दिनस्नाने देवतर्पणं न स्यात् । न चैवमस्ति वाच्यं,

स्नाने चैव तु सर्वत्र तर्पयेत्पितृदेवताः ।

काम्ये नित्ये विशेषेण तत्प्रकुर्यात्प्रयत्नतः ॥

इति व्याघ्रस्मरणात् । अत्र श्रुतिद्वयं तर्पणव्यतिरिक्तविषयमित्यवगन्तव्यम् । किं चाकरणेऽपि दोषो वसिष्ठेन दर्शितः—

नास्तिक्यभावाद्यस्नात्वा न तर्पयति वै पितृन् ।

पिबन्ति देहनिस्त्रावं पितरोऽस्य जलार्थिनः ॥

इति । देहनिस्त्रावो रुधिरम् । भारद्वाजः—

वस्त्रोदकमपेक्षन्ते ये मृता दासवर्गिणः ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन जलं भूमौ निपातयेत् ॥

इति । उत्तीर्य किञ्चित्कालं तिष्ठेदित्यर्थः । ततस्स्नानवस्त्रं निष्पीडयेदिति । तथा च पुलस्त्यः—

कृत्वा तर्पणमेवं तु समुत्तीर्य जलाशयात् ।

पीडयेत्स्नानशार्टी तु तट एव विचक्षणः ॥

कार्णार्जनिरपि—

स्नानवस्त्रं ततः पीड्य पुनराचमनं चरेत् ।

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।

ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥

इति । अयं वस्त्रनिष्पीडनोदकमन्त्रः ¹ । अत्र मत्स्यपुराणं---

एवं स्नात्वा ततः पश्चादाचम्य विधिवत्पुनः ।

उत्थाय वाससी शुक्ले शुद्धे तु परिधाय वै ॥

द्विराचामेदिति शेषः । तथा च व्याघ्रः—

ततो वस्त्रद्वयं शुद्धं गृहीत्वा द्विरुपस्पृशेत् ।

इति । अत्र विशेषमाह व्यासः—

नोत्तरीयमधः कुर्यान्नोपर्याधस्यमम्बरम् ।

नान्तर्वासो विना जातु निवसेद्वसनं बुधः ॥

न चानुलिम्पेदस्नात्वा ² स्नात्वा वासो न निर्धुनेत् ।

आर्द्र एव ³ तु वासांसि स्नात्वा सेवेत मानवः ॥

¹ वस्त्रनिष्पीडनमन्त्रः—क. ² म्पेदात्मानं—ख. ³ अनार्द्राणि—ग.

इति । ततो मृदम्भसा जङ्घे शोधयेत् । तदाह जाबालः—

स्नात्वा निरस्य वस्त्रं तु जङ्घे शोधये मृदम्भसा ।

अपवित्रीकृते ते हि कौपीनास्त्राववारिणा ॥

इति । अपवित्रीकृते इति हेत्वभिधानाज्ज्ञाग्रहणमपवित्रीकृताङ्गो
पलक्षणार्थम् । अत एव योगयाज्ञवल्क्यः—

स्नात्वैवं वाससी धौते अच्छिन्ने परिधाय च ।

प्रक्षाल्योरु मृदाद्भिश्च हस्तौ प्रक्षालयेत्ततः ॥

इति । अत्र मार्कण्डेयपुराणं—

अपमृज्यान्न च स्नातो गात्राण्यम्बरपाणिभिः ।

न च निर्धूनयेत्केशान्वासश्चैव न निर्धुनेत् ॥

अत्र हेतुमाह गोबिलः—

पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात् ।

मध्यतस्सर्वगन्धर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः ॥

तस्मात्स्नातो नापमृज्यात्स्नानशाठ्या न पाणिना ।

व्यासोऽपि—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यावन्त्यङ्गरूपाणि वै ।

स्नानं सर्वतीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत् ॥

अत्र वसिष्ठः—

स्नानशाठ्यां च दातव्या मृदस्तिस्त्रो विशुद्धये ।

उत्तीर्य तां च निष्पीड्य ततश्शेषं समापयेत् ॥

एवं कुर्वतः फलमाह दक्षः—

प्रातरुत्थाय यो विप्रः प्रातस्स्नायी सदा भवेत् ।

सप्तजन्मकृतं पापं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥

शौनकोऽपि—

प्रातरुत्थाय यो विप्रः प्रातस्स्नायी सदा भवेत् ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रातस्स्नानविधिः

वासोविषयाः.

अथान्यान्यपि कानि चिद्वासोविषयाणि वचनानि लिख्यन्ते ।

तत्र भृगुः—

ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं नृपते रक्तमुल्बणम् ।

पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं मलवदिष्यते ॥

इति । उल्बणं निविडम् । रक्तं धातुरक्तं,

‘न वेष्टितशिराः कृष्णकाषायवासा वा देवपितृका-
र्याणि कुर्यात्’

इत्युशनसा काषायरञ्जितस्य निषेधस्मरणात् ।

अहतं धातुरक्तं च तत्पवित्रमिति स्थितिः ।

इति तस्यानुग्रहस्मरणात् । अनेनैवाभिप्रायेण गौतमोऽपि—

‘न रक्तमुल्बणमन्यधृतं वासो बिभृयात्’

इति । अहतस्य^१ लक्षणमाह पुलस्त्यः—

ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् ।

अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनम् ॥

^१ आहतस्य—मदन, पराशरमाधवीय.

इति । धौतं प्रक्षालितम् । अत्र विशेषमाह देवलः—

स्वयं धौतेन कर्तव्या क्रिया धर्म्या विपश्चिता ।

न तु नेजकधौतेन नाहतेन च कर्हि चित् ॥

इति । नाहतेनाधौतेन, तत्राप्यहतशब्दप्रयोगात् । यथोक्तं
सत्यतपसा—

अहतं यन्त्रनिर्मुक्तमुक्तं वासस्स्वयम्भुवा ।

शस्तं तन्माङ्गलिक्येषु तावत्कालं न सर्वदा ॥

इति । माङ्गलिक्यं विवाहादि । अत्र पुराणं—

अन्यदेव भवेद्वासश्शयनाय नराधिप ।

अन्यद्रथ्यासु देवानामर्चयामन्यदेव हि ॥

अन्यच्च लोकयात्रायामन्यदीश्वरदर्शने ।

बोधायनोऽपि—

उत्तरं वासः कर्तव्यं पञ्चस्येतेषु कर्मसु ।

स्वाध्यायोत्सर्गदानेषु भुक्ताचमनयोस्तथा ॥

इति । उत्सर्गो मूत्रादेः । भुक्तं भोजनम् । एतद्विहितसकलकर्मो-
पलक्षणार्थम् ।

विकच्छेऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एव च ।

श्रौतं स्मार्तं तथा कर्म न नग्नश्चिन्तयेदपि ॥

इति अनुत्तरीयस्य कर्ममात्रनिषेधात् । योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

स्नानं दानं जपं होमं स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ।

नैकवस्त्रो द्विजः कुर्याच्छ्राद्धभोजनसत्क्रियाः ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

होमदेवार्चनाद्यासु क्रियासु पठने तथा ।

नैकवस्त्रः प्रवर्तेत द्विजो नाचमने जपे ॥

गोबिलोऽपि—

एकवस्त्रो न भुञ्जति न कुर्याद्देवतार्चनम् ।

न चार्चयेद्विजान्नाग्नौ कुर्यादेवंविधो नरः ॥

इति । एकवस्त्रस्य लक्षणमाह स एव—

सव्यादीषत्परिभ्रष्टकटिदेशधृताम्बरः ।

एकवस्त्रं तु तं विद्यादैवे पित्रचे च वर्जयेत् ॥

इति । सव्याद्वाहुमूलात्परिभ्रष्टं कटिदेशधृतमम्बरं यस्य स तथो

क्तः । एवं द्वितीयवासोविहीनस्यापि वेदितव्यं,

‘विकच्छोऽनुत्तरीयश्च’

इति तस्यापि निषेधस्मरणात् । अत्र वासःपरिधाने च पारस्करेण मन्त्रो दर्शितः—

परिधास्ये यशो धास्ये दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।

शतं च जीवामि शरदः पुष्कची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इति । तथा चोत्तरीयेऽपि—

यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्रावृहस्पती ।

यशो भगश्च मा विदद्यशो मां प्रतिपद्यताम् ॥

इति । एतच्च मन्त्रद्वयं पूर्वमविवसितवासोविषयं,

‘वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणि चेन्मन्त्रः’

इति तेनैवोक्तत्वात् । अत्र वर्ज्यान्याह भृगुः—

न रक्तमुल्बणं वासो न नीलं च प्रशस्यते ।

दशाहीनं मलाक्तं च वर्जयेदम्बरं बुधः ॥

इति । जातूकर्णोऽपि—

काषायं कृष्णवस्त्रं वा मलिनं केशदूषितम् ।

छिन्नाग्रं चोपवस्त्रं च कुत्सितं धर्मतो विदुः ॥

इति । भृगुरपि—

नग्नो मलिनवस्त्रस्स्यान्नग्नश्चाद्रूपटस्मृतः ।

नग्नस्तु दग्धवस्त्रस्स्यान्नग्नस्स्यूतपटस्तथा ॥

विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एव च ।

श्रौतं स्मार्तं तथा कर्म न नग्नश्चिन्तयेदपि ॥

मोहात्कुर्वन्नधो गच्छेत्तद्भवेदामुरं कृतम् ।

इति । अयं च मलिनादिवासोनिषेधस्सति सामर्थ्ये वेदितव्यः ।

यदाह गौतमः—

‘सति विभवे न जीर्णमलवद्वासास्स्यात्’

इति । अत्रानुकल्पमाह वसिष्ठः—

अभावे धौतवस्त्रस्य शाणक्षौमाविकानि च ।

कुतपं योगपटं वा द्विवासोऽपि न वै भवेत् ॥

कुतपः पार्वतीयाजरोमनिर्मितः कम्बलः । स्मृत्यन्तरेऽपि—

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि ।

तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तादिष्यते ॥

इति । उत्तरीयस्य लक्षणमाह जातूकर्णः—

‘ वस्त्रोत्तरीयाभावे द्वयङ्गुलं त्रयङ्गुलं चतुरङ्गुलं वा
मूर्त्रैर्वस्त्राकृति परिमण्डलं तदुत्तरीयं कुर्यात् ’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां वासोविषयाः.

ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिः.

अथोर्ध्वपुण्ड्रविधिः । अत्र ब्रह्माण्डपुराणे ब्रह्माणं भगवानाह —

ऊर्ध्वपुण्ड्रप्रमाणानि द्रव्याण्यङ्गुलिभेदतः ।
वर्णानि मन्त्रभेदांश्च प्रवक्ष्यामि फलानि च ॥
पर्वताग्रे नदीतीरे मम क्षेत्रे विशेषतः ।
सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते ॥
मृद एतास्तु सङ्ग्राह्या वर्जयेदन्यमृत्तिकाः ।
श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्युकरं भवेत् ॥
श्रीकरं पीतमित्याहुः वैष्णवं श्वेतमुच्यते ।
अङ्गुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्ता मध्यमायुष्करं भवेत् ॥
अनामिकाऽन्नदा नित्यं मुक्तिदा च प्रदेशिनी ।
एतैरङ्गुलिभेदस्तु कारेयन्न नखैस्स्पृशेत् ॥
वर्तिदीपाकृतिं चापि त्रेणुपत्राकृतिं तथा ।
पद्मस्य मुकुलाकारं तथैव कुमुदस्य च ॥
मत्स्यकूर्माकृतिं वाऽपि शङ्खाकारमतः परम् ।
दशाङ्गुलप्रमाणं तदुत्तमोत्तममुच्यते ॥

नवाङ्गुलं मध्यमं स्यादष्टाङ्गुलमतः परम् ।
 सप्तषट्पञ्चभिः पुण्ड्रं मध्यमं त्रिविधं स्मृतम् ॥
 चतुस्त्रिद्वयङ्गुलं पुण्ड्रं कनिष्ठं त्रिविधं भवेत् ।
 ललाटे केशवं विद्यान्ना ¹ रायणमथोदरे ॥
 माधवं हृदि विन्यस्य गोविन्दं कण्ठकूपके ² ।
 उदरे दक्षिणे पार्श्वे विष्णुरित्यभिधीयते ॥
 तत्पार्श्वे बाहुमध्ये तु स्मरेत्तु मधुसूदनम् ।
 त्रिविक्रमं कण्ठदेशे वामे कुक्षौ तु वामनम् ॥
 श्रीधरं बाहुके वामे हृषीकेशं तु कण्ठके ।
 पृष्ठे तु पद्मनाभं तु ककुद्दामोदरं स्मरेत् ॥
 द्वादशैतानि नामानि वासुदेवेति मूर्धनि ।
 पूजाकाले च होमे च सायंप्रातस्समाहितः ॥
 नामान्युच्चार्य विधिना धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रकम् ।
 अशुचिर्वाऽप्यनाचारो मनसा पापमाचरन् ।
 शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नरः ॥
 ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो मर्त्यो म्रियते यत्र कुत्र चित् ।
 श्वपाकोऽपि विमानस्थो मम लोके महीयते ॥

इति । सत्यव्रतोऽपि—

ऊर्ध्वपुण्ड्रो मृदा शुद्धो ललाटे यस्य दृश्यते ।

स चण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥

¹ विद्धि ना—क.

² कूपरे—क.

व्यासोऽपि—

जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना विभार्ति यः ।

विभार्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम् ॥

इति ।

नैमित्तिकस्नानानि.

अथ नैमित्तिकस्नानानि । तत्र मनुः—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥

दिवाकीर्तिश्चण्डालः । उदक्या रजस्वला । स्नानेन सचेलेनेति शेषः,

शवस्पृष्टिमथोदक्यां सूतिकां पतितं तथा ।

स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धस्यात्सचेलेन न संशयः ॥

इत्यङ्गिरस्स्मरणात् । तत्र तच्छब्देन दिवाकीर्त्यादिशवपर्यन्तानां ग्रहणं न शवमात्रस्य ; तेषामप्यशुचित्वेन शवतुल्यत्वादेकवाक्योपादानाच्च । न चात्रानन्तर्याच्छव एव तत्स्पृष्टिन्याय इति शङ्कनीयं, यत आह गौतमः—

‘पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्युचपस्प-

र्शने सचेलोदकोपस्पर्शनाच्छुद्ध्यते’

इति । अनेन पतितादिस्पृष्टिनमारभ्य तृतीयस्यापि सचेलं स्नानमित्युक्तं भवति । न चात्रापि पतिताद्युदक्यान्तानां शवस्पृष्टिना सम्बन्ध इति तत्रैव तत्स्पृष्टिन्याय इति शङ्कनीयं, चण्डालादिष्वपि स्मृत्यन्तरे तत्स्पृष्टिन्यायाभिधानात्—

‘शत्रुचण्डालपतितसूतिकोदक्यातत्स्पृष्टिस्पर्शने
स्नानम्’

इति । सङ्ग्रहकारोऽपि—

चण्डालसूतिकोदक्यापतिताश्शत्रु एव च ।

एतेषामेव संस्पर्शे तत्स्पृष्टिन्याय इष्यते ॥

इति । एवकारः कटधूमस्पर्शे तत्स्पृष्टिन्यायानिवृत्त्यर्थः ।

तदाहस एव—

कटधूमस्पर्शं वान्तं विरिक्तं क्षुरकार्मणम्¹ ।

मैथुनाचरितारं च स्पृष्ट्वा स्नानं न विद्यते ॥

इति । यत्तु संवर्तेन—

तत्स्पृष्टिनं स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते ।

ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा ॥

इति द्वयोरेव स्नानमुक्तं, तदबुद्धिपूर्वकस्पर्शनविषयम् । तथा च

सङ्ग्रहकारः—

अबुद्धिपूर्वकस्पर्शे² द्वयोस्नानं विधीयते ।

त्रयाणां बुद्धिपूर्वे तु तत्स्पृष्टिन्यायकल्पना ॥

इति । चतुर्थस्य त्वाचमनमेव,

उपस्पृशेच्चतुर्थस्तु तदूर्ध्वं प्रोक्षणं स्मृतम् ।

इति मरीचिस्मरणात् । यत्तु कूर्मपुराणे—

¹ कार्मणि—क.

² पूर्वं संस्पर्शे—वैय.

चण्डालसूतिकोदक्या¹ संस्पृष्टं संस्पृशेद्यदि ।

प्रमादात्तत आचम्य जपं कुर्यात्समाहितः ॥

तत्स्पृष्टस्पृष्टिनं स्पृष्ट्वा बुद्धिपूर्वं द्विजोत्तमः ।

आचामेत्तद्विशुद्धयर्थं प्राह देवः पितामहः ॥

इति, तदुभयं द्वितीयादिविषयं, अन्यथा गौतमादिवचनविरो-
धात् अनेनैवाभिप्रायेण याज्ञवल्क्योऽपि—

उदक्याशुचिभिस्स्नायात्संस्पृष्टस्तरूपस्पृशेत् ।

अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥

इति । उदक्याशुचिभिश्चण्डालपतिताद्यैस्संस्पृष्टस्स्नायात् ।

तैरुदक्यादिभिरस्पृष्टैस्पृष्ट उपस्पृशेत् आचामेदित्यर्थः । भाष्य-
कारैस्तु दण्डादिस्पर्शविषय² मित्येतद्व्याख्यातम् । यद्वा—
तैरुदक्यादिभिरस्पृष्टैस्पृष्ट उपस्पृशेत् स्नायादिति संवर्तवचनेन-
समानार्थम् । यदपि देवलेनोक्तं—

संस्पृश्याशुचिसंस्पृष्टं द्वितीयं चापि मानवः ।

हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥

इति, तदपि याज्ञवल्क्येन समानार्थम् । यदपि वृद्धशातातपेन—

अशुचिं संस्पृशेदन्यमेक एव स दुष्यति ।

तत्स्पृष्टोऽन्यो न दुष्येत सर्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥

¹ चण्डालसूतिकाश्रावैः—ग.

² एतच्च दण्डाद्यचेतनव्यवधानस्पृशे

वेदितव्यम् । चेतनव्यवधाने तु मानवं—दिवाकिर्तिमुदक्यां च—इति
याज्ञवल्क्यस्मृतौविज्ञानेश्वरः.

इति, तदपि तेनैव समानार्थम् । यदप्यादित्यपुराणे—

ससूतकं समृतकं प्रसूतां वा रजस्वलाम् ।

स्पृष्ट्वा स्नायात्तु तस्तृष्टसंस्पर्शादचमेद्बुधः ॥

इति, तदपि संवर्तवचनेन समानार्थम् । अत्र कात्यायनः—

चण्डालसूतिकोदक्यापतिताशौचकृच्छवान् ।

स्पृष्ट्वा स्नात्वा शुचिः प्रेतमनुगम्यानलं स्पृशेत् ॥

इति, एतत्प्रमादसंस्पर्शविषयम् ।

पतितं सूतिकामन्त्यं शवं स्पृष्ट्वा च कामतः ।

स्नात्वा सचेलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

इति स्मरणात् । अत्र प्रचेताः—

ब्रह्मान्तरितसंस्पर्शस्साक्षात्स्पर्शोऽभिधीयते ।

साक्षात्स्पर्शे तु यत्प्रोक्तं तद्वस्त्रान्तरितेऽपि च ॥

इति । व्यासोऽपि—

चण्डालपतितौ दृष्ट्वा नरः पश्येत भास्करम् ।

स्नातस्त्वेतौ समालोक्य सचेलं स्नानमर्हति ॥

सूतिकापतितोदक्याश्चण्डालं च चतुर्थकम् ।

यथाक्रमं परिहरेदेकद्वित्रिचतुर्युगम् ॥

वैयाघ्रपादोऽपि—

चण्डालं पतितं चैव दूरतः परिवर्जयेत् ।

गोवालव्यजनादर्वाक्सवासा जलमाविशेत् ॥

इति । एतदतिसङ्कटस्थानविषयमिति कैश्चिद्व्याख्यातम् ।

विष्णुरपि—

चण्डालोदकयासंस्पर्शे स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति ।

इति । पराशरोऽपि—

चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चण्डालस्सोमविक्रयी ।

एतांस्तु ब्राह्मणस्पृष्टा सचेलो जलमाविशेत् ॥

इति । चित्तिप्रदेशारोपितवृक्षः चैत्यवृक्षः । अङ्गिरा अपि—

यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति ।

तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

आपस्तम्बोऽपि—

एकशाखां समारूढश्चण्डालादिर्यदा भवेत् ।

ब्राह्मणस्तत्र निवसन् स्नानेन शुचितामियात् ॥

इति । शाखाग्रहणमेवंजातीयकद्रव्योपलक्षणार्थम् ।

अत एव सङ्ग्रहकारः—

तार्णे संस्तर एकस्मिन्नस्पृश्यैस्सह तिष्ठति ।

अस्पृश्यै^१ स्तैरदुष्टोऽस्मीत्येवं मूढस्तु मन्यते ॥

इति । तार्णे तृणनिर्मिते । अत्र रजस्वलां प्रकृत्याङ्गिराः—

स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि निर्दिशेत् ।

कुर्याद्रजसि निर्वृत्ते शौचार्थं तु ततः पुनः ॥

इति । मनुरपि—

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ।

रजोनिवृत्त्यनन्तरं पुनस्स्नोनन साध्वी दैवादिकर्मयोग्येत्यर्थः ।

यत्पुनरङ्गिरोवचनं—

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नाता नारी रजस्वला ।

दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ॥

इति, तद्रजोनिवृत्तिकालोपलक्षणार्थम्, यतस्स एवाह—

साध्वाचारा न तावत्स्यात्स्नाताऽपि स्त्री रजस्वला ।

यावत्प्रवर्तमानं हि रजो न^१ विनिवर्तते ।

इति । साध्वाचारा दैवादिकर्मयोग्येत्यर्थः । स्पर्शयोग्या तु स्नानानन्तरं भवसेव । तदाह कात्यायनः—

रजस्वला चतुर्थेऽह्नि स्नानाच्छुद्धिमवाप्नुयात् ।

इति । यदा तु रोगेण रजो निस्सरति तदा न तेनाशुद्धिरित्याहाङ्गिराः—

रोगेण यद्रजस्त्रीणामसर्थं तु प्रवर्तते ।

अशुद्धा नैव तास्तेन यस्माद्वैकारिकं हि तत् ॥

इति । एवमकालेऽपि रजोदर्शने द्रष्टव्यम् । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

अकाले यद्भवेत् स्त्रीणां रक्तमाहुर्मनीषिणः ।

काले तु यद्रजः प्रोक्तं तस्मात्तत्रैव साऽशुचिः ॥

इति । अत्र संवर्तः—

श्ववराहखरानुष्टान् वृकगोमायुवानरान् ।

काककुक्कुटगृध्रांश्च स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ॥

इति । पैथीनासिरपि—

‘काकोलूकस्पर्शने सचेलं स्नानम् । अनुदकमूत्रपु-
रीषकरणे सचेलं स्नानं, महाव्याहृतिभिर्होमश्च’

इति । तदनन्तरमुदकलाभ इत्यर्थः,

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा यदा नैवोदकं लभेत् ।

स्नात्वा लब्धोदकः पश्चात्सचेलस्तु विमुद्ध्यति ॥

इत्यङ्गिरस्स्मरणात् । व्यासोऽपि—

भासवानरमार्जारखरोष्ट्राणां शुनां तथा ।

सूकराणाममेध्यं वै स्पृष्ट्वा स्नयात्सचेलकम् ॥

हारीतोऽपि—

एलकं कुक्कुटं काकं श्वसृगालशिवावृकान् ।

चितियूपश्मशानानि विद्वराहखराशुचीन् ॥

अवकीर्णनमन्यं च स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ।

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

अभोज्यसूतिकाषण्डमार्जाराखुश्वकुटम् ।

पतितापविद्धचण्डालमृतहारांश्च धर्मवित् ॥

संस्पृश्य शुद्ध्यति स्नानाभोदक्याग्रामसूकरौ ।

तद्वच्च सूतिकाशौचदूषितौ पुरुषावपि ॥

षट्त्रिंशन्मते—

वौद्धान्पाशुपताञ्जनान्लोकायतिककापिलान् ।

विकर्मस्थान्द्विजान् स्पृष्ट्वा सचेलो जलमाविशेत् ॥

कापालिकांस्तु संस्पृश्य प्राणायामोऽधिको मतः ।

ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान्द्विजान् शूद्रान्सवासा जलमाविशेत् ॥

संवर्तोऽपि—

शूद्रोच्छिष्टं द्विजस्स्पृष्ट्वा उच्छिष्टं शूद्रमेव वा ।
शुचिमप्यवगूह्यैनं सवासा जलमाविशेत् ॥

अवगूह्य स्पृष्ट्वेत्यर्थः । स्मृत्यन्तरेऽपि—

धितिं च चितिकाष्ठं च यूपं चण्डालमेव च ।
स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् ॥
देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः ॥

यमोऽपि—

शुना चैव श्वपाकेन मृतनिर्हरणेन वा ।
स्पृष्टमात्रस्तु कुर्वीत सचेलं प्लावनं जले ॥

इति । शुनि विशेषमाहापस्तम्बः—

‘शुनोपहतस्सचेलोऽवगाहेत । प्रक्षाल्य वा तं देश-
मग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य पादौ चाचम्य प्रय-
तो भवति’

इति । सचेलावगाहनं नाभेरूर्ध्वाङ्गस्पर्शनविषयम् । तथा च
विष्णुः—

¹ प्लावयेद्भिजः—वैद्य.

विष्णुरपि—

चण्डालोदक्यासंस्पर्शं स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति ।

इति । पराशरोऽपि—

चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चण्डालस्सोमविक्रयी ।

एतांस्तु ब्राह्मणस्स्पृष्टा सचेलो जलमाविशेत् ॥

इति । चित्तिप्रदेशारोपितवृक्षः चैत्यवृक्षः । अङ्गिरा अपि—

यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति ।

तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

आपस्तम्बोऽपि—

एकशाखां समारूढश्चण्डालादिर्यदा भवेत् ।

ब्राह्मणस्तत्र निवसन् स्नानेन शुचितामियात् ॥

इति । शाखाग्रहणमेवंजातीयकद्रव्योपलक्षणार्थम् ।

अत एव सङ्ग्रहकारः—

तार्णे संस्तर एकस्मिन्नस्पृश्यैस्सह तिष्ठति ।

अस्पृश्यैः^१ स्तैरदृष्टोऽस्मीत्येवं मूढस्तु मन्यते ॥

इति । तार्णे तृणनिर्मिते । अत्र रजस्वलां प्रकृत्याङ्गिराः—

स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि निर्दिशेत् ।

कुर्याद्रजसि निर्वृत्ते शौचार्थं तु ततः पुनः ॥

इति । मनुरपि—

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ।

रजोनिववृत्त्यनन्तरं पुनस्स्नोनन साध्वी दैवादिकर्मयोग्येत्यर्थः ।

यत्पुनरङ्गिरोवचनं—

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽङ्गि स्नाता नारी रजस्वला ।

दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ॥

इति, तद्रजोनिवृत्तिकालोपलक्षणार्थम्, यतस्स एवाह—

साध्वाचारा न तावत्स्यात्स्नाताऽपि स्त्री रजस्वला ।

यावत्प्रवर्तमानं हि रजो न विनिवर्तते ।

इति । साध्वाचारा दैवादिकर्मयोग्येत्यर्थः । स्पर्शयोग्या तु स्नानानन्तरं भवत्येव । तदाह कात्यायनः—

रजस्वला चतुर्थेऽङ्गि स्नानाच्छुद्धिमवाप्नुयात् ।

इति । यदा तु रोगेण रजो निस्सरति तदा न तेनाशुद्धिरित्याहाङ्गिराः—

रोगेण यद्रजस्स्त्रीणामस्य तु प्रवर्तते ।

अशुद्धा नैव तास्तेन यस्माद्वैकारिकं हि तत् ॥

इति । एवमकालेऽपि रजोदर्शने द्रष्टव्यम् । तथा च स्पृशन्तरम्—

अकाले यद्गवेत् स्त्रीणां रक्तमाहुर्मनीषिणः ।

काले तु यद्रजः प्रोक्तं तस्मात्तत्रैव साऽशुचिः ॥

इति । अत्र संवर्तः—

श्ववराहखरानुष्टान् वृकगोमायुवानरान् ।

काककुटुम्बगृध्रांश्च स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ॥

इति । पैठीनासिरपि—

‘काकोलूकस्पर्शने सचेलं स्नानम् । अनुदकमूत्रपु-
रीषकरणे सचेलं स्नानं, महाव्याहृतिभिर्होमश्च’

इति । तदनन्तरमुदकलाभ इत्यर्थः,

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा यदा नैवोदकं लभेत् ।

स्नात्वा लब्धोदकः पश्चात्सचेलस्तु विगुह्यति ॥

इत्याङ्गिरस्स्मरणात् । व्यासोऽपि—

भासवानरमार्जारखरोष्ट्राणां शुनां तथा ।

सूकराणाममेध्यं वै स्पृष्ट्वा स्नयात्सचेलकम् ॥

हारीतोऽपि—

एलकं कुक्कुटं काकं श्वसृगालशिवावृकान् ।

चित्तिःपूषश्मशानानि विद्वराहखराशुचीन् ॥

अवकीर्णिनमन्यं च स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ।

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

अभोज्यसूतिकाषण्डमार्जारखुश्वकुक्कुटम् ।

पतितापविद्धचण्डालमृतहारांश्च धर्मवित् ॥

संस्पृश्य शुद्ध्यति स्नानान्नोदक्याग्रामसूकरौ ।

तद्वच्च सूतिकाशौचदूषितौ पुरुषावपि ॥

षट्त्रिंशन्मते—

बौद्धान्पाशुपताञ्जनान्लोकायतिककापिलान् ।

विकर्मस्थान्द्विजान् स्पृष्ट्वा सचेलो जलमाविशेत् ॥

कापालिकांस्तु संस्पृश्य प्राणायामोऽधिको मतः !

ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान्द्विजान् शूद्रान्सवासा जलमाविशेत् ॥

संवर्तोऽपि—

शूद्रोच्छिष्टं द्विजस्पृष्ट्वा उच्छिष्टं शूद्रमेव वा ।
शुचिमप्यवगूह्यै न सवासा जलमाविशेत् ॥

अवगूह्य स्पृष्ट्वेत्यर्थः । स्मृत्यन्तरेऽपि—

चित्तिं च चित्तिकाष्ठं च यूपं चण्डालमेव च ।
स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् ॥
देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः ॥

यमोऽपि—

शुना चैव श्वपाकेन मृतनिर्हरणेन वा ।
स्पृष्टमात्रस्तु कुर्वीत सचेलं ग्रावनं जले ॥

इति । शुनि विशेषमाहापस्तम्बः—

‘शुनोपहतस्सचेलोऽवगाहेत । प्रक्षाल्य वा तं देश-
मग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य पादौ चाचम्य प्रय-
तो भवति’

इति । सचैलावगाहनं नाभेरुर्ध्वाङ्गस्पर्शनविषयम् । तथा च
विष्णुः—

¹ ग्रावयेद्भिजः—वैद्य.

नाभेरधः कराग्रं वा शुना यद्युपहन्यते ।

प्रक्षाल्य दर्भैस्संज्वालय¹ पुनराचम्य शुद्ध्यति ॥

नाभेरूर्ध्वं शुना स्पृष्टो लिप्तोऽमेध्येन वा पुनः ।

प्रक्षाल्य मृद्भिरङ्गानि सचेलं स्नानमर्हति ॥

इति । एवं रजकादिस्पर्शने वेदितव्यम् । तथा च शातातपः—

रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधजालोपजीविनौ ।

निर्णेजकस्सौनिकश्च नटशैलूषकस्तथा ।

मुखेभगस्तथा श्वा च वनितास्सर्ववर्णगाः ॥

चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्रामकुक्कुटसूकरौ ।

एतैर्यदङ्गं स्पृष्टं स्याच्छिरोवर्जं द्विजातिषु ।

तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्ताः प्रयता मताः ॥

रजको वस्त्रादिरागकर्ता । निर्णेजकश्चेलधावकः । सैनिको हिंस्रः ।

नटो जातिविशेषः । अनटोऽपि रङ्गावतरणजीवी शैलूषकः । मुखे-

भगवण्डाविशेषः । ध्वजी मद्यविक्रेता । अत्रापि श्वसाहचर्याच्छि-

रोग्रहणं नाभेरूर्ध्वाङ्गोपलक्षणार्थम् । शङ्खोऽपि—

रथ्याकर्दमतोयेन ष्ठीवनाद्येन² वा तथा ।

नाभेरूर्ध्वं नरस्स्पृष्टस्सद्यस्स्नानेन शुद्ध्यति ॥

जातूकर्णोऽपि—

ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गं स्पृशते खगः ।

स्नानं तत्र प्रकुर्वीत शेषं प्रक्षाल्य शुद्ध्यति ॥

¹ प्रक्षाल्य तदर्भज्वालय. क.

फेनाद्येन च—वैद्य.

खगः पक्षी । यदि पुनरशुद्ध एव श्वादीन् स्पृशति तदा विशेषो देवलेन दर्शितः—

श्वपाकं पतितं व्यङ्ग्य^१ मुन्मत्तं शवदाहकम् ।
 सूतिकां स्त्राविकां नारीं रजसा च परिप्लुताम् ॥
 शुककुक्कुटवाराहान्ग्राम्यान्संस्पृश्य मानवः ।
 सचेलस्सशिरास्स्नात्वा तदानीमेव शुद्ध्यति ॥
 अशुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धस्तु यदि स्पृशेत् ।
 विशुद्ध्यत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुनः ॥

इति । स्त्राविका प्रसवस्य कारयित्री । एतद्वुद्धिपूर्वकस्पर्शविषयम् ।
 तथा च कूर्मपुराणम्—

उच्छिष्टोऽद्भिरनाचान्तश्चण्डालं वा स्पृशेद्विजः ।
 प्रमादाद्वा जपेत्स्नात्वा^२ गायत्र्यष्टसहस्रकम् ॥
 चण्डालपतितादींस्तु कामाद्यस्संस्पृशेद्विजः ।
 उच्छिष्टस्तत्र कुर्वीत प्राजापत्यं विशुद्ध्ये ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेण विष्णुरपि—

अनुच्छिष्टेन संस्पृष्टे^३ स्नानं येन विधीयते ।
 तेनैवो^४ च्छिष्टसंस्पृष्टः प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥

अत्र संवर्तः—

^१ पाषण्डं पतितं चान्त्य—वैद्य.

^३ द्वै जपेन्नित्यं—ख.

^२ संस्पृशे—ख.

^४ तेनैवो—स्पृतिर.

नीलीं नीलीविकारांश्च मानुष्यास्थ्यपि वा द्विजः !

चण्डालपतितच्छायां स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ॥

एतत्सस्नेहास्थाविषयम् । यदाह मनुः—

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।

आचम्यैव तु निस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥

अमानुषे तु विष्णूक्तं द्रष्टव्यम्—

‘ भक्ष्यवर्जं पञ्चनखशवं तदस्थि सस्नेहं च स्पृष्ट्वा
स्नायात् ’

इति । अत्र यमः—

अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।

दुस्स्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥

अजीर्णेऽपरेद्युर्भुक्तोद्गारे । अभ्युदिते शयानस्यादित्ये । पुराणेऽपि—

स्पृष्ट्वा रुद्रस्य निर्माल्यं सवासा आप्लुतशुचिः ।

पराशरोऽपि—

दुस्स्वप्ने मैथुने वान्ते विरिक्ते क्षुरकर्मणि ।

चितियूपश्मशानानां स्पर्शने स्नानमाचरेत् ॥

अस्थिसञ्चयनात्पूर्वं रुदित्वा स्नानमाचरेत्¹ ।

अन्तर्दशाहे विप्रस्य ऊर्ध्वमाचमनं स्मृतम् ॥

अत्रास्थिसञ्चयनादूर्ध्वं (अन्तर्दशाहे)² आचमनमिति सम्बन्धः ।

वमनादौ तु विशेषमाह यमः—

¹ इदमर्थं कखयोर्नास्ति.

² () इदं च कखयोर्नास्ति.

वान्तो विरिक्तस्स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।

आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनस्स्मृतम् ॥

इति । भुक्त्वाऽन्नमनन्तरं वान्त आचामेदित्यर्थः । मैथुनिनः स्नान
मृतुकालविषयम् । यदाह शातातपः—

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात् स्नानं मैथुनिनस्स्मृतम् ।

अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥

इति । अत्र मूत्रपुरीषवच्छौचद्वयमपि कार्यमित्यर्थः । स्मृत्यन्तरे
त्वनृतावपि कालविशेषे स्नानमुक्तं—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम् ।

कृत्वा सचेलं स्नात्वा तु वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥

इति । अत्र व्यासः—

रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः ।

नैमित्तिकं तु कुर्वन्ति स्नानं दानं च रात्रिषु ॥

एतन्मध्यमयामाभिप्रायम् । यदाह देवलः—

महानिशा तु विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् ।

तस्मात् स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृते ॥

पैठीनसीरपि—

अपेयं हि सदा तोयं रात्रिमध्यमयामयोः ।

स्नानं चैव न कर्तव्यं तथैवाचमनक्रिया ॥

इति । अनेन महानिशायामेव स्नाननिषेधादन्यत्र रात्रावप्यविरु-
द्धमिति गम्यते । अत एव पराशरः—

महानिशा तु विज्ञेया मन्यस्थं प्रहरद्वयम् ।
प्रदोषपश्चिमौ यामौ दिनवत् स्नानमाचरेत् ॥

इति । एतदप्यापद्विषयम् । यदाह स एव—

दिवाकरकरैः पूतं दिवा स्नानं प्रशस्यते ।

अप्रशस्तं निशास्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात् ॥

अहनि स्नाने सम्भवति रात्रावप्रशस्तमित्यर्थः । राहुदर्शनग्रहणं
सङ्क्रान्त्यादेरपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव देवलः—

राहुदर्शनसङ्क्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।

स्नानदानादिकं कुर्यान्नृशि काम्यव्रतेषु च ॥

अत्ययो मरणम् । वृद्धिर्जननम् । योगयाज्ञवल्क्येऽपि—

ग्रहणोद्वाहसङ्क्रान्तियात्राऽऽर्तिप्रसवेषु च ।

स्नानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि तदिष्यते ॥

इति । आर्तिर्मरणम् । पराशरोऽपि—

पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा सङ्क्रमणे रवेः ।

राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ॥

यज्ञेऽवभृथे । रात्रिस्नाने तु विशेषमाह यमः—

विप्रस्मृष्टो निशायां तु उदक्यापतितेन वा ।

दिवाऽऽनीतेन तोयेन स्नापयेदग्निसन्निधौ ॥

इति । तोयेन स्वर्णसहितेनेति शेषः । तथा च पराशरः—

दिवाऽऽहृतं तु यत्तोयं कृत्वा स्वर्णयुतं तु तत् ।

रात्रौ स्नाने तु सम्प्राप्ते स्नायादनलसन्निधौ ॥

इति । यदि दिवाऽऽहृतं न संभवति तदा विशेषमाह मरीचिः—

दिवाऽऽहृतं तु यत्तोयं गृहे यदि न विद्यते ।

प्रज्वालयाग्निं ततस्स्नायान्दीपुष्करिणीषु च ॥

कात्यायनोऽपि—

प्रवेशाद्वरुणस्याप्सु न रात्रौ जलमुद्धरेत् ।

अन्यत्र धाम्न इत्येव तत्रस्थे स्नानमिष्यते ॥

धाम्नो धाम्न इति समन्त्रोद्धरणादन्यत्र रात्रौ जलं नोद्धरेदित्यर्थः । अत्रापि विशेषमाह पराशरः—

यदि गेहे न तोयं स्यात्तावच्छुद्धिः कथं भवेत् ।

धाम्नो धाम्नेति मन्त्रेण गृहीयादग्निसन्निधौ ॥

रात्रौ गृहांशुभिः पूतं दिवा पूतं तु भानुना ।

अनेनैव विगुद्ध्येत यथा रात्रौ तथा दिवा ॥

अत्र ब्रह्माण्डपुराणं—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।

तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन प्राकीर्तितम् ॥

इति । नैमित्तिकेऽप्यस्य कचिदपवादमाहापस्तम्बः—

अस्पृश्यस्पर्शने वान्ते अश्रुपाते क्षुरे भगे ।

स्नानं नैमित्तिकं कार्यं दैवपित्रयविवर्जितम् ॥

अत्र विशेषमाह विष्णुः—

स्नानार्हो यो निमित्तेन कृत्वा तोयावगाहनम् ।

आचमय प्रयतः पश्चात्स्नानं विधिवदाचरेत् ॥

कृत्वाऽवगाहनं तूष्णीमिति शेषः । तथा च योगयाज्ञवल्क्यः—

तूष्णीमेवावगाहेत यदा स्यादशुचिर्नरः ।

आचमय प्रयतः पश्चात्स्नानं विधिवदाचरेत् ॥

अत्र वृद्धशातातपः—

चण्डालादेस्तु संस्पर्शे वारुणं स्नानमाचरेत् ।

इतराणि तु चत्वारि यथायोगं स्मृतानि वै ॥

इतराणि ब्राह्मादीनि । योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने स्नानमेव विधीयते ।

पूर्वोद्दिष्टैस्तथा मन्त्रैरन्यथा मार्जनं स्मृतम् ॥

इति । अन्यथा नित्यस्नाने । वारुणे तु विशेषमाह गर्गः—

कुर्यान्नैमित्तिकस्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।

निसं यादृच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥

इति । यादृच्छिकं मलापकर्षणार्थम्,

मलव्यपोहनफलं स्नानं यादृच्छिकं तु तत् ।

इति तेनैवोक्तत्वात् । आतुरस्नानं प्रकृत्य पराशरः—

आतुरस्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः ।

स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततश्शुद्धयेत्स आतुरः ॥

स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला ।

पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥

सिक्तगात्रा भवेदद्भिस्साङ्गोपाङ्गा कथंचन ।

न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत् ॥

आतुरो रोगी । उशनाऽपि—

ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता ।
 कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिस्स्यात्केन कर्मणा ॥
 चतुर्थेऽहनि सम्प्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम् ।
 सहसा सा विगाह्यापस्स्नात्वा स्नात्वा पुनस्स्पृशेत्¹ ॥
 दशद्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः पुनः ।
 अन्ते तु वाससां त्यागस्ततश्शुद्धा भवेत्तु सा ॥
 दद्याच्छक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुद्ध्यति ।

इति । तथा स्मृतिकामरणे स्मृत्यन्तरे विशेषो दर्शितः—
 स्मृतिकायां मृतायां तु कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ।
 कुम्भे सलिलमादाय पञ्चगव्यं तथैव च ॥
 पुण्याभिरभिमन्त्रयापो वाचा शुद्धिं लभेत्ततः ।
 तेनैव स्नापयित्वा तु दाहं कुर्याद्यथाविधि ॥

रजस्वलामरणे तु—

पञ्चभिस्स्नापयित्वा तु गव्यैः प्रेतां रजस्वलाम् ।
 वस्त्रान्तरावृतां कृत्वा दाहयेद्विधिपूर्वकम् ॥

इति । अत्र शातातपः—

ग्रामे तु यत्र संस्पृष्टिर्यात्रायां कलहादिषु ।
 ग्रामसंदूषणे चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते ॥

ग्रामे राजमार्गादौ । षट्त्रिंशन्मतेऽपि—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च ।

¹ सा सचेलाऽवगाह्यापस्स्नात्वा चैव पुनस्स्पृशेत्—क. ख.

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टा स्पृष्टिर्न^१ विद्यते ।
बृहस्पतिरपि—

तीर्थे विवाहे यात्रायां सङ्ग्रामे देशविप्लवे ।

नगरग्रामदाहे च स्पृष्टा स्पृष्टिर्न^१ दुष्यति ॥

एतच्च वाक्यत्रयं यत्राहमनेन स्पृष्ट इति ज्ञानं नास्ति तद्विषयमिति
केचित् । उच्छिष्टाशुचि^२स्पर्शनविषयमित्यन्ये । तत्रापस्तम्बः—

‘शक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतस्स्यात्’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां नैमित्तिकस्नानानि.

काम्यस्नानानि.

अथ काम्यस्नानानि । तत्र पुलस्त्यः—

पुण्ये च जन्मनक्षत्रे व्यतीपाते च वैधृतौ ।

अमायां च नदीत्नानं पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥

रव्यङ्गारशनेर्वारे स्नानं कुर्वन्ति ये द्विजाः ।

व्याधिभिस्ते न पीड्यन्ते मृगैः केसरिणो यथा ॥

चैत्रकृष्णचतुर्दश्यां यस्नायाच्छिवसन्निधौ ।

न प्रेतत्वमवाप्नोति गङ्गायां च विशेषतः ॥

भविष्यत्पुराणे—

शिवलिङ्गसमीपे तु यत्तोयं पुरतास्स्थितम् ।

शिवगङ्गेति^३ तज्ज्ञेयं^४ तत्र स्नात्वा दिवं व्रजेत् ॥

^१ स्पृष्टया स्पृष्टिर्न—क; स्पृष्टास्पृष्टिर्न—ख. ^२ अनुच्छिष्ट—क. ख.

^३ शिवलिङ्गेति—क. ख. ^४ शिवतीर्थमिति ख्यातं—पराशरमाध.

यमोऽपि—

कार्तिक्यां पुष्करे स्नातस्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
 माघ्यां स्नातः प्रयागे तु मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥
 ज्येष्ठमासे सिते पक्षे द्वादश्यां हस्तसंयुते ।
 दशजन्माघहा गङ्गा तेन पापहरा स्मृता ॥
 यमुनायां तथा स्नात्वा माघकृष्णचतुर्दशीम् ।
 वैशाखे शुक्लपक्षे तु तृतीयायां तथैव च ॥
 गङ्गातोये नरस्स्नात्वा मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।

मार्कण्डेयोऽपि—

गवां कोटिसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम् ।
 तत्फलं जाह्नवीक्षाने राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥

पद्मपुराणेऽपि—

कार्तिके नवमी शुक्ला पितृणामुत्तवाय सा ।
 तस्यां स्नानं हुतं दत्तमनन्तफलदं भवेत् ॥

विष्णुरापि—

सूर्यग्रहणतुल्या तु शुक्ला माघस्य सप्तमी ।
 अरुणोदयवेलायां तस्यां स्नानं महाफलम् ॥
 पुनर्वसुबुधोपेता चैत्रमासे सिताष्टमी ।
 स्रोतस्सु विधिवत्स्नात्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥

शातातपोऽपि—

अमावास्या भवेद्वारे यदा भूमिसुतस्य वै ।
 जाह्नवीक्षानमात्रेण गोसहस्रफलं भवेत् ॥

पुराणेऽपि—

कार्तिकं सकलं मासं नित्यस्नायी जितेन्द्रियः ।

जपन्हविष्यभुक्स्नातस्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

तुलामकरमेषेषु¹ प्रातस्स्नायी सदा भवेत् ।

हविष्यं ब्रह्मचर्यं च महापातकनाशनम् ॥

यमोपि—

य इच्छेद्विपुलान्भोगांश्चन्द्रसूर्यग्रहोपमान् ।

प्रातस्स्नायी भवेन्नित्यं मासौ द्वौ माघफाल्गुनौ ॥

मत्स्यपुराणेऽपि—

आषाढादिचतुर्मासान्प्रातस्स्नायी भवेन्नरः ।

विप्रेभ्यो भोजनं दत्त्वा कार्तिक्यां गोप्रदो² भवेत् ॥

स वैष्णवं पदं याति विष्णुव्रतमिदं स्मृतम् ॥

वृद्धवासिष्ठोऽपि—

रविसङ्क्रमणे पुण्ये न स्नायाद्यदि मानवः ।

सप्तजन्मसु रोगी स्याद्दुःखभागीह जायते ॥

सप्तजन्मात् रोगैर्न विमुक्तस्सदा भवेत् ।

मार्कण्डेयोऽपि—

सर्वकालं तिलैस्नानं पुण्यं व्यासोऽब्रवीन्मुनिः ।

तुष्यतामलकैर्विष्णुरेकादश्यां विशेषतः ॥

श्रीकामस्तु सदा स्नानं कुर्वीतामलकैर्नरः ।

सप्तमीं नवमीं चैव पर्वकालं च वर्जयते ।

¹ मासेषु—ख.

² सत्रतो—वैद्य.

अत्र ब्रह्माण्डपुराणं—

नित्यं नैमित्तिकं काम्य तत्राप्य तानमुच्यते ।

तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन प्रकीर्तितम् ॥

इति । गर्गोऽपि—

कुर्यान्नैमित्तिकस्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।

नित्यं यादृच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां काम्यस्नानानि.

माघस्नानविधिः.

अथ माघस्नानविधिः । तत्र नारदीयपुराणं—

सम्प्राप्ते माघमासे तु तपस्विजनवल्लभे ।

क्रोशन्ति सर्ववारीणि समुद्रच्छति भास्करे ॥

पुनीमस्सर्वपापानि त्रिविधानि न संशयः ।

ब्रह्मघ्नेनापि यानि स्युस्तीव्रकर्मकृतानि च ॥

देवैस्तेजः परिक्षिप्तं माघमासे जलेषु वै ।

अतः पवित्रं हि जलमशेषाघौघनाशनम् ॥

नद्वलेषु तु न स्नायात्कौप्ये भाण्डे स्थिते जले ।

न सुखाल्लभ्यते पुण्यं पुण्यं कृच्छ्रेण लभ्यते ॥

माघमासे वरारोहे शस्तं वै निम्नगाजलम् ।

स्नातो वह्निं न मेवेत अस्नातो वा कथं चन ॥

विष्णुरपि—

पौषफाल्गुनयोर्मध्ये प्रातस्स्नायी सदा भवेत् ।

दर्शं वा पौर्णमासीं वा प्रारभ्य स्नानमचरेत् ॥

पुण्यान्यहानि त्रिंशत्तु मकरस्थे दिवाकरे ।
 तत्र चोत्थाय नियमं गृहीयाद्विधिपूर्वकम् ॥
 माघमासमिमं पूर्णं स्नास्येऽहं देव माधव ।
 तीर्थस्यास्य जले नित्यमिति सङ्कल्प्य चेतसि ॥
 ततः स्नात्वा गृही तीर्थे वृत्वा^१ शिरसि वै मृदम् ।
 वेदोक्तविधिना राजन् सूर्यस्यार्घ्यं निवेदयेत् ॥
 पितृन् सन्तर्पयित्वा तु अवतीर्य ततो जलात् ।
 काष्ठा मौनी नमस्कृत्य पूजयेत्पुरुषोत्तमम् ॥
 शङ्खचक्रधरं देवं माधवं नाम पूजयेत् ।
 वह्नौ हुत्वा विधानेन ततस्त्वेकाशनो भवेत् ॥
 भूशय्याब्रह्मचर्येण शक्तस्नानं समाचरेत् ।
 अशक्तस्यां धनाढ्यस्य स्वेच्छा सर्वत्र कथ्यते ॥
 अवशचमेव कर्तव्यं माघस्नानमिति स्थितिः ।
 तिलस्नायी तिलोद्वर्ती तिलहोमी तिलोदकी ॥
 तिलदस्तिलभोक्ता च षड्विलो नावसीदति ।
 तिला आमलकाश्चैव तीर्थे देयास्तु नित्यशः ॥
 तथा प्रज्वालयेद्बहिमिन्धनार्थं द्विजन्मनाम्^२ ।
 एवं स्नानस्यावसाने भोजनं देयमवारितम्^३ ॥
 भोजयेद्विजदाम्पत्यं भूषयेद्वस्त्रभूषणैः ।
 कम्बलाजिनरत्नानि वासांसि विविधानि च ॥

^१ दत्वा—य. ख. ^२ इन्धनौघैर्द्विजन्मना—वैद्य. ^३ भोजयेद्विजदम्पती—वैद्य.

चेलकानि च देयानि प्रच्छादनपटास्तथा ।
उपानहौ तथा गुल्फमोचकौ पादमोचकौ ॥
अनेन विधिना दद्यान्माधवः प्रीयतामिति ।

अत्र पुराणोक्तो विशेषः—

सवित्रे प्रसवित्रे च परं धाम जले मम ।
त्वत्तेजसा परिभ्रष्टं पापं यातु सहस्रधा ॥
दिवाकर जगन्नाथ प्रभाकर नमोस्तु ते ।
परिपूर्णं करिष्येऽहं माघस्नानं तवाज्ञया ॥

इति सङ्कल्पमन्त्रः ।

अहन्यहनि दातव्यास्तिलाश्शर्करयाऽन्विताः ।
माघावसाने सुभगे विप्रान्सम्भोजयेत्तथा ¹ ॥
सूर्यो मे प्रीयतां देवो विष्णुमूर्तिर्निरञ्जनः ।
दम्पत्योर्वाससी सूक्ष्मे सप्तधान्यसमन्विते ॥
त्रिंशत्तु मोदका देयाश्शर्करातिलसंयुताः ।
भागत्रयं तिलानां तु चतुर्थश्शर्करांशकः ॥
अनभ्यङ्गी वरारोहे सर्वं मासं नयेद्व्रती ।

तत्र फलविशेषार्थिनो नियमविशेषमाह विष्णुः—

संयतः पथि गच्छेत्तु मौनी पैशुन्यवर्जितः ।
यदीच्छेद्विपुलान्भोगांश्चन्द्रसूर्योपमाम् शुभान् ॥

¹ षड्सं भोजनं तथा—क. ख.

अप्रावृतशरीरस्तु यः कामी ¹ स्नानमाचरेत् ।

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥

पुराणेऽपि—

सरित्तोयं महावेगं नवकुम्भस्थितं तथा ।

वायुना ताडितं रात्रौ गङ्गास्नानसमं व्रतम् ॥

इति । एवं कुर्वतः फलमाह विष्णुः—

बालास्तरुणका वृद्धा नरनारीनपुंसकाः ।

स्नात्वा माघे शुभे तीर्थे प्राप्नुवन्तीप्सितं फलम् ॥

पित्रा पितामहैस्सार्धं तथैव प्रपितामहैः ।

मातृमातामहैस्सार्धं वृद्धमातामहैस्तथा ॥

एकविंशत्कुलैस्सार्धं भुक्त्वा भोगान्यथेप्सितान् ।

माघमास्युषसि स्नात्वा विष्णुलोकं स गच्छति ॥

पुराणेऽपि—

एवं माघप्लवे याति भित्त्वा बिम्बं दिवाकरे ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां माघस्नानविधिः.

मलापकर्षणस्नानम्.

अथ मलापकर्षणस्नानविषयाणि कानिचिद्वचनानि लिख्यन्ते ।

अत्र वृद्धमनुः—

पक्षादौ च रवौ षष्ठ्यां रिक्तायां च तथा तिथौ ।

तैलेनाभ्यज्यमानस्तु धनायुभर्या विहीयते ॥

हारीतोऽपि—

पञ्चमीं दशमीं चैव पौर्णमासीं त्रयोदशीम् ।
एकादशीं तृतीयां च यस्तैलमुपसेवते ॥
अभ्यङ्गस्पर्शनाद्वाऽपि भक्षणाच्च तथैव च ।
उच्छीर्णा तस्य वृद्धिस्स्याद्धनापत्यवलायुषाम् ॥

बोधायनोऽपि—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दशम्यां च विशेषतः ।
शिरोऽभ्यङ्गं वर्जयेत्तु पर्वसन्धौ तथैव च ॥

गर्गोऽपि—

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां रविसङ्क्रमे ।
द्वादश्यां सप्तमीपष्ठयोस्तैलस्पर्शं विवर्जयेत् ॥
एवं वारनिषेधोऽपि ज्योतिःशास्त्रे प्रदर्शितः ।
सन्तापः कान्तिरल्पायुर्धनं वै निधनं तथा ॥
अनारोग्यं सर्वकामा अभ्यङ्गाद्वास्करादिषु ।

वामनपुराणेऽपि—

नाभ्यङ्गमर्के न च भूमिपुत्रे
क्षौरं च शुक्रे च कुजे च मांसम् ।
बुधे च योषित्परिवर्जनीया
शेषेषु कार्याणि ¹ सदैव कुर्यात् ॥
चित्रासु हस्ते श्रवणे च तैलं
क्षुरं विशाखासु भिषक्षु वर्ज्यम् ।

¹ सर्वाणि—ग.

मूले मृगे भाद्रपदासु मांसं
 योषिन्मखाकार्तिकसोत्तरासु ॥
 तैलाभ्यङ्गो नार्कवारे न भौमे
 नो सङ्क्रान्तौ वैधृतौ विष्टिषष्ठ्योः^१ ।
 पर्वस्वष्टम्यां च नेष्टस्स इष्टः
 प्रोक्तो मुक्त्वा वासरे सूर्यसूनोः ॥

सूर्यसूनुश्शैश्वरः । एवं चोत्तरादियुक्तां द्वितीयां विहायोत्तरा-
 सु तिथिष्वभ्यङ्गस्नानं कुर्यादित्युक्तं भवति । अत्र प्रचेताः—

सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पावासितम् ।
 अन्यद्द्रव्यायुतं तैलं न दुष्पाति कदा चन ॥

यमोऽपि—

घृतं च सार्षपं तैलं यत्तैलं पुष्पवासितम् ।
 न दोषः पक्वतैलेषु स्नानाभ्यङ्गेषु नित्यशः ॥

इति । अयं च तिथिविशेषनिषेधोऽभ्यङ्गस्नान एव, न नित्यस्ना-
 नादौ । तथा च गर्गः—

पुत्रजन्मनि सङ्क्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।

नित्यस्नाने च कर्तव्ये तिथिदोषो न विद्यते ॥

अ. पस्तम्बोऽपि—

यादृच्छिकं तु यत्स्नानं भोगार्थं क्रियते द्विजैः ।

तन्निषिद्धं दशम्यादौ नित्यं नैमित्तिकं त्विति ॥

एवं काम्येऽपि द्रष्टव्यम् । अत एव जावालिः—

^१ नैव षष्ठ्यां च दशै—वैश्व.

नित्यं न हापयेत्स्नानं काम्यं नैमित्तिकं च यत् ।

दशम्यामपि कर्तव्यं न तु यादृच्छिकं क्वचित् ॥

इति । यादृच्छिकं मलापकर्षणार्थं,

मलव्यपोहनफलं स्नानं यादृच्छिकं तु तत् ।

इति गर्गस्मरणात् ! एवं च यदुक्तमापस्तम्बेन—

विना तु सन्ततस्नानं न स्नायाद्दशमीषु च ।

इति, तत्काम्यनैमित्तिकयोरपि प्रदर्शनार्थमित्यवगन्तव्यम् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां मलापकर्षणस्नानम्.

तिथिप्रयुक्तनिषेधाः.

अथान्येऽपि तिथि^१ प्रयुक्तनिषेधाः प्रदर्श्यन्ते । तत्र क्रतुः—

पृष्ठां च सप्तमीं चैव नवमीं च त्रयोदशीम् ।

सङ्क्रान्तौ रविवारे च स्नानमामलकैस्त्यजेत् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

धात्रीफलैरमावास्यासप्तमीनवमीषु च ।

न स्नायात्तत्र हीयन्ते तेज आयुर्धनं सुताः ॥

धात्री आमलकी । मार्कण्डेयोपि—

सप्तम्यां न स्पृशेत्तैलं नीलवस्त्रं न धारयेत् ।

न चाप्यामलकैस्त्नायान्न कुर्यात्कलहं नरः ॥

व्यासोऽपि—

^१ नित्य—क. ख.

षष्ठ्यष्टमी पञ्चदशी पक्षद्वयचतुर्दशी ।

अत्र सन्निहितं पापं तैले मांसे क्षुरे भगे ¹ ॥

एतद्दर्शपूर्णमासव्यतिरिक्तविषयं, तस्य तत्रैव विधानात् ॥ व्या-
घ्रोऽपि—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पञ्चदश्यां त्रिजन्मनि ।

तैलं मांसं व्यवायं च दन्तकाष्ठं च वर्जयेत् ॥

व्यवायो मैथुनम् । अत्रिरपि—

षष्ठ्यां तैलमनायुष्यमष्टम्यां पिशितं तथा ।

क्षुरकर्म चतुर्दश्याममायां मैथुनं तथा ॥

दन्तकाष्ठममावास्यां मैथुनं च चतुर्दशीम् ।

हन्ति सप्तकुलं पुंसां तैलग्रहणमष्टमीम् ॥

पुराणेऽपि—

कुहूपूर्णेन्दुसङ्क्रान्तिचतुर्दश्यष्टमीषु च ।

नरश्चण्डालयोनिस्स्यात्तैलस्त्रीमांससेवनात् ॥

धौम्योऽपि—

मांसाशने पञ्चदशी तैलाभ्यङ्गे चतुर्दशी ।

अष्टमी ग्राम्यधर्मे च ज्वलन्तमपि पातयेत् ॥

ग्राम्यधर्मो मैथुनम् । पुराणेऽपि—

चतुर्दश्यष्टमी षष्ठी अमावास्या च पूर्णिमा ।

पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसङ्क्रान्तिरेव च ॥

¹ तैलमांसेषु सर्वदा—क. ख.

तैलस्त्रीमांससम्भोगी पर्वस्वेतेषु यः पुमान् ।
विष्मूत्रभोजनं^१ नाम प्रयाति नरकं ध्रुवम्^२ ॥

मार्कण्डेयोऽपि—

अष्टमी च तथा षष्ठी नवमी च चतुर्दशी ।
क्षुरकर्मणि वर्ज्यास्स्युः पर्वसन्धिस्तथैव च ॥
अमावास्यासु सर्वासु नववस्त्रं न धारयेत् ।

प्रचेता अपि—

विधुक्षये न गच्छेत प्राप्तकालामपि स्त्रियम् ।
तैलं च न स्पृशेदामवृक्षादींश्च न कर्तयेत् ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

छिनत्ति वीरुधो यस्तु वीरुत्संस्थे निशाकरे ।
पत्रं^३ वा पातयत्येकं ब्रह्महत्यां स विन्दति ॥

शङ्खोपि—

अमावास्यासु न च्छिन्द्यात्कुशांस्तु समिधस्तथा ।
सर्वत्रावस्थिते सोमे हिंसायां ब्रह्महा भवेत् ॥

पैठीनसिरापि—

नामावास्यायामङ्कुराणि^४ छिन्द्यात् ।

इति । एवं च यदुक्तं जाबालिना—

कुशान्काशं च पुष्पाणि गवार्थं च तृणादिकम् ।
निषेधे चापि गृहीयादमावास्याहनि द्विजः ॥

^१ भाजनं—ख.

^२ नरः—क. ख.

^३ वृक्षं—ग.

^४ यां हरीतानि—ग.

इति, तच्छान्तीय¹ कुशादिग्रहणमिदमुत्सन्धेयम् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां तिथिप्रयुक्तनिषेधाः.

क्रियास्नानानि.

अथ क्रियास्नानम् । तत्र शङ्खः—

क्रियास्नानं प्रवक्ष्यामि यथावद्विधिपूर्वकम् ।

मृद्गिरिद्विधं कर्तव्यं शौचमादौ यथाविधि ॥

जले निमग्नस्तून्मज्ज्य उपस्पृश्य यथाविधि ।

तीर्थस्यावाहनं² कुर्यात्तत्प्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥

प्रपद्ये वरुणं देवमम्भसां पतिमूर्जितम् ।

याचितं देहि मे तीर्थं सर्वपापापनुत्तये ॥

तीर्थमावाहयिष्यामि सर्वपापनिषूदनम् ।

सान्निध्यमस्मिन्स्वे तोये स्थायतां मदनुग्रहात् ॥

रुद्रान्प्रपद्ये वरदान्सर्वानप्सुषदस्त्वहम् ।

सर्वानप्सुषदश्चैव प्रपद्ये वरुणास्त्वहम् ॥

देवमप्सुषदं वह्निं प्रपद्येऽरिनिषूदनम् ।

अपः पुण्याः पवित्राश्च प्रपद्ये शरणं तथा ॥

सर्वे रुद्रास्तथाऽग्निश्च वरुणश्चाप एव च ।

शमयन्त्वाशु मे पापं रक्षन्तु च सदाऽप्सु माम् ॥

इत्येवमुक्त्वा कर्तव्यं ततस्सम्मार्जनं कुशैः ।

आपो हिष्टेति तिसृभिर्यथावदनुपूर्वशः ॥

¹ तच्छान्तीय --गः

² तीर्थावाहनं—क, ख,

हिरण्यवर्णा इति च ऋग्भिश्च तिसृभिस्तथा ।
 शं नो देवीरिति तथा शं न आपस्तथैव च ॥
 इदमापः प्रवहतेत्येवं च समुदीरयेत् ।
 एवं संमार्जनं कृत्वा छन्द आर्षं च दैवतम् ॥
 अघमर्षणसूक्तं च संस्मरेत्प्रयतस्सदा ।
 तथाऽम्भसि निमग्नस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥
 प्रदद्यान्मूर्ध्नि च तथा महाव्याहृतिभिर्जलम् ।
 इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां क्रियास्नानम्.

स्नानार्हजलानि.

अथ स्नानार्हजलानि । तत्र मनुः—

नदीषु देवखातेषु तटाकेषु सरस्सु च ।
 स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥
 देवखातं देवनिर्मितं, न तु स्थावरकृत्रिमं जलम् । गर्तस्तु कात्या-
 यनेन प्रदर्शितः—
 धनुस्सहस्राण्यष्टौ तु गतिर्यासां न विद्यते ।
 न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः ॥
 अनेनार्थान्नदीलक्षणमप्युक्तं भवति । पर्वतादेस्स्तोकजलप्रवाहः
 प्रस्रवणम् । विष्णुपुराणेऽपि—
 नदीनदतटाकेषु देवखातजलेषु च ।
 नित्यं क्रियार्थं स्नायीत गिरिप्रस्रवणेषु च ॥

कूपेषूद्धृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि ।

स्नायीतोद्धृततोयेन अथवा भुव्यसम्भवे ॥

मार्कण्डेयोऽपि—

पुराणानां नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ।

स्नानं कूपतटाकेषु देवतानां समाचरेत् ॥

इति । महात्मनामित्यनेन पतिताद्युदपानेषु न स्नायादित्याह ।

अत एव वृद्धमनुः—

अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः ।

न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥

इति । एवमनुत्सृष्टेष्वपि द्रष्टव्यम् । यदाह व्यासः—

अनुत्सृष्टेषु न स्नायात्तथैवासंस्कृतेष्वपि ।

असंस्कृतमप्रतिष्ठितम् । अनुत्सृष्टमदत्तं परकीयामिति यावत् ।

अत एव जाबालिः—

न पारक्ये सदा स्नायान्न भुञ्जीत महानिशि ।

नार्द्रमेकं च वसनं परिदध्यात्कदा चन ॥

मनुरपि—

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदा चन ।

निपानकर्तुस्स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥

इति । यत्पुनर्व्यासेनोक्तं—

पञ्च पिण्डान्समुद्धृत्य पारक्ये स्नानमाचरेत् ।

इति, तन्नद्याद्यलाभविषयम् । तथा च यमः—

अलाभे देवखातानां सरसां सरितां तथा ।

उद्धृत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेण शौनकोऽपि—

वापीकूपतटाकेषु यदि स्नायात्कदा चन ।

उद्धृत्य मृत्तिकापिण्डान्दश पञ्चाथवा क्षिपेत् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

परकीयानेपानेषु यदि स्नायात्कदा चन ।

सप्त पिण्डान्तदोद्धृत्य ततस्नानं समाचरेत् ॥

इति । अत्र यथासामर्थ्यं व्यवस्था । एवमनुद्धृत्य परकीये यस्स्नाति तस्यैव तदोषभाक्त्वमित्युक्तं भवति । उक्तं च शौनकेन—

अनुद्धृत्य तु यस्स्नायात्परकीयजलाशये ।

वृथा भवति तत्स्नानं कर्तुः^१ पापेन लिप्यते ॥

वृथा निष्फलमित्यर्थः । उत्सृष्टे तु सर्वार्थत्वात्तदभावादनुद्धरणेऽपि^२ न दोष इति भावः । एवमुष्णोदकस्नानेऽपि नैष्फल्यमाह शङ्खः—

स्नातस्य बह्वितप्तेन तथैव परवारिणा ।

शरीरशुद्धिर्विज्ञेया न तु स्नानफलं लभेत् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

वृथा तूष्णोदकस्नानं वृथा जप्यमवैदिकम् ।

वृथा त्वश्रोत्रिये दानं वृथा भुक्तमसाक्षिकम् ॥

^१ कर्ता—ग.

^२ सर्वार्थत्वेन कृतत्वादानुद्धरणेऽपि—सृष्टिर.

यत्तु कैश्चिदुक्तं—

आप एव सदा पूतास्तासां वह्निर्विशोधकः ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु उष्णाम्भः पावनं स्मृतम् ॥

इति, यदपि षट्त्रिंशन्मते—

आपस्स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्वह्निसंयुताः ।

तेन सन्तः प्रशंसन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥

इति, तदातुरस्नानविषयम् । तथा च यमः—

आदित्यकिरणैः पूतं पुनः पूतं तु वह्निना ।

आम्नातमातुरस्नाने प्रशस्तं¹ तु कुशोदकम् ॥

इति । यदा तु नद्यादिजलं न लभ्यते तदाऽनातुरस्याप्युष्णोद-
कस्नानमविरुद्धमित्याह स एव—

नित्यं नैमित्तिकं चैव क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।

तीर्थाभावे तु कर्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः ॥

इति । यत्तु वृद्धमनुनेोक्तं—

मृते जन्मानि सङ्क्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।

अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥

सङ्क्रान्त्यां भानुवारे च सप्तम्यां राहुदर्शने ।

आरोग्यपुत्रमित्रार्थी न स्नायादुष्णवारिणा ॥

स मोहसाकृतं पापं प्राप्नोत्येव न संशयः ।

¹ पवित्रं—ख.

इति, तेनाप्युक्तेषु मरणादिषु तीर्थाभावेऽपि नोष्णोदकैस्स्नाया-
त्किं तु परोदकैरुद्धृतैरित्युक्तमिदं विरोधः । उष्णोदकस्नाने तु
विशेषमाह व्यासः—

शीतास्वप्सु निषिच्योष्णा मन्त्रसम्भारसम्भृताः ।

गेहे वा शस्यते स्नानं तद्धीनमफलं बहिः ॥

इति । सम्भारा मृदादयः । अत एव मध्यन्दिनाधिकारे विव-
स्वान्—

मन्त्रसम्भारसंयुक्तमुपस्पर्शनमुच्यते ।

स्नानेऽवगाहने चैव प्लावनं विधिवर्जितम् ॥

इति । तथाऽल्पोदकेऽपि न स्नायादिसाह शङ्कः—

‘नाल्पोदके स्नायान्न समुद्रोदकेऽवगाहेत’

इति । स्मृत्यन्तरेऽपि—

नातुरो नारुणकरानाक्रान्ते च नभस्स्थले ।

न पराम्भसि नाल्पे च नाशिरस्कः कथं चन ॥

इति । एतत्प्रभूतोदकसम्भवाभिप्रायम् । यदाह योगयाज्ञवल्क्यः—

प्रभूते विद्यमाने तु उदके सुमनोहरे ।

नाल्पोदके द्विजस्नायान्नदीं चोत्सृज्य कृत्विमे ॥

पुराणोऽपि—

नद्यां तु विद्यमानायां न स्नायादन्यवारिषु ।

न स्नायादल्पतोये तु विद्यमाने बहूदके ॥

¹ नदीं चोत्सृज्य कृत्विमे—स्मृतिर.

पुण्योदके सम्भवति नापुण्ये स्नायादित्यर्थः । तत्र पुण्योदकान्याह
मार्कण्डेयः—

भूमिष्ठमुद्धृतात्पुणं ततः प्रस्रवणोदकम् ।

ततोऽपि सारसं पुण्यं तस्मान्नादेयमुच्यते ॥

तीर्थतोयं ततः पुण्यं गाङ्गं पुण्यं तु सर्वतः ॥

तीर्थतोयं साधुपरिगृहीतं¹ जलम् । विष्णुरपि—

‘उद्धृतात्पुण्यं भूमिष्ठमुदकम् । तस्मान्नादेयम् । त-

स्मादपि साधुपरिगृहीतम् । सर्वत एव गाङ्गम्’

इति । विवस्वानपि—

एकतस्सर्वतीर्थानि जाद्व्येकैव चान्यतः ।

ब्रह्मलोकेशशिरसः पतिता या महीतले ॥

मरीचिरपि—

भूमिष्ठमुद्धृतं वाऽपि शीतमुष्णमथापि वा ।

गाङ्गं पयः पुनासाशु पापमामरणान्तिकम् ॥

त्रिभिस्सारस्वतं तोयं पञ्चोहेन तु यामुनम् ।

सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

त्रिरात्रफलदा नद्यः याः काश्चिदसमुद्रगाः ।

समुद्रगास्तु पक्षस्य मासस्य सरितां पतिः ॥

सरितां पतिस्समुद्रः । अत्र व्यासः—

¹ जुष्टं—क. ख.

नद्यामस्तमिते स्नानं वर्जयेत्तु सदा बुधः ।

नद्यां स्नात्वा नदीं चान्यां न प्रशंसेत धर्मवित् ॥

इति । देवलोऽपि—

न नदीषु नदीं ब्रूयात्पर्वतेषु न पर्वतम् ।

नान्यं प्रशंसयेत्तीर्थं^१ तीर्थेष्वायतनेषु च ॥

इति । जलावगाहनं प्रकृत्यापस्तम्बः---

‘साशिरावमज्जनमप्सु वर्जयेत् ,

इति । एतत्स्थावरोदकविषयम् । तथा च पुराणं—

स्रवन्नदीषु तु स्नायात्प्रविश्यान्तस्स्थितो द्विजः ।

तटाकादिषु तोयेषु प्रत्यर्कं स्नानमाचरेत् ॥

इति । अत्र वर्ज्योदकान्याह व्यासः—

नद्या यच्चपरिभ्रष्टं नद्या यच्च त्रिनिस्सृतम् ।

गतप्रत्यागतं यच्च तत्तोयं परिवर्जयेत् ॥

न मेहेन जलद्रोण्यां स्नातुं च न नदीं तरेत् ॥

परिभ्रष्टं विच्छिन्नम् । यन्निस्सृतमीविच्छिन्नं तद्विवर्जयेत् । आ-

वर्तगतं गतप्रत्यागतम् । गर्गोऽपि—

प्रत्यावर्तेऽम्भसि स्नानं नद्यां वर्ज्यं द्विजातिभिः ।

बोधायनोऽपि—

अधोवर्णोदके स्नानं वर्ज्यं नद्यां द्विजातिभिः ।

तस्यां रजकतीर्थे तु दशहस्तेन वर्जयेत् ॥

^१ नान्यं प्रशंसेतत्रस्थः—ग.

स्नानं रजकतीर्थे तु भोजनं गणिकागृहे ।

पश्चिमोत्तरशायित्वं शक्रादपि हरेच्छ्रियम् ॥

गणिका वेश्या । योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

अग्राह्यास्त्वग्रिमा आपो नद्याः प्रथमवेगिकाः ।

प्रक्षोभिताश्च केनापि याश्च तीर्थाद्विनिस्सृताः ॥

अग्रिमा नद्याः । स्मृत्यन्तरे—

अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मण्यश्च प्रसूतिकाः ।

दशरात्रेण शुद्ध्यन्ति भूमिष्ठं च नवोदकम् ॥

कात्यायनोऽपि—

याश्शेषमुपगच्छन्ति ग्रीष्मे कुसरितो भुवि ।

तासु प्रावृषि न स्नायादपूर्णे दशवासरे ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां स्नानार्हजलानि.

नदीरजोदोषनिर्णयः.

अथ नदीरजोदोषनिर्णयः । तत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

यावन्नोदेति भगवान्दक्षिणाशाभिभूषणः ।

तावद्रेतोवहा नद्यो वर्जयित्वा तु जाह्नवीम् ॥

यावन्नोदेत्यगस्त्यस्तावन्नद्यो रेतोवहा रजस्वला इत्यर्थः । उद-

योऽपि तस्योदीच्यदेशे शरद्येव ज्योतिःशास्त्रे दर्शितः । एवं च

वर्षाकाले रजस्वला इत्युक्तं भवति । अत एव कात्यायनः—

सम्प्राप्ते श्रावणे मासे सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।

तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा तु जाह्नवीम् ॥

इति । सम्प्राप्ते श्रावणे मासे यावन्मासद्वयमिति शेषः । अत एव मार्कण्डेयः—

द्विमासं सरितस्सर्वा भवन्ति हि रजस्वलाः ।

अप्रशस्तं ततस्स्नानं वर्षादौ नववारिणि ॥

इति । एतत्समुद्रगनदीव्यतिरिक्तविषयम् । तथा च कात्यायनः—

यव्यद्वयं श्रावणादौ सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।

तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाम् ॥

इति । यव्यो मासः,

‘यव्या मासास्तुमेकस्संवत्सरः’

इति शतपथश्रुतेः । समुद्रगास्वपि कासुचिद्रजोदोषमाह स एव—

प्रावृट्काले महानद्यस्सन्ति सद्योरजस्वलाः ।

तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा तु जाह्नवीम् ॥

इति । महानदीष्वपि जाह्नवीं वर्जयित्वेत्यर्थः । महानद्यो वामनपुराणे दर्शिताः—

गोदावरी भीमरथी कृष्णवेणी सरस्वती ।

तुङ्गभद्रा सुप्रयागा वेणी कावेरिकेति च ॥

दुग्धोदा नलिना रेवा वारा शीता कलस्वना ।

एता अपि महानद्यो सङ्गमूलाद्विनिर्गताः ॥

नृसिंहपुराणेऽपि—

‘गङ्गा यमुना गोदावरी तुङ्गभद्रा कावेरीत्येता
महानद्यः’

इति । स्नानग्रहणं तर्पणादेरपि प्रदर्शनार्थम् । यदाह कात्यायनः—
नभोनभस्त्रयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।

न स्नानादीनि कर्माणि तासु कुर्वीत मानवः ॥

इति । कर्कटकादिमासद्वयं यावत्तावद्रजस्वला इत्यर्थः । यत्तु
कात्यायनेन ‘प्रावृट्काले’ इत्युपक्रम्य ‘वर्जयित्वा तु जाह्नवीम्’
इत्युक्तं न तत्तस्यास्सर्वत्र प्रावृट्काले रजोयोगाभावप्रतिपादन-
परम् । यतस्स एवाह—

प्रवृत्ते^१ श्रावणे मासे त्रयहं गङ्गा रजस्वला ।

चतुर्थेऽहानि सम्प्राप्ते शुद्धा भवति जाह्नवी ॥

इति । एतदपि सौरमाना^२ भिप्रायम् । अन्यथा,

प्रथमं कर्कटे देवि त्रयहं गङ्गा रजस्वला ।

सर्वा रक्ता महानद्यः^३ करतोयाऽम्बुवाहिनी ॥

इति योगयाज्ञवल्क्यवचनविरोधस्स्यात्, श्रावणमासप्रवृत्तेरर्वा-
गेव कर्कटसङ्क्रान्तिनियमात् । करतोया नदी । अत्र यमः—

गङ्गा धर्मोद्भवा पुण्या यमुना च सरस्वती ।

अन्तर्गतरजोयोगास्सर्वाहेष्वपि चामलाः ॥

^१ प्रावृषि—क. ख.

^२ मासा—ख.

^३ सर्वा रक्तवहा नद्यः—स्मृतिर.

प्रतिस्रोतोरजोयोगो रथ्याजलनिषेवणम् ।

गङ्गायां न प्रदुष्यन्ति सा हि धर्मोद्भवा स्वयम् ॥

वामनपुराणेऽपि—

सरस्वती नदी पुण्या तथा वैतरणी नदी ।

आपगा च महापुण्या गङ्गा मन्दाकिनी तथा ॥

मधुस्रवा चांशुनदी कौशिकी पापनाशिनी ।

दृषद्वती महापुण्या तथा हैरण्वती नदी ॥

वर्षाकालवहास्सर्वा वर्जयित्वा सरस्वतीम् ।

एतासामुदकं पुण्यं वर्षाकाले प्रवर्षितम् ॥

रजस्वलात्वमेतासां विद्यते न कदा चन ।

कात्यायनोऽपि—

तपनस्य सुता गङ्गा गोमती च सरिद्ररा ।

रजसा न प्रदुष्यन्ति ये चान्ये पुन्रदा¹ स्मृताः ॥

तपनस्य सुता यमुना । मार्कण्डेयोऽपि—

आदित्यदुहिता गङ्गा प्लक्षजाता सरस्वती ।

रजसा नाभिभूयन्ते ये चान्ये नदसंज्ञिकाः ॥

इति । कुरुक्षेत्रे या सरस्वती सा प्लक्षजाता । तथा गोमसादिष्व-
पि कर्कटादौ त्रिरात्रमाह कात्यायनः—

कर्कटादौ रजोदुष्टा गोमती वासरत्रयम् ।

चन्द्रभागा सती सिन्धु² स्सरयूर्नर्मदा तथा ॥

¹ पुण्यदा—क. ख.

² गङ्गा—स्मृतिर.

इति । एवमुक्तं रजोदोषस्य कचिदपवादमाह स एव—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रातस्नाने तथैव च ।

चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजोदोषो न विद्यते ॥

स्वर्धुन्यम्भस्समानि स्युस्सर्वाण्यम्भांसि भूतले ।

कूपस्थान्यपि सोमार्कग्रहणे नात्र संशयः ॥

इति । अतः कथं रजोदोष इति भावः । स्वर्धुनी गङ्गा । इति स्मृतिचन्द्रिकायां नदीरजोदोषनिर्णयः

तीर्थस्नानमन्त्राः.

अथ प्रसङ्गात्तीर्थस्नानमन्त्राः प्रदर्शयन्ते—

विष्णुपादाब्जसम्भूते गङ्गे त्रिपथगामिनि ।

धर्मप्रदेति विख्याते पापं मे हर जाह्नुवि ॥

श्रद्धया धर्मसम्पन्ने श्रीमातर्देवि जाह्नुवि ।

अमृतेनाम्बुना देवि भागीरथि पुनीहि माम् ॥

इति गङ्गास्नानमन्त्रः ॥

करतोये सदानीरे सरिच्छ्रेष्ठेति विश्रुते ।

आप्लावयन्ति पौत्राणां¹ पापं मे हर करोद्भवे ॥

इति करतोयास्नानमन्त्रः ॥

गाधिराजसुते देवि विश्वामित्रमुनेस्सुते ।

ऋचीकार्ये सत्यायें पापं मे हर कौशिकि ॥

इति कौशिकीस्नानमन्त्रः ।

सहपादोद्भवे देवि श्रीशैलोत्सङ्गगामिनि ।
 कृष्णवेणीति विख्याते सर्वपापप्रणाशिनि ॥
 सहपादोद्भवा देवी कृष्णवेणीति विश्रुता ।
 सर्वपापविशुद्ध्यर्थं स्नास्ये देवि तवाभ्यसि ॥
 प्रसीद मे देवि सदा रसेन
 देवेश^१ सृष्टा जगतां त्रिमुक्तैश्च ।
 स्नानेन यस्यामवधूतपापः
 प्राप्नोति विष्णोः पदमेव मर्त्यः ॥
 ब्रह्मासृतानन्दरसेन पूर्णा
 जलेन पूर्णामिव^२ मेनिरे जनाः ।
 तां त्वाऽवगाहामि पिबामि कृष्णे
 देवानृषींस्तर्पयिष्ये पितॄंश्च ॥

इति कृष्णवेणीस्नानमन्त्रः ।

भीमसेन^३ समुद्रूते रथनेमिविनिस्सृते ।
 सर्वपापप्रणाशार्थं स्नास्ये देवि तवाभ्यसि ॥

इति भीमरथीस्नानमन्त्रः ।

नमोऽस्तु ते पुण्यजले नमस्सागरगामिनि ।
 नर्मदे पापनिर्मोचे नमो देवि वरानने ॥

^१ मेध्येन—ख.

^२ मिति—ग.

^३ भीमस्वेद—ग.

नमोऽस्तु ते मुनिगणसिद्धसेविते
 नमोऽस्तु ते शङ्करदेहनिस्सृते ।
 नमोऽस्तु ते धर्मभृतां वरप्रदे
 नमोऽस्तु ते सर्वपवित्रपावनि ॥

इति नर्मदास्नानमन्त्रः ।

त्वं देवि सरितां नाथे त्वं देवि सरितां वरे ।
 उभयोस्सङ्गमे स्नात्वा मुञ्चामि दुरितानि वै ॥

इति गङ्गासागरसङ्गमस्नानमन्त्रः ।

ब्रह्मपुत्र महभाग शन्तनोः कुलवर्धन ।
 अमोघगर्भसम्भूत पापं लौहित्य मे हर ॥

इति लौहित्यस्नानमन्त्रः ।

अग्निस्तु ते योनिरिडा च देहो
 रेतोऽपि विष्णो^१ रमृतस्य नाभिः ।
 एतद्भुवन्पाण्डव सत्यवाक्यं
 ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥

इति सागरस्नानमन्त्रः ।

आजन्मशतसाहस्रे यत्पापं कुरुते कश्चित् ।
 मुच्यते सर्वपापेभ्यस्स्नात्वैव लवणाम्भसि ॥
 अश्वत्थसागरश्चैव^२ न स्पृष्टव्यौ कदा चन ।
 अश्वत्थं मन्दवारे तु सागरं पर्वणि स्पृशेत् ॥

^१ विष्णु—ग.

^२ अश्वत्थसागरौ चैव—क.

अन्यदा तु कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपां पतिः ।

कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्पृष्टव्यो महोदधिः ॥

इति । अत्रोदकान्तरेणैवाचमनं कार्यं, न समुद्रोदकेन,

‘अक्षाराभिरनुष्णाभिराचामेत्’

इति स्मरणात् । न च येन स्नानं तेनैवाचमनमित्यपि नियमोऽ-
स्ति । उक्तं च तैत्तिरीयकश्रुतौ—

‘तस्मात्समुद्रस्य न पिवन्ति’

इति । तर्पणादिकं तु तेनैव कार्यं, निषेधाभावात् । एवमुष्णोदक-
कुण्डस्नानेऽपि द्रष्टव्यम् । अत्र तीर्थप्रसङ्गात्पैठिनसिः—

षोडशांशं स लभते यः परार्थेन गच्छति ।

अर्धतीर्थफलं तस्य यः प्रसङ्गेन गच्छति ॥

शङ्खोऽपि—

तीर्थं प्राप्यानुषङ्गेन यस्तत्र स्नानमाचरेत् ।

स्नानजं फलमाप्नोति तीर्थयात्राश्रितं न तु ॥

नृणां पापकृतां तीर्थे पापप्रशमनं भवेत् ।

यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छुद्धा^१त्मनां नृणाम् ॥

व्यासोऽपि—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।

विद्या तपश्च^२ कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥

वृद्धवसिष्ठोऽपि^३—

^१ च्छुद्धा—क.

^२ वित्तं च यस्य—क.

^३ वसिष्ठोऽपि—ग.

पितरं मातरं वाऽपि भ्रातरं सुहृदं गुरुम् ।

मज्जयेत्तु यमुद्दिश्य द्वादशांशं^१ लभेत सः ॥

पैठीनसिरपि—

यः प्रकृतिं कुशमयीं तीर्थवारिणि मज्जयेत् ।

मज्जयेत्तु यमुद्दिश्य ह्यष्टभागं लभेत सः ॥

अत्रायं मन्त्रः—

कुशोऽसि त्वं पवित्रोऽसि ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ।

त्वयि स्नाते तु स स्नातो यस्यैतद्ब्रन्थिवन्धनम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां तीर्थस्नानमन्त्राः.

गौणस्नानानि.

अथ गौणस्नानानि । तत्र गर्गः—

दिव्यं वायव्यमाग्नेयं ब्राह्मं सारस्वतं तथा ।

मानसं चेति विज्ञेयं गौणस्नानं तु षड्विधम् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

मान्त्रं भौमं तथाऽऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।

वारुणं मानसं चैव सप्त स्नानान्यनुक्रमात् ॥

इति । एतेषां लक्षणमाह स एव—

आपो हिष्ठादिभिर्मान्त्रं मृदालम्भश्च^२ पार्थिवम् ।

आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजस्मृतम् ॥

^१ अष्टभागं—ख.

^२ मृजलं चैव —क.

यत्तु सातपवर्षेण तत्स्नानं दिव्यमुच्यते ।
 वारुणं चावगाहस्तु मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥
 मानसं प्रवरं स्नानं केचिदिच्छन्ति ¹ सूरयः ।
 अत्मतीर्थप्रशंसायां व्यासेन पठितं यतः ॥

अत्र विशेषः कूर्मपुराणे दर्शितः—

आग्नेयं भस्मनाऽऽपादमस्तकाद्देहधूलनम् ।

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

शंन आपस्तु द्रुपदा आपोहिष्ठाघमर्षणम् ।
 एतैस्तु पञ्चभिर्मन्त्रैर्मन्त्रस्नानमुदाहृतम् ॥

बृहस्पतिरापि—

वायव्यं गोरजः प्रोक्तमस्तं गच्छति गोपतौ ।
 विद्वत्सरस्वतीप्राप्तं स्नानं सारस्वतं स्मृतम् ॥

गोपतौ सूर्ये । विदुषां सरस्वती वाणी तथा प्राप्तं सारस्वतमित्य-
 र्थः । तत्स्वरूपमाह व्यासः—

स्वयमेवोपपन्नाय विनयेन द्विजातये ।
 तज्ज्वस्सम्पादयेत्स्नानं शिष्याय च सुताय ² च ॥
 दाक्षायणमयैः कुम्भैर्मन्त्रवज्जाह्नवीजलैः ।
 कृतमङ्गलपुण्याहैस्नानमस्तु तदर्थिनाम् ॥
 आदौ तावत्प्रभासे बहुगुणसलिले मध्यमे पुष्करे वा
 गङ्गाद्वारे प्रयागे कनखलसहिते भद्रकर्णे गयायाम् ।

¹ सुर्वे शंसन्ति — स्मृतिर.

² नताय—क.

राहुग्रस्ते तु सोमे दिनकरसहिते सन्निपत्या ¹ विशेषात्
एतैर्व्याख्याततीर्थैस्त्रिभुवनविदितैस्स्नानमच्छिद्रमस्तु ॥

प्राप्य सारस्वतं स्नानं भवेन्मुदितमानसः ।

सर्वतीर्थाभिषेकाद्धि पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥

इति । एतानि गौणस्नानान्यशक्तावेव कारयेत् । तदुक्तं
कूर्मपुराणे—

अप्रायसे समुत्पन्ने स्नानमेव समाचरेत् ।

ब्राह्मादीन्ययथा ² शक्तौ स्नानान्याहुर्मनीषिणः ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

कालदोषादसामर्थ्यान्न शक्नोति यदा ह्यसौ ।

तदा ज्ञात्वा ऋषिभ्यस्तु मन्त्रैर्दृष्टं तु मार्जनम् ॥

जाबालिरपि—

अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् ।

आर्द्रेण वाससा वाऽपि मार्जनं दैविकं ³ विदुः ॥

इति । एतत्कापिलं स्नानम् । तदाह बृहस्पतिः—

आर्द्रेण कर्पटेनाङ्गशोधनं कापिलं स्मृतम् ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां गौणस्नानानि.

सन्ध्याप्रशंसा.

अथ सन्ध्याप्रशंसा । तत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

¹ सन्निहयां—ग; सत्यपत्यानि शेषात्—वैद्य. ² ब्राह्मादीन्यन्यथा—स्मृतिर.

³ दैहिकं—ग; चाङ्गमार्जनं कापिलं विदुः—वैद्य.

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासननिर्णयम् ।
 अहोरात्रकृतैः पापैर्यामुपास्य प्रमुच्यते ॥
 सर्वावस्थोऽपि यो विप्रस्सन्ध्योपासनतत्परः ।
 ब्राह्मण्याच्च न हीयेत अन्यजन्मगतोऽपि सः ॥
 यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां तु विकर्मस्था द्विजातयः ।
 तेषां हि पावनार्थाय सृष्टा सन्ध्या स्वयम्भुवा ॥
 त्रिंशत्कोट्यस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसाः ।
 प्रद्रवन्ति ^१ सहस्रांशुमुदयन्तं दिनेदिने ॥
 अहन्यहनि ते सर्वे सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ।
 अतस्सूर्यस्य तेषां च युद्धमासीत्सुदारुणम् ॥
 ततो देवगणास्सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ।
 सन्ध्यां तु समुपासीना यत् क्षिपन्त्यन्वहं ^२ जलम् ॥
 ब्रह्मव्याहृतिसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
 दहन्ते तेन ते दैत्या वज्रीभूतेन वारिणा ॥
 एतद्विदित्वा यस्सन्ध्यामुपास्ते संशितव्रतः ^३ ।
 दीर्घमायुस्स विन्देत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
 यस्तु तां केवलां सन्ध्यामुपासीत स पुण्यभाक् ।
 तां परित्यज्य कर्माणि कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
 ब्रह्मणोपासिता सन्ध्या विष्णुना शङ्करेण च ।
 कस्तां नोपासयेद्देवीं सिद्धिकामो द्विजोत्तमः ॥

^१ प्राविशन्ति— क. ख. ^२ क्षिपन्ति जले जलम्—क. ^३ संशितव्रतः—वैद्य.

कश्यपोऽपि—

ब्रह्मणो हृदयं विष्णुर्विष्णोरपि शिवस्मृतः ।

शिवस्य हृदयं सन्ध्या तेनोपास्या द्विजोत्तमैः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां सन्ध्याप्रशंसा.

सन्ध्याशब्दार्थनिर्णयः.

अथ सन्ध्याशब्दार्थनिर्णयः । तत्र दक्षः—

अहोरात्रस्य यस्सन्धिस्सूर्यनक्षत्रवर्जितः ।

सा तु सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इति । सा सन्ध्या उपास्येति शेषः । अत एव योगयाज्ञ-
वल्क्यः—

सन्धौ सन्ध्यामुपासीत नास्तगे नोद्धते^१ रवौ ।

छन्दोगश्रुतिरपि—

“ब्रह्मवादिनो वदन्ति—कस्माद्ब्राह्मणोऽहोरात्र-
संयोगे सन्ध्यामुपास्ते? कस्माद्ब्राह्मणस्सायमासी-
नस्सन्ध्यामुपास्ते? कस्मात्प्रातस्तिष्ठन्? का च
सन्ध्या? कश्च सन्ध्याकालः? किं च सन्ध्या-
यास्सन्ध्यात्वम्? देवाश्चासुराश्चास्पर्धन्त । ते
असुरा आदित्यमभिद्रवन् । स आदित्योऽविभेत् ।

^१ नोदिते—ग.

तस्य हृदयं कूर्मरूपेणा¹ तिष्ठत्स प्रजापतिमुपाधाव-
त्तस्य प्रजापतिरेतद्वेषजमपश्यत् । ऋतं च सत्यं
च ब्रह्म चोङ्कारं च त्रिपदां गायत्रीं ब्रह्मणो मुख-
मपश्यत् । तस्माद्ब्रह्मणोऽहोरात्रसंयोगे सन्ध्यामुपा-
स्ते । सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनात्सोऽस्य सन्ध्या-
कालः । सा सन्ध्या । तत्सन्ध्यायास्सन्ध्यात्वम् ।
यत्सायमासीनस्सन्ध्यामुपास्ते तथा वीरस्थानं
जयति । यत्प्रातस्तिष्ठन् तथा स्वर्गलोकं जयति ।
अथ यदपः प्रयुङ्क्ते ता विप्रुषो वज्रीभूत्वा अमुरा-
नपाग्नन्ति² । ”

इति । अनेनापि या उपास्या सा सन्ध्या इत्युक्तं भवति ।
'सज्योतिषि' ससूर्ये काले प्रारभ्य 'आ ज्योतिषो दर्शनात्' आ
नक्षत्रदर्शनात् उपासीतेत्यर्थः । तथा च नारसिंहपुराणं—

उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सादित्यां वै यथाविधि ।

गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदक्षाणि पश्यति ॥

पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि ।

गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदादिसदर्शनम् ॥

¹ रूपेणाति—वैद्य.

² ततो देवा अभवन्पराऽमुगः । भवत्यात्मना

पराऽस्य भ्रातृभ्यो भवति । य एवं वेद । यत्सायमासीनस्सन्ध्या-
मुपास्ते तथा वीरस्थानं स्थानं च सन्ततमविच्छिन्नं भवति । य
एवं वेदेति—इति ख. पुस्तकेऽधिकः पाठः—

सनक्षत्रामित्यनेनानियमे प्राप्ते नियमार्थमाह दक्षः—

रात्रचन्तयामनाही द्वे सन्ध्यायाः काल उच्यते ।

दर्शनाद्रविरेखायास्तदन्तो मुनिभिस्स्मृतः ॥

रविरेखाया दर्शनादुपलक्षितः कालस्सन्ध्यान्त इत्यर्थः । सा च सन्ध्या योगयाज्ञवल्क्येन दर्शिता—

पूर्वा सन्ध्या तु गायत्री सावित्री मध्यमा स्मृता ।

या भवेत्पश्चिमा सन्ध्या सा विज्ञेया सरस्वती ॥

व्यासोऽपि—

गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने ।

सरस्वती च सायाह्णे सैव सन्ध्या त्रिषु स्मृता ॥

प्रतिग्रहादन्नदोषात्पातकादुपपातकात् ।

गायत्री प्रोच्यते तस्माद्वायन्तं त्रायते यतः ॥

सवितृद्योतनाच्चैव सावित्री परिकीर्तिता ।

जगतः प्रसवित्री या वाभूषत्वात्सरस्वती ॥

उपास्ते सन्धिवेलायां निशाया दिवसस्य च ।

तामेव सन्ध्यां तस्माच्च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

इति । अत्र स्वाधिष्ठित^१ मन्त्रद्वारा तत्प्रतिपाद्यस्यापि सावित्रीत्व-
मविरुद्धमिति भावः । अतो गायत्र्यादिनामत्रयप्रतिपाद्यस्सावि-
तैव सन्ध्येत्यनुसन्धयेम् । उक्तं च स्मृत्यन्तरे—

^१ सन्ध्यादिः—ग.

^२ स्वाधीन — क.

प्रातःकाले तु गायत्री सायंकाले सरस्वती ।
 मध्यन्दिने च सावित्री उपास्या नामभेदतः ॥
 गायत्रीह भवेद्रक्ता सावित्री शुक्लवर्णिका ।
 सरस्वती तथा कृष्णा उपास्या वर्णभेदतः ॥
 गायत्री ब्रह्मरूपा तु सावित्री रुद्ररूपिणी ।
 सरस्वती विष्णुरूपा उपास्या रूपभेदतः ॥
 उदये ब्रह्मरूपं तु मध्याह्ने तु महेश्वरम् ।
 सायाह्ने विष्णुरूपं तु त्रिरूपं वै दिवाकरम् ॥
 उपासने तु सन्ध्यायां निशाया दिवसस्य च ।
 तामेव सन्ध्यां तस्माच्च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

इति । उपासनं चात्र ध्यानं,

‘वाचं ब्रह्मेत्युपासीत । मनो ब्रह्मेत्युपासीत’

इत्यादिषु तथा दर्शनात् । तैत्तिरीयश्रुतिरपि—

‘उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिधायन्कुर्वन्ब्राह्मणो
 विद्वांसकलं भद्रमश्नुतेऽसावादिसो ब्रह्मेति ब्रह्मैव
 सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद’

इति । उक्तगायत्र्यादिनामत्रयोपेतं वर्णत्रयान्वितं रूपत्रयात्मकं
 सन्ध्याशब्दाभिलक्ष्य ‘मादित्यं ब्रह्मेति कालत्रयेऽपि यथा क्रमेण
 ध्यायन् ब्रह्माप्येति प्राप्नोतीत्यर्थः । अत एव व्यःसः—

नाभिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह ।

सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित् ॥

कूर्मपुराणेऽपि—

प्राक्कूलेषु ततस्स्थित्वा दर्भेषु सुसमाहितः ।

प्राणायामत्रयं कृत्वा ध्यायेत्सन्ध्यामिति श्रुतिः ॥

या सन्ध्या सा जगत्सूतिर्मायातीता हि निष्कला ।

ईश्वरी केवला शक्तिस्तत्त्वत्रयसमन्विता ¹ ॥

ध्यात्वाऽर्कमण्डलगतां सावित्रीं वै जपेद्बुधः ।

अत्र ध्यानदेशोऽपि स्मृत्यन्तरे दर्शितः—

गायत्रीं चिन्तयेद्यस्तु हृत्पत्रे समुपस्थिताम् ।

धर्माधर्मविनिर्मुक्तस्त याति परमां गतिम् ॥

इति । एवं च सन्ध्यामुपासीतेत्यनेन सन्ध्यामुक्तरूपामर्कमण्डला-
न्तर्गतामादिसाख्यां ब्रह्मात्मिकां देवतां हृदि सोऽहमस्मीत्युपा-
सीत ध्यायेदित्युक्तं भवति । तेनात्रोपासनमेव प्रधानमन्यत्सर्वं
मार्जनादिकमङ्गमिषनुसन्धेयम् । अत एव युधिष्ठिरादिभिर्युद्धो-
द्यतैस्साङ्गानुष्ठानासमर्थैस्सकलाङ्गपरित्यागेनादित्योपासनमात्रम-
नुष्ठितम् । तदुक्तं व्यासेन—

ते तथैव महाराज दंशिता रणमूर्धनि ।

सन्ध्यागतं सहस्रांशुमादिसमुपतस्थिरे ॥

इति । दंशितास्सन्नद्धाः । सन्धिमागतं सन्ध्यागतमस्तंगतमिति यावत् । एवं च यदुक्तं योगयाज्ञवल्क्येन—

ओङ्कारो व्याहृतीस्सप्त^१ गायत्री शिरसा सह ।

आपो हिष्टेत्यृचस्तिस्त्रो^२ द्रुपदा चाघमर्षणम् ॥

उदुसं चित्रं तच्चक्षुस्तेजोऽसीति यथाक्रमम् ।

गायत्र्याश्च तुरीयं तु सन्ध्यामेतैस्समाचरेत् ॥

इति, तत्राप्येतैर्मन्त्रैरात्मशुद्धिद्वारा सन्ध्यां समाचरेदुपासीतेति सन्ध्याशब्दस्य देवतापरत्वादविरोध इति । इति स्मृतिचन्द्रिका यां सन्ध्याशब्दार्थनिर्णयः ।

प्रातस्सन्ध्या

अथ प्रातस्सन्ध्या । तत्र दक्षः—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय कृतशौचविधिर्द्विजः ।

प्रातस्सन्ध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥

इति । शौचग्रहणं स्नानस्यापि प्रदर्शनार्थं, अन्यथा सन्ध्याघनधिकारात् । तदाह स एव—

अस्नात्वा नाचरे^३त्कर्म जपहोमादि किं चन ।

लालास्वेदसमाकीर्णश्शयनादुत्थितः पुमान् ॥

कूर्मपुराणेऽपि—

न च स्नानं विना पुंसां प्राशस्त्यं कर्मसु स्मृतम् ।

होमे जप्ये विशेषेण तस्मात् स्नानं समाचरेत् ॥

इति ।

^१ व्याहृतिस्सप्त—ग. ^२ त्यृचं तिस्रः—स्मृतिर. ^३ क्त्वा समाचरे—क. ख.

सन्ध्याप्रयोगः.

अत्रायं सन्ध्याप्रयोगः—कृतस्नानस्त्वाचान्तो यथाविधि प्राणानायम्य प्रातस्सन्ध्यामुपासिष्ये इति सङ्कल्प्य 'आपो हिष्ठा मयोभुवः' इति तृचेन मार्जयेत् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

प्राणानायम्य सम्प्रोक्ष्य तृचेनाव्दैवतेन तु ।

इति । अत्र व्यासः—

सिन्धुद्वीप ऋषिश्छन्दो गायत्र्यापो हि देवताः¹ ।

मार्जने विनियोगश्च अब्दैवत्ये प्रकीर्तितः² ॥

आवश्यकं चैतदार्पादिज्ञानमन्यथा दोषश्रवणात् । तदाह स एव—
अविदित्वा मुनिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।

योऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयान् जायते तु सः ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

ब्राह्मणं विनियोगं च छन्द आर्षं च दैवतम् ।

आज्ञाता पञ्च यो मन्त्रे न स तत्फलमश्नुते ॥

इति । मार्जने तु विशेषमाह ब्रह्मा—

ऋगन्ते मार्जनं कुर्यात्पादान्ते वा समाहितः ।

तृचस्यान्तेऽथ वा कुर्याच्छिष्टानां मतमीदृशम् ॥

इति । योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

आपो हिष्ठेति तिसृभिः ऋग्भिस्तम्प्रयतश्शुचिः ।

नवप्रणवयुक्ताभिर्जलं शिरसि निक्षिपेत् ॥

¹ त्र्यापो मुखादिभिः—वैय.

² सूर्यश्चेति जलं पिबेत्—स्मृतिर.

इति । अत्र फलविशेषमाह शौनकः—

नवप्रणवयुक्तेन आपोहिष्ठातृचेन च ।

संवत्सरकृतं पापं मार्जनान्ते विनश्यति ॥

व्यासोऽपि—

आपोहिष्ठातृचे कुर्यान्मार्जनं तु कुशोदकैः ।

प्रणवेन तु संयुक्तं क्षिपेद्भारि पदे पदे ॥

विप्रुषोऽष्टौ क्षिपेद्दूर्ध्वमधो यस्य क्षयाय जित् ।

रजस्तमोमोहजातान् जाग्रत्स्वप्नमुषुप्तिजान् ।

वाङ्मनःकर्मजान्दोषान्नवैतान्नवभिर्दहेत् ॥

इति । अत्र प्रतिपादं मार्जने कर्तव्ये नव विप्रुषो भवन्ति । तत्र

‘यस्य क्षयाय जित्वथ’ इत्यनेन विप्रुषमधो विक्षिपेदित्यर्थः ।

अत्र हारीतः—

‘मार्जनार्चनवलिकर्मभोजनानि दैवेन तीर्थेन कुर्यात्’

इति । दैवमङ्गुल्यग्रम् । तच्च मार्जनं धाराच्युतेन न कार्यम् ।

तथा च ब्रह्मा—

धाराच्युतेन तोयेन सन्ध्योप!स्तिर्विगर्हिता ।

पितरो न प्रशंसन्ति न प्रशंसन्ति देवताः ॥

इति । अत्र हेतुमाह स एव—

मन्त्रपूतं जलं यस्मादापोहिष्ठाभिमन्त्रितम् ।

पतत्यथुचिदेशे तु तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

इति । कथं तर्हि मार्जनामिसपेक्षिते स एवाह—

नद्यास्तीर्थे हृदे वाऽपि भाजने मृण्मयेऽपि वा ।

औदुम्बरेऽथ सौवर्णे राजते दारुसम्भवे ॥

कृत्वा तु वामहस्ते वा सन्ध्योपास्तिं समाचरेत् ।

इति । औदुम्बरे ताम्रमये कृत्वोदकमिति शेषः । एवं च यदुक्तं—

वामहस्ते जलं कृत्वा ये तु सन्ध्यामुपासते ।

सा सन्ध्या वृषली ज्ञेया असुरास्तेस्तु तर्पिताः ॥

इति, तन्मृण्मयादिपात्रसद्भावविषयमिसनुसन्धेयम् । एवमुक्तेन विधिना मार्जयित्वा 'सूर्यश्च' इत्यपः पिबेत् । तदाह बोधायनः—

अथातस्सन्ध्योपासनविधिं व्याख्यास्यामः तीर्थं

गत्वा प्रयतोऽभिषिक्तः प्रक्षालितपाणिपादोऽप

आचम्य 'अग्निश्च मा मन्युश्च' इति सायमपः पीत्वा

'सूर्यश्च मा मन्युश्च' इति प्रातस्सपवित्रेण पाणिना

सुरभिमत्या ऽ बिलङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः

पावमानीभिर्व्याहृतिभिर्गन्धैश्च पवित्रैरात्मानं प्रोक्ष्य

प्रयतो भवति.

इति । 'अग्निश्च', 'सूर्यश्च' इति यजुर्वेदपठितौ मन्त्रौ । सूर्यश्चेत्यस्य मन्त्रस्य प्रकृतिश्छन्दः, अग्निऋषिः, सूर्यमन्युमन्युपतिरात्रयो देवताः, प्रातस्सन्ध्याचमने विनियोगः । सुरभिमती 'दधिक्राव्णः' इति । तस्या वामदेव ऋषिः, अनुष्टुप्छन्दः, दधिक्रावा

देवता, मार्जने विनियोगः । अबिलङ्गाभिरापोहिष्ठादिभिः ।
 'हिरण्यवर्णाभिः'—'हिरण्यवर्णाः', 'यासां राजा', 'यासां
 देवाः', 'ऋषेण मा', इति चतसृभिः । तासां त्रिष्टुब्धन्दः,
 अग्निः ऋषिः, आपो देवता, मार्जने विनियोगः । छन्दोगानां
 तु आचमनमन्त्रौ गौतमेनोक्तौ—'अहश्च माऽऽदित्यश्च पुनातु'
 इति प्रातः, 'रात्रिश्च मा वरुणः पुनातु' इति सायमिति । इमे
 यजुषी प्रजापातिरपश्यत् । लिङ्गोक्ते देवते । सन्ध्याचमने तु
 विशेषमाह विष्णुः—

जानुभ्यामुपरिष्ठात् शुष्कवासास्थितो जले ।

सान्ध्यमाचमनं कुर्वन् शुचिस्त्यादशुचिस्मृतः ॥

सन्ध्याचमनानन्तरं नारायणः—

स्पृष्टा चाभिष्टुता¹ तोयं मूर्ध्नि ब्रह्ममुखेन तु ।

आपो हिष्ठेति सूक्तेन दर्भैर्मार्जनमाचरेत् ॥

इति । अभिष्टुदोङ्कारः । ब्रह्ममुखमपि मनुनोक्तं—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥

इति । तेन तोयं स्पृष्टा तेन तोयेन आपो हिष्ठेति सूक्तेन दर्भैर्मार्-
 जनमाचरेदित्यर्थः । तच्च सूक्तं नवर्चम् । तत्र भृगुः—

आपोहिष्ठा नवस्वृक्षु सिन्धुद्वीप ऋषिस्मृतः ।

अब्देवत्यास्तु सप्तर्चो गायत्र्यो द्वे अनुष्टुभौ ॥

¹ साभिष्टुता—क. ख.

मार्जनं प्रकृत्य कात्यायनोपि—

शिरसो मार्जनं कुर्यात्कुशैस्सोदकविन्दुभिः ।

प्रणवो भूर्भुवस्स्वश्च गायत्री च तृतीयिका ॥

अब्दैवतं तृचं चैव चतुर्थमिति मार्जनम् ।

मार्जनानन्तरं ब्रह्मा—

जलपूर्णं तथा हस्तं नासिकाग्रे समर्पयेत् ।

ऋतं चेति पठित्वा तु तज्जलं तु क्षितौ क्षिपेत् ॥

यमोऽपि—

गृहीत्वा पाणिना वारि स्वशाखोक्तामृचं जपेत् ।

बिभृयान्नासिकाग्रे तु निरुद्धप्राणमारुतः ॥

य एवं द्रुपदां नित्यं त्रिरहः प्रयतो जपेत् ।

न पर्युषन्ति पापानि तस्य देहे द्विजन्मनः ।

इति । ततस्मूर्यार्घ्यं निवेदयेत् । तथा च व्यासः—

कराभ्यां तोयमादाय गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।

आदिसाभिमुखस्तिष्ठंस्त्रिरूर्ध्वमथ चोत्क्षिपते ॥

अत्र विशेषमाह हारीतः—

‘सावित्र्याऽभिमन्त्रितमुदकं पुष्पमिश्रम्’¹

अञ्जलिना क्षिपेदिति शेषः । नारायणस्त्वर्घ्यदाने मन्त्रान्तरमाह—

कराभ्यामञ्जलिं कृत्वा जलपूर्णं समाहितः ।

उदुत्यामिति मन्त्रेण तत्तोयं च क्षिपेद्भुवि ॥

¹ मिश्रितम्—क.

ततः प्रदक्षिणमावृत्योदकं स्पृशेत् । तदुक्तं वामनपुराणे—
 सायं मन्त्रवदाचम्य प्रोक्ष्य सूर्यस्य चाञ्चलिम् ।
 दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा जलं स्पृष्ट्वा विशुद्ध्यति ॥
 श्रुतिरपि—

‘यत्प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति तेन पाप्मानमवधून्वन्ति’
 इति ।
 उत्थायार्कं प्रतिप्रास्य^१ त्रिकेनाञ्जलिनाऽम्भसः^२ ।
 उच्चित्रमृगद्वयेनैव^३ मुपतिष्ठेदनन्तरम् ॥
 सन्ध्याद्वयेऽप्युपस्थानमेतदाहुर्मनीषिणः ।
 प्रणवो व्याहृतयस्तिस्त्रस्सावित्री चेति तु त्रिकम् ॥
 स्मृत्यन्तरेऽपि—

उदुत्थं चित्रं तच्चक्षुरुपस्थाय त्रिभिस्सदा ।
 सन्ध्ययोरुभयोस्मूर्यं गायत्रीजपमाचरेत्^४ ॥
 इति । एतेषां गायत्री त्रिष्टुबुष्णिगिति^५ क्रमेण छन्दांसि ; प्रस्क-
 ण्वकुत्सवसिष्ठाः क्रमेण ऋषयः ; सूर्यो देवता ; सूर्योपस्थाने विनि-
 योगः । ततः कृतप्राणायामस्सन्ध्यां ध्यात्वा गायत्रीजपानन्तर-
 मादित्यमुपतिष्ठेत् । तदुक्तं कूर्मपुराणे—

आचम्य मन्त्रवन्नित्यं पुनराचम्य वाग्यतः ।
 सम्मार्ज्यं मन्त्रैरात्मानं कुशैस्सोदकविन्दुभिः ॥

^१ प्रतिप्रोहेत्—क.

^२ त्रिकमञ्जलिमम्भसः—वैद्य.

^३ (उदुत्थं) उच्चित्रमित्यनेनैव—वैद्य.

^४ मारभेत्—ग.

^५ त्रिष्टुबनुष्टुबुष्णिगिति—ग.

आपोहिष्ठाव्याहृतिभिस्सावित्र्या वारुणैश्शुभैः ।
 ओङ्कारव्याहृतियुतां गायत्रीं वेदमातरम् ॥
 जप्त्वा जलाञ्जलिं दद्याद्भास्करं प्रति तन्मनाः ।
 प्राकूलेषु ततस्स्थित्वा दर्भेषु सुसमाहितः ॥
 प्राणायामत्रयं कृत्वा ध्यायेत्सन्ध्यामिति श्रुतिः ।¹
 या सन्ध्या सा जगत्सूतिर्मायातीता हि निर्मला² ॥
 ईश्वरी केवला शक्तिस्तत्त्वत्रयसमुद्भवा ।
 ध्यात्वाऽर्कमण्डलगतां सावित्रीं वै जपेद्बुधः ॥
 सहस्रपरमां नित्यं शतमध्यां दशावराम् ।
 सावित्रीं वै जपेद्विद्वान् प्राञ्जुषः प्रयतस्स्थितः ॥
 अथोपतिष्ठेदादित्यमुदयन्तं समाहितः ।
 मन्त्रैस्तु विविधैः³ स्सौरैः ऋग्यजुस्सामसम्भवैः ॥

इति स्वशाखाधीतमन्त्राभिप्रायं,

उपस्थानं स्वकैर्मन्त्रैरादित्यस्य तु कारयेत् ।

इति वसिष्ठस्मरणात् । अतो यजुश्शाविनां 'मित्रस्य', 'मित्रो
 जनान्', 'प्रसमित्र'. इति त्रिभिरुपस्थानम् । तासां प्रथमा
 गायत्री, उत्तरे त्रिष्टुभौ, विश्वेदेवा ऋषयः, मित्रो देवता, सूर्यो-
 पस्थाने विनियोगः । एवमन्येषामपि द्रष्टव्यम् । बोधायनस्तु
 जपान्तेऽहरहरूपस्थानमाह—

¹ स्मृतिः—क.

² निष्कला—ख.

³ मन्त्रैर्नानाविधैः—क.

‘एवमेवातः प्रञ्जस्वस्तिष्ठन् मैत्रीभ्यामहरुपातिष्ठते मित्र-
स्य चर्षणीधृतः, मित्रो जनान्यातयतीति द्वाभ्याम्’

इति । अत्र पुराणम्—

आत्मपादौ तथा भूमिं सन्ध्याकालेऽभिवादयेत् ।
आर्युर्विद्यां तथाऽऽरोग्यं प्राप्नोति पुरुषस्सदा ॥

इति । एवं कुर्वतः फलमाह यमः—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥

अत्रिरपि —

यस्तु सन्ध्यामुपासीत श्रद्धया विधिवद्विजः ।
न तस्य किं चिदप्राप्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

कूर्मपुराणेऽपि—

अनन्यचेतसश्शान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपास्य विधिवत्सन्ध्यां प्राप्ताः पूर्वं परां गतिम् ॥

अथाकरणे दोषोऽपि दक्षेण दर्शितः—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्निसमनर्हस्मर्वकर्मसु ।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥

गोबिलोऽपि—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या नैव ह्युपासिता ।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतश्वा चाभिजायते ॥

मनुरपि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।

स शूद्रवद्बहिष्कार्यस्सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

उपतिष्ठन्ति ये सन्ध्यां ये न पूर्वा न पश्चिमाम् ।

व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्रं नरकं नृप ॥

कूर्मपुराणेऽपि—

योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तम ।

विहाय सन्ध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम् ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

तस्मान्नो लङ्घनं कार्यं सन्धयोपासनकर्मणः ।

स हन्ति सूर्यं सन्ध्याया नोपास्तिं कुरुते तु यः ॥

इति । एतत्सर्वमनार्तविषयम् । अत एव योगयाज्ञवल्क्यः—

अनार्तश्चोत्सृजेद्यस्तु स विप्रश्शूद्रसम्पितः ।

प्रायश्चित्ती भवेच्चैव लोके भवति निन्दितः ॥

अत्रिरपि—

नोपतिष्ठन्ति ये सन्ध्यां स्वस्थः वस्थास्तु वै द्विजाः ।

हिंसन्ति ते सदा पापा भगवन्तं दिवाकरम् ॥

ये हिंसन्ति द्विजास्सूर्यं मोक्षद्वारमनुत्तमम् ।

कथं मोक्षस्य सम्प्राप्तिर्भवेत्तेषां द्विजन्मनाम् ॥

विष्णुपुराणेऽपि—

सर्वकालमुपस्थानं सन्ध्ययोः पार्थिवेभ्यते ।

अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः ॥

इति । विभ्रमो भ्रान्तिः । तदादिष्वसामर्थ्येन सन्ध्याया अकर-
णेऽपि दोषो नास्तीत्यर्थः । सूतकादौ तु सत्यापि सामर्थ्ये न
सन्ध्योपासनं कार्यमित्याह मरीचिः—

सूतके कर्मणां त्यागस्सन्ध्यादीनां विधीयते ।

इति । यत्तु पुलस्त्येनोक्तं—

सन्ध्यामिष्टिं चरुं होमं यावज्जीवं समाचरेत् ।

न त्यजेत्सूतके वाऽपि खजन्गच्छत्यधोगतिम् ॥

इति, तन्मानससन्ध्याभिप्रायम् । यतस्स एवाह—

सूतके मृतके चैव सन्ध्याकर्म न संत्यजेत् ।

मनसोच्चारयेन्मन्त्रान्प्राणायाममृते द्विजः ॥

इति । एवं च यानि सूतकादौ सन्ध्याकर्मनिषेधपराणि तानि
वाचिकमन्त्रप्रयोगनिषेधपराणीति मन्तव्यम् । यदपि पैठीनसि-
नोक्तं—

‘सूतके मावित्रयाऽर्जलिं प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा

सूर्यं ध्यायन्नमस्कुर्यात्’

इति, तदपि सकलसन्ध्याकर्मोपलक्षणार्थमिति ‘सन्ध्यामिष्टिं’
इत्यनेन समानार्थम् । यद्वा—यदत्र सन्ध्याकर्मणि श्रौतमर्जलिदा-
नादि, तदेवानुष्ठेयं नान्यादित्यभिप्राय इत्यनुसन्धेयम् । यदत्र युक्तं
तद्ब्राह्मम् । अत्र शातातपः—

दर्भहीना तु या सन्ध्या यच्च दानं विनोदकम् ।

असङ्ख्यातं तु यज्जप्यं तत्सर्वं स्यान्निरर्थकम् ॥

कूर्मपुराणेऽपि—

प्राङ्मुखस्तपवित्रस्सन् सन्ध्योपासनमाचरेत् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रातस्सन्ध्या.

प्राणायाममहिमा.

अथ प्राणायाममहिमा । तत्र मनुः—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।

व्याहृतिप्रणवैर्गुक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥

दहन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।

तथेन्द्रियाणां दहन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।

अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥

यमोऽपि—

दशप्रणवसंयुक्तैः प्राणायामैश्चतुर्दशैः ।

मुच्यते ब्रह्महत्यायाः किं पुनश्शेषपातकैः ॥ ¹

व्यासः—

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

ये जपन्ति ² सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

¹ मासाच्चैवोपपातकैः—वैद्य.

² यजन्ति—क. म.

यं एता व्याहृतीस्तप्त संस्मरेत्प्राणसंयमे ।
उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम् ॥
सर्वेषु चैव लोकेषु कामचारश्च जायते ।

व्यासोऽपि—

षोडशाक्षरकं ब्रह्म गायत्र्यास्तु शिरस्स्मृतम् ।
सकृदावर्तयान्विप्रः संसारात्स विमुच्यते ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्राणायाममहिमाः

प्राणायामविधिः.

अथ प्राणायामविधिः । तत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

एवं सम्मार्जनं कृत्वा बाह्यशुद्ध्यर्थकारकम् ।
अथाभ्यन्तरशुद्ध्यर्थं प्राणायामं समाचरेत् ॥

संबर्तोऽपि—

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतो गायत्रीं तु ततो जपेत् ।

इति । प्राणस्य वायोरायामो निरोधः प्राणायामः । स किलक्षण
इत्यपेक्षिते मनुराह—

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामस्स उच्यते ॥

इति । व्याहृतयो भूराद्यास्तप्त सत्यान्ताः,

सप्त व्याहृतयः प्रोक्ताः प्राणायामे तु नित्यशः ।

भूर्भुवस्स्वर्महर्जनस्तपस्त्यं तथैव च ॥

इति योगयाज्ञवल्क्यस्मरणात् । शिरश्चात्र 'ओमापो ज्योतिः'
इति याजुर्वेदिको मन्त्रः,

ओमापो ज्योतिरित्येष मन्त्रो वै तैत्तिरीयकः ।

इति व्यासस्मरणात् । सप्रणवामित्यनेन भूरादिषु नवस्वपि^१ प्रण-
वयोगमाह । तथा च योगयाज्ञवल्क्यः—

भूर्भुवस्स्वर्महर्जनस्तपत्सत्यं तथैव च ।

प्रसोङ्कारसमायुक्तं तथा तत्सवितुःपदम् ॥

ओमापो ज्योतिरित्येतच्छिरः पश्चात्प्रयोजयेत् ।

त्रिरावर्तनयोगात्तु प्राणायामस्तु शब्द्यते^२ ॥

इति । ओङ्कारोऽप्यत्र मन्त्रादौ द्रष्टव्यः । तथा च यमः—

ओङ्कारपूर्विकास्सप्त जपेत्तु व्याहृतीस्तथा ।

शिरसा सह गायत्रीं प्राणायामः परन्तप ॥

जपेन्मनसेति शेषः । तथा च संवर्तः—

प्रणवेन तु संयुक्ता व्याहृतीस्सप्त नित्यशः ।

सावित्रीं शिरसा सार्धं मनसा त्रिः पठेद्विजः ॥

इति । अत्र बृहस्पतिः—

बध्वाऽऽसनं नियम्यासून् स्मृत्वा चार्पादिकं तथा ।

संनिमीलितदृष्ट्यौनी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥

इति । आसनं चात्र स्वस्तिकाद्यन्यतमं वेदितव्यम् । आर्षादिकं
चात्र व्यासेनोक्तं—

^१ सप्तस्वपि—ग.

^२ शक्तितः—क. ख. शब्दितः—ग. . .

प्रणवस्य ऋषिर्ब्रह्मा गायत्रं छन्द एव च ।
देवोऽग्निस्सर्वकर्मादौ विनियोगः प्रकीर्तितः ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

व्याहृतीनां तु सर्वासामार्षं चैव प्रजापतिः ।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च ॥
त्रिष्टुप्च जगती चैव छन्दांस्येतानि सप्त वै ।
अग्निर्वायुस्तथाऽऽदिसो बृहस्पत्याप एव च ॥
इन्द्रश्च विश्वेदेवाश्च देवतास्समुदाहृताः ।
प्राणायामप्रयोगे च विनियोग उदाहृतः ॥
सविता देवता यस्या मुखमग्निस्त्रिपाच्च या ।
विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्री सा विशिष्यते ॥
विनियोगस्तूपनये प्राणायामे तथैव च ।
ओमापो ज्योतिरित्येष मन्त्रो यस्तु प्रकीर्त्यते ॥
तस्य प्रजापतिश्चार्षं यजुश्छन्दो विवर्जितम् ॥
ब्रह्मा वायुश्च सूर्यश्च देवतास्समुदाहृताः ।
प्राणस्यायमने चैव विनियोग उदाहृतः ॥

इति । ब्रह्मा तु व्याहृतीनामृषिभेदमाह—

विश्वामित्रो जमदग्निः^१ भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
ऋषिरत्रिर्वसिष्ठश्च कश्यपश्च यथाक्रमम् ॥

इति । स च प्राणायामः पूरककुम्भकरेचकैस्त्रिलक्षणो ज्ञेयः ।

तथा च योगयाज्ञवल्क्यः—

पूरकः कुम्भको रेच्यः प्राणायामस्त्रिलक्षणः ।

एतेषां लक्षणमाह स एव—

नासिकाकृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते ।

कुम्भको निश्चलश्वासो रिच्यमानस्तु रेचकः ॥

इति । कुम्भके तु विशेषमाहात्रिः—

आ केशाग्रान्नखाग्राच्च निरोधश्शक्यते बुधैः ।

निरोधाज्जायते वायुर्वायोरग्निश्च जायते ॥

अग्रेरापश्च जायन्ते ततोऽन्तश्शुद्ध्यते त्रिभिः ॥

इति । योगयाज्ञवल्क्यस्तु पूरकरेचकयोर्विशेषमाह—

बाह्यस्थितं ध्राणपुटेन वायुं

आकृष्य यत्नेन शनैस्समस्तम् ।

नाड्यश्च सर्वाः परिपूरणीयाः

स पूरको नाम महानिरोधः ॥

शनैर्नासापुटे वायुमुत्सृजेन्न तु वेगतः ।

न कम्पयेच्छरीरं तु स योगी परमो मतः ॥

इति । अत्र व्यासः—

नाभिपद्मस्थितं ध्यायेत् कं रक्तं पूरणेन तु ।

नीलोत्पलाभं हृत्पद्मे कुम्भकेन जनार्दनम् ॥

ललाटस्थं शिवं श्वेतं रेचकेनापि चिन्तयेत् ।
थुद्धस्फटिकसङ्काशं निर्मलं पापनाशनम् ॥

अत्र फलमाह बृहस्पतिः—

रक्तं प्रजापतिं ध्यायेद्विष्णुं नीलोत्पलप्रभम् ।
शङ्करं त्र्यम्बकं श्वेतं ध्यायन्मुच्येत बन्धनात् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

कुम्भके विष्णुसायुज्यं पूरके ब्रह्मणोऽन्तिकम् ।
रेचकेन तृतीयेन प्राप्नुयादैश्वरं पदम् ॥

इति । अत्र ब्रह्मा—

पादयोश्च तथा जान्वोर्जङ्घयोर्जठरेऽपि च ।
कण्ठे मुखे तथा मूर्ध्नि क्रमेण व्याहृतीर्न्यसेत् ॥
भूरङ्गुष्ठद्वये न्यस्य भुवस्तर्जनिकाद्वये ।
ज्येष्ठाङ्गुलिद्वये धीमान् स्वःपदं विनियोजयेत् ॥
करन्यासविधिं कृत्वा अङ्गन्यासं समारभेत् ।
भूःपदं हृदि विन्यस्य भुवश्शिरसि विन्यसेत् ॥
शिखायां स्वःपदं न्यस्य कवचे तत्पदं न्यसेत् ।
अक्ष्णोर्भर्गपदं न्यस्य दिग्विदिक्षु धियःपदम् ॥

इति । तत ओमापो ज्योतिरिति सर्वाङ्गन्यासः,

शिरस्तस्यास्तु सर्वाङ्गे प्राणायामे परं न्यसेत् ।

इति व्यासस्मरणात् । एवं कुर्वतः फलमाह याज्ञवल्क्यः—

प्राणायामत्रयं कृत्वा सूर्यस्योदयनं प्रति ।

निर्मलास्स्वर्गमायान्ति सन्तस्सुकृतिनो यथा ॥

संवर्तोऽपि—

मानसं वाचिकं पापं कायेनैव तु यत्कृतम् ।

तत्सर्वं नश्यति क्षिप्रं प्राणायामत्रये कृते ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्राणायामविधिः.

ध्येयस्वरूपम्.

उक्तं प्राणायामानन्तरमेव सन्ध्यां ध्यायेदिति । तत्र ध्येयस्वरूपमाह गोबिलः—

‘प्रातर्गायत्री रविस्थिता^१ रक्तवर्णा कुमार्यक्षमालाहस्ता हंसासनमारूढा ब्रह्मदैवत्या ऋग्वेदमुदाहरन्ती; मध्यान्दिने सावित्री रविमध्ये स्थिता श्वेतवर्णा यौवनस्था त्रिनेत्रा त्रिशूलहस्ता वृषभासनमारूढा रुद्रदैवत्या यजुर्वेदमुदाहरन्ती; सायं सरस्वती रविमध्ये स्थिता श्यामवर्णा वृद्धा चतुर्भुजा चक्रहस्ता सुपर्णासनमारूढा विष्णुदैवत्या सामवेदमुदाहरन्ती’

एवंविधा क्रमेण कालत्रयेऽप्यावाह्येति शेषः । तदुक्तं गायत्रीनिर्णये—

^१ रविमध्ये स्थिता—वैद्य.

बालां त्वष्ट्रां गायत्रीं त्र्यक्षरां चतुराननाम् ।
 शक्तां रक्ताम्बरोपेतामक्षसूत्रधरां तथा ॥
 कमण्डलुधरां देवीं हंसवाहनसंस्थिताम् ।
 ब्रह्माणीं ब्रह्मदैवत्यां ब्रह्मलोकनिवासिनीम् ॥
 आवाहयेत्तु मन्त्रेण आयान्तीं सूर्यमण्डलात् ।
 एवं मध्यमसन्ध्यायां सावित्रीं युवतीं तथा ॥
 शुक्लाङ्गीं शुक्लवस्त्रां च वृषारूढां त्रिलोचनाम् ।
 त्रिशूलडमरूहस्तां रुद्राणीं रुद्रदेवताम् ॥
 कैलासनिलयां देवीमायान्तीं सूर्यमण्डलात् ।
 एवं पश्चिमसन्ध्यायां वृद्धावस्थां सरस्वतीम् ॥
 वर्णतः कृष्णवर्णां च चारुरूपां चतुर्भुजाम् ।
 शङ्खचक्रगदापद्मधारिणीं विष्णुदेवताम् ॥
 बदर्याश्रमवासां तामायान्तीं सूर्यमण्डलात् ।

इति । योगयाज्ञवल्क्यस्तु वर्णविपर्यासमाह—

श्वेता भवति गायत्री सावित्री शुक्लवर्णिका ।
 कृष्णा सरस्वती ज्ञेया सन्ध्यात्रयमुदाहृतम् ॥

इति । एवं च रविमण्डलान्तस्थां ब्रह्मलोकवासिनीं वा सन्ध्यां
 ध्यायेदि¹ त्युक्तं भवति । उक्तं च योगयाज्ञवल्क्येन—
 आदित्यमण्डलान्तस्थां ब्रह्मलोकगतां तथा ।

¹ सन्ध्यामावाहयेदि—क.

अक्षसूत्रधरां देवीं पद्मासनगतां शुभाम् ॥

आवाह्य यजुषाऽनेन तेजोऽसीति विधानतः ॥

इति । तेजोऽसीति वाजसनेयिको मन्त्रः । व्यासस्तु मन्त्रान्तरमाह—

आवाहयेच्च गायत्रीं सर्वपापप्रणाशिनीम् ।

आगच्छ वरदे देवि जप्ये ¹ मे सन्निधौ भव ॥

गायन्तं त्रायसे यस्माद्गायत्री त्वमुदाहृता ।

गोबिलोऽपि—

आयाहि वरदे देवि त्रयक्षरे ब्रह्मवादिनि ² ।

गायत्री छन्दसां मातर्ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते ॥

शौनकोऽपि—

आवाहनं तैत्तिरीये उक्तं चापि विसर्जनम् ।

इति । तत्रावाहनमन्त्रः—

‘ आयातु वरदा देवी ’

इति । तस्य गायत्री छन्दः; विश्वेदेवा ऋषयः; शुक्रो ³ देवता; गायत्र्यावाहने विनियोगः । एवमावाहोक्तनामादियुक्तां सन्ध्या-शब्दाभिलष्या ⁴ मादित्याख्यां ब्रह्मात्मिकां देवीं हृदि साऽहमस्मीति ध्यायेत् । तदुक्तं व्यासेनः—

¹ जपे—क.

² देवीत्याहरेद्ब्रह्मवादिनीम्—वैद्य.

³ रुद्रो—क.

⁴ शब्दाभिधेया—ग.

न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह ।

साऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित् ॥

इति । एतत्सर्वं सन्ध्याशब्दार्थनिर्णये दर्शितम् । ततस्तां गाय-
त्र्यास्तुरीयेण पादेनोपस्थाय जपेत् । तदापि तेनैवोक्तं—

तुरीयं तु पदं तस्याः शिवब्रह्मपदे स्थितम् ।

उपस्थाय तुरीयेण जपेत्तां तु समाहितः ॥

तुरीयं पादं—

‘परो रजसि सावदोम्’

इत्यष्टाक्षरम् । तस्य विमल ऋषिः ; तुरीयं छन्दः ; परमात्मा
देवता ; मोक्षे विनियोगः । इति स्मृतिचन्द्रिकायां ध्येयस्वरूप-
निर्णयः.

गायत्रीमहिमा.

अथ गायत्रीमहिमा । तत्र यमः—

गायत्रीं चैव वेदांश्च तुलयाऽतोलयत्प्रभुः ।

एकतश्चतुरो वेदान्साङ्गांश्च सपदक्रमान् ॥

एकतश्चैव गायत्रीं तुल्यरूपा तु सा स्मृता ।

मनुरपि—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयान्निरदुहद्रूधुवस्स्वरितीति च ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।

तदित्यूचोऽस्यास्सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥

शङ्कोऽपि—

‘नाघमर्षणात्परमन्तर्जले न व्याहृतिभ्यः परं होमे
न सावित्र्याः परं जप्ये’

इति । ब्रह्माऽपि—

गायत्र्या न परं जप्यं गायत्र्या न परं तपः ।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं हुतम् ॥

व्यासोऽपि—

दशकृत्वः प्रजप्ता सा त्र्यहात्पापं तु यत्कृतम्¹ ।
तत्पापं प्रणुदत्याशु नात्र कार्या विचारणा ॥
शतं जप्ता तु सा देवी पापौघशमना स्मृता ।
सहस्रजप्ता सा देवी उपपातकनाशिनी ॥
लक्षजापेन च तथा महापातकनाशिनी ।
कोटिजापेन राजेन्द्र यदिच्छति त² दाप्नुयात् ॥
यक्षविद्याधरत्वं वा गन्धर्वत्वमथापि वा ।
देवत्वमथवा राज्यं भूलोकं हतकण्टकम् ॥

मनुरपि—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्मपदमप्येति वायुभूतस्त्वमूर्तिमान्³ ॥

¹ त्र्यहाद्यत्कृतं लघु—क. ख. ² यद्यदिच्छेत्—क. ख.

³ तः स्वमूर्तिमान्—क. ख.

व्यासोऽपि —

दशभिर्जन्मजनितं शतेन तु पुराकृतम् ।

त्रियुगं तु सहस्रेण गायत्री हन्ति किल्बिषम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां गायत्रीमहिमा.

आर्षादिकम्

अथास्या आर्षादिकमुच्यते । तत्र ब्रह्मा —

छन्दो गायत्री गायत्र्यास्सविता देवता स्मृता ।

शुक्लो वर्णो मुखं चाग्निः^१ विश्वामित्र ऋषिस्तथा ॥

त्रयी शिरश्शिखा रुद्रो विष्णुर्हृदयमेव च ।

उपासने^२ विनियोगस्साङ्ग्यायनसगोत्रता ॥

त्रैलोक्यं चरणं ज्ञेयं पृथिवी कुक्षिरेव च ।

एवं ध्यात्वा तु गायत्रीं जपेद्वादशलक्षणाम् ॥

इति । गायत्रीकल्पे तु प्रतिपादमस्या आर्षादिकमुक्तं—

‘तत्सवितुः’ इत्यस्य गायत्री छन्दः; विश्वामित्र

ऋषिः; ब्रह्मा देवता । ‘भर्गो देवस्य’ इत्यस्य गायत्री

छन्दः; विश्वामित्र ऋषिः; विष्णुर्देवता । ‘धियो

यो नः’ इत्यस्य गायत्री छन्दः; विश्वामित्र ऋषिः;

रुद्रो देवता । अक्षराणां तु सर्वेषां प्रजापतिः

ऋषिः; गायत्री छन्दः; विनियोगोऽङ्गन्यासे;

देवतास्तु ब्रह्मोक्ता वेदितव्याः —

आग्नेयं प्रथमं तस्या वायव्यं तु द्वितीयकम् ।

^१ मुखमग्निप्रपाच्चैव—वैद्य.

^२ उपनयने—ग,

तृतीयं सूर्यदैवत्यं चतुर्थं वैद्युतं तथा ॥
 पञ्चमं यमदैवत्यं वारुणं षष्ठमुच्यते ।
 बार्हस्पत्यं सप्तमं च पार्जन्यं चाष्टमं विदुः ॥
 एन्द्रं तु नवमं प्रोक्तं गान्धर्वं दशमं स्मृतम् ।
 पौष्णमेकादशं प्रोक्तं शैवं द्वादशकं तथा ॥
 त्वाष्ट्रं त्रयोदशं प्रोक्तं वासवं तु चतुर्दशम् ।
 मारुतं पञ्चदशकं सौम्यं षोडशकं स्मृतम् ॥
 सप्तदशं त्वाङ्गिरसं वैश्वदेवमतः परम् ।
 आश्विनं चैकोनविंशं प्राजापत्यं च विंशकम् ।
 सर्वदेवमयं प्रोक्तमेकविंशकमक्षरम् ।
 रौद्रं द्वाविंशकं ज्ञेयं ब्राह्मं चैव ततः परम् ॥
 वैष्णवं च चतुर्विंशमेता अक्षरदेवताः ।
 जपकाले तु सञ्चिन्त्य तामु सायुज्यमाप्नुयात् ॥

इति । अथाक्षरतत्त्वानि—

अथ तत्त्वानि वक्ष्यामि अक्षराणां विशेषतः ।
 पृथिवी ह्युदकं तेजो वायुर्म्बरमेव च ॥
 गन्धो रसोऽथ रूपं च स्पर्शश्शब्दोऽथ वागिति ।
 हस्तावुपस्थः पायुश्च पच्छ्रोत्रं त्वक्च चक्षुषी ॥
 जिह्वा घ्राणो मनस्तत्त्वमहङ्कारो महत्तथा ।
 गुणत्रयं च सत्तत्त्वं क्रमशस्तत्त्वनिर्णयः^१ ॥

^१ च क्रमशो वर्णतत्त्वविनिश्चयः—वेद्य.

इति । अथाक्षरशक्तयोऽपि—

“सहा नित्या विश्वहृदया विलासिनी प्रभावती
लोला¹ शान्ता कान्तिः² दुर्गा सरस्वती विष्णु-
रूपा विशाला ईशा आप्यायिनी विमला तमोऽप-
हारिणी³ हिरण्यरूपा सूक्ष्मा विश्वयोनिः जया-
वहा पञ्चालया वरा शोभा गदारूपा—इति
शक्तयः⁴”.

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां आर्पादिनिर्णयः.

न्यासविधिः.

अथ न्यासविधिः । तत्रादावस्त्रमन्त्रेण करशुद्धिः ।

ततो गायत्र्या व्यापकं कृत्वा करन्यासपूर्वकमङ्गन्यासं⁵ कुर्यात्,
तस्य सर्वमन्त्रसाधारणत्वात् । तत्राङ्गन्यासो व्यासेन दर्शितः—

1 लोहिता—क. 2 शान्तिः—ग. 3 तमोमयी—ग.

4 प्रह्लादिनी प्रभा नित्या विश्वभद्रा विलासिनी ।

प्रभावती जया शान्ता कान्ता दुर्गा सःस्वती ॥

विद्यारूपा विशालेशा व्यापिनी विमला तथा ।

तमोऽपहारिणी सूक्ष्मा विश्वयोनिर्जयावहा ॥

पञ्चालया परा शोभा भद्ररूपेति शक्तयः ।

इति वैद्यनाथीये आह्निककाण्डे स्मृतिरत्नाकरे च पाठान्तरं दृश्यते.

5 चन्द्रिकायां—गायत्र्या व्यापकं कृत्वा करन्यासपूर्वकं षडङ्गन्यासं—

इति वैद्यनाथीये.

हृदि तत्सवितुर्न्यस्य न्यस्येत्कण्ठे वरोणियम् ।
 भर्गो देवस्येति खण्डं शिखायां च ततो न्यसेत् ॥
 धीमहीति न्यसेद्वक्त्रे धियो यो नश्च नेत्रयोः ।
 प्रचोदयादिति पदमस्त्रार्थं विनियोजयेत् ॥
 अनामिकाद्वये धीमान्न्यसेत्तत्पदमग्रतः ।
 कनिष्ठिकाद्वये भर्गः पाण्योर्मध्ये धियःपदम् ॥
 ॐ भूर्विन्यस्य हृदये ॐ भुवश्शिरसि न्यसेत् ।
 ॐ स्वश्शिखायां विन्यस्य गायत्र्याः प्रथमं पदम् ॥
 विन्यसेत्कवचे धीमान्द्रितीयं नेत्रयोर्न्यसेत् ।
 तृतीयेनास्त्रविन्यासं चतुर्थं सर्वतो न्यसेत् ॥

अत्र ब्रह्मा—

तत्कारं विन्यसेत्स्वाङ्गे पादा^१ङ्गुष्ठद्वये द्विजः ।
 सकारं गुल्फदेशे तु विकारं जङ्घयोर्न्यसेत् ॥
 जान्वोस्तु विद्धि तुःकारं वकारं चोरुदेशतः ।
 रेकारं विन्यसेद्बुद्धे णिकारं वृषणे न्यसेत् ॥
 कटिदेशे तु यङ्कारं भकारं नाभिमण्डले ।
 गौकारं जठरे धीमान्देकारं स्तनयोर्न्यसेत् ॥
 वकारं हृदि विन्यस्य स्यकारं कण्ठ एव तु ।
 धीकारमास्ये विन्यस्य मकारं तालुमध्यतः ॥
 हिकारं नासिकाग्रे तु धिकारं नयनद्वये ।

^१ त्वाङ्गपादा—वैद्य.

भ्रुवोर्मध्ये तु योकारं ललाटे तु द्वितीयकम् ॥

पूर्वानने तु नःकारं प्रकारं दक्षिणानने ।

उत्तरास्ये तु चोकारं दकारं पश्चिमानने¹ ॥

विन्यसेन्मूर्ध्नि यात्कारं सर्वव्यापिनमीश्वरम् ।

इति । अत्र सर्वे मन्त्राः प्रणवान्ता नमोऽन्ताश्च । तथा च
भृगुः —

ओङ्कारमादाबुच्चार्य मन्त्रबीजमनन्तरम् ।

नाम ग्राह्यं नमोऽन्तं तु जपन्यासः प्रकीर्तितः ॥

इति । ततो वर्णध्यानं कुर्यात् । तदाह ब्रह्मा—

कृत्वा चैवेदशं न्यासमशेषं पापनाशनम्² ।

पश्चात्समाचरेद्ध्यानं वर्णरूपसमन्वितम् ॥

इति । तदपि तेनैवोक्तं—

तत्कारं चम्पकापीतं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।

शान्तं पद्मासनारूढं ध्यायेत्स्वस्थानसंस्थितम्³ ॥

सकारं चिन्तयेच्छ्याममतसीपुष्पसन्निभम् ।

पद्ममध्यस्थितं सौम्यमुपपातकनाशनम् ॥

विकारं पिङ्गलं नित्यं कमलासनसंस्थितम् ।

ध्यायेच्छान्तं द्विजश्रेष्ठो महापातकनाशनम् ॥

1 चोकारं विन्यसेत्फाले दकारं तु कपोलयोः — वैद्य.

2 चैत्राक्षरन्यासमशेषाद्यविनाशनम्—वैद्य.

3 ध्यात्वा दहति पातकम्—वैद्य.

तुःकारं चिन्तयेत्प्राज्ञ इन्द्रनीलसमप्रभम् ।
 निर्दहेत्सर्वदुःखं तु ग्रहतारसमुद्भवम् ॥
 वकारं वह्निदीप्त्याभं चिन्तयेत्तु विचक्षणः ।
 भ्रूणहत्याकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
 रेकारं विमलं ध्यायेच्छुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
 पापं नश्यति तत्क्षिप्रमगम्यागमनोद्भवम्¹ ।
 णिकारं चिन्तयेद्योगी विद्युत्स्फुरितसमप्रभम् ॥
 अभक्ष्यभक्षजं पापं तत्क्षणादेव नश्यति² ।
 यङ्कारं तारकावर्णमिन्दुशेखरभूषणम् ॥
 योगिनां वरदं ध्यायेद्ब्रह्महत्याविनाशनम् ।
 भकारं कृष्णवर्णं तु नीलमेघसमप्रभम् ॥
 ध्यात्वा पुरुषहत्यादि पापं नाशयति द्विजः ।
 गौंकारं रक्तवर्णं तु कमलासनसंस्थितम् ॥
 गोहत्यादिकृतं पापं नाशयन्तं विचिन्तयेत् ।
 देकारं मरकतश्यामं कमलासनसंस्थितम् ॥
 चिन्तयेत्सततं योगी स्त्रीहत्या दहते परम् ।
 वकारं शुक्लवर्णं तु जातीपुष्पसमप्रभम् ॥
 गुरुहत्याकृतं पापं ध्यात्वा दहति तत्क्षणात् ।
 स्यकारं च तथा पीतं सुवर्णसदृशप्रभम् ॥

¹ अभक्ष्यभक्षजं पापं तत्क्षणादेव नश्यति—वैद्य.

² गुरुतल्पकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति—वैद्य.

मनसा चिन्तितं पापं ध्यात्वा दहति मानवः ।
 धीकारं चिन्तयेच्छुक्लं कुन्दपुष्पसमप्रभम् ॥
 पितृमातृवधात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः ।
 मकारं पद्मरागाभं चिन्तयेद्दीप्ततेजसम् ॥
 पूर्वजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।
 हिकारं शङ्खवर्णं तु पूर्णचन्द्रसमप्रभम् ॥
 अशेषपापदहनं ध्यायेन्निसं विचक्षणः ।
 धिकारं पाण्डुरं ध्यायेत्पद्मस्योपरि संस्थितम् ॥
 प्रतिग्रहकृतं¹ पापं स्मरणादेव नश्यति ।
 योकारं रक्तवर्णं तु इन्द्रगोपकसन्निभम् ॥
 ध्यात्वा प्राणिवधे पापं निर्दहेन्मुनिपुङ्गव² ।
 द्वितीयश्चैव यः प्रोक्तो योकारो रुक्मसन्निभः ॥
 निर्दहेत्सर्वपापानि नान्यैः पापैश्च लिप्यते ॥
 नःकारं तु मुखं पूर्वमादित्योदयसन्निभम् ।
 सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठस्स गच्छेद्दैवतं पदम् ॥
 नीलोत्पलदलश्यामं प्रकारं दक्षिणाननम्³ ॥
 सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठस्स गच्छेद्दैश्वरं⁴ पदम् ।
 सौम्यं गोरोचनापीतं चोकारं चोत्तराननम् ॥
 सकृद्ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठस्स गच्छेद्द्वैष्णवं पदम् ।

¹ प्राणिहत्याकृतं—वैद्य. ² प्रतिग्रहकृतं पापं ध्यात्वा दहति तत्क्षणात्—वैद्य.

³ दक्षिणामुखं—वैद्य.

⁴ च्छेद्वैष्णवः—वैद्य.

शङ्खकुन्देन्दु^१ सङ्काशं दकारं पश्चिमाननम् ॥
 सकृद्व्यात्वा द्विजश्रेष्ठस्त गच्छेद्ब्रह्मणः^२ पदम् ।
 यात्कारस्तु शिरः प्रोक्तश्चतुर्वेदनसन्निभः^३ ॥
 प्रत्यक्षफलदो ब्रह्मा विष्णू रुद्र इति स्थितिः ।
 एतज्ज्ञात्वा^४ तु मेधावी जपहोमं करोति यः ॥
 न भवेत्सूतकं तस्य मृतकं च न विद्यते ।
 साक्षाद्भवसौ ब्रह्मा स्वयंभूः परमेश्वरः ॥
 यस्त्वेवं न विजानाति गायत्रीं तु यथाविधि ।
 कल्पितं^५ सूतकं तस्य मृतकं च मयाऽनघ^६ ॥
 नैव दानफलं तस्य नैव यज्ञफलं लभेत् ।
 न च तीर्थफलं प्रोक्तं तस्यैवं सूतके सति ॥

मुद्राः

अथ मुद्राः । ता अपि तेनैव दर्शिताः—

अथातो दर्शयेन्मुद्रासंसमुखं^७ सम्पुटं तथा ।
 ततो विततविस्तीर्णे द्विमुखत्रिमुखे तथा ॥
 चतुर्मुखं पञ्चमुखं षण्मुखाधोमुखे तथा ।
 व्यापकाञ्जलिकारुण्यं च शकटं तदनन्तरम् ॥
 यमपाशं च ग्रथितं ततस्स्यात्सन्मुखोन्मुखम् ।

^१ शुक्लवर्णेन्दु—ग. ^२ च्छेदैश्वरं—वैद्य. ^३ चतुर्वर्णसमुद्भवः—वैद्य.

^४ एतद्व्यात्वा—वैद्य. ^५ कथितं—वैद्य. ^६ सदैव हि —वैद्य.

^७ सुमुखमित्यपि क्वचिद्दृश्यते.

विलम्बो मुष्टिको मीनस्ततः कूर्मवराहकौ ॥

सिंहाक्रान्तं महाक्रान्तं ततो मुद्गरपल्लवौ ।

एतासां लक्षणमाह स एव—

सम्मुखं^१ संहतौ हस्तौ उत्तानौ कुञ्चिताङ्गुली ।

कुञ्चिता वक्रा अङ्गुलयो ययोरुक्तलक्षणयोर्हस्तयोस्तौ सम्मुखं^१
नाम मुद्रा.

सम्पुटं पद्मकोशाभौ करावन्योन्यसंहतौ ॥

संहतौ पद्ममुकुलाभौ करौ सम्पुटं नाम मुद्रा.

विततं संहतौ हस्तावुत्तानावायताङ्गुली ।

आयताः प्रसारिता अङ्गुलयो ययोरुक्तलक्षणयोः हस्तयोस्तौ वि-
ततं नाम मुद्रा.

विस्तीर्णं संहतौ पाणी मिथो मुक्ताङ्गुलिद्वयौ ॥

मुक्तमङ्गुलिद्वयं याभ्यां पाणिभ्यां तौ मिथस्संयुतौ विस्तीर्णं
नाम मुद्रा.

सम्मुखासक्तयोः पाण्योः कनिष्ठाद्वययोगतः ।

शेषाङ्गुलीनां वैरल्ये द्विमुखत्रिमुखादयः ॥

मिथस्सम्मुखासक्तयोः पाण्योः कनिष्ठाद्वययोगेन शेषाङ्गुलिवैर-
ल्ये अङ्गुष्ठद्वयमारभ्यानामिकान्तं यावत् द्विमुखत्रिमुखचतुर्मुख-
पञ्चमुखा नाम मुद्रा भवन्ति । तत्र वकारे द्विमुखं; रेकारे त्रिमुखं;
णिकारे चतुर्मुखं; यकारे पञ्चमुखम् ।

शेषाङ्गुलीनां संयोगात्पूर्व^१ योगविनाशनम् ।

तिर्यक्संयुज्यमानाग्रौ संयुक्ताङ्गुलिमण्डलौ ।

हस्तौ षण्मुखमित्युक्ता मुद्रा मुद्राविशारदैः ॥

पूर्वयोगः कनिष्ठाद्वयसंयोगः । तद्विनाशेनेतराङ्गुलीनां संयोगा-
तिर्यक्संयुज्यमानमग्रं ययोस्तथा संयुक्तमङ्गुलिमण्डलं च य-
योस्तौ हस्तौ षण्मुखं नाम मुद्रा.

आकुञ्चिताग्रौ संयुक्तौ न्युब्जौ^२ हस्तावधोमुखम् ।

ईषद्वक्राग्रौ अर्वाकृतौ^३ संयुक्तौ हस्तौ अधोमुखं नाम मुद्रा.

उत्तानौ तादृशावेव व्यापकाञ्जलिकं करौ ॥

तादृशौ संयुतौ उक्तलक्षणौ करौ व्यापकाञ्जलिकं नाम मुद्रा.

अधोमुखौ बद्धमुष्टिमुक्ताग्राङ्गुष्ठकौ करौ ।

शकटं नाम कथितं

मुक्ताग्राङ्गुष्ठौ ययोरुक्तलक्षणयोः करयोस्तौ शकटं नाम मुद्रा.

यमपाशमतः परम् ।

बद्धमुष्टिकयोः पाण्योरुत्ताना वामतर्जनी ॥

कुञ्चिताग्राऽन्यया युक्ता तर्जन्या न्युब्जवक्रया ।

बद्धमुष्टिकयोरुपर्यधोभावेनावस्थितयोः पाण्योः या उत्ताना कु-
ञ्चिताग्रा वामतर्जनी साऽन्यया दक्षिणतर्जन्या न्युब्जवक्रया
युक्ता यमपाशं नाम मुद्रा.

उत्तानसन्धिसंलीनबद्धाङ्गुलितलौ करौ ।

^१ वैरत्ये पूर्व—स्मृतिर.

^२ व्यक्तौ.

^३ अथःकृतौ.

सम्मुखौ घटितौ दीर्घावङ्गुष्ठौ ग्रथितं मतम् ॥

उत्तानानि सन्धिसंलीनानि वद्धान्यङ्गुलितलानि ययोः करयोस्तौ तथोक्तौ । तावन्योन्यमुपघाटितौ दीर्घौ¹ वक्राङ्गुष्ठौ ययोस्तौ ग्रथितं नाम मुद्रा.

सञ्चितोर्ध्वाङ्गुलिर्ग्रामस्तादृशो² दक्षिणेन तु ।

अधोमुखेन संयुक्तस्सन्मुखोन्मुखमुच्यते ॥

सञ्चितास्सम्बद्धा ऊर्ध्वाङ्गुलयो यस्य स तथोक्तः । तादृशो दक्षिणेनाधोमुखेन करेण संयुक्तस्सन्मुखोन्मुखं नाम मुद्रा.

उत्ताने ह्युन्नते कोटी विलम्बः³ कथितः करौ ।

उत्ताने उन्नते कोटी ययोस्तौ विलम्बो³ नाम मुद्रा.

मुष्टी चान्योन्यसंयुक्तावुत्तानौ मुष्टिको भवेत् ।

अन्योन्यसंयुक्तावुत्तानौ मुष्टिको नाम मुद्रा.

मीनस्तु सम्मुखीभूतौ युक्तानामकनिष्ठिकौ ।

ऊर्ध्वसंयुक्तवक्राग्रौ शेषाङ्गुलितलौ करौ ॥

युक्ते सम्बद्धे अनामिकाकनिष्ठिके ययोस्तौ तथोक्तौ तावन्योन्यसम्मुखीभूतौ तथा ऊर्ध्वं संयुक्तानि वक्राणि शेषाङ्गुलितलानि ययोः करयोस्तौ मीनो नाम मुद्रा.

अधोमुखः करो वामस्तादृशो² दक्षिणेन तु ।

¹ तावन्योन्यसम्मुखौ घटितौ दीर्घावङ्गुष्ठौ—स्मृतिर.

² तादृशा—स्मृतिर.

³ प्रलम्ब इत्यपि पाठः—इति स्मृतिरल्पाकरे.

पृष्ठदेशे समाक्रान्तः कूर्मो नामाभिधीयते ॥

अधोमुखो न्युब्जो वामस्तादृशेन तक्षिणेन पृष्ठदेशे युक्तः कूर्मो
नाम मुद्रा.

ऊर्ध्वमध्यो वामभुजः कक्षाभ्याशाश्रये करे ।

वराहः कथ्यते

कक्षसमीपाश्रये करे सति उक्तलक्षणो वामभुजो वराहो नाम
मुद्रा.

सिंहाक्रान्तं कर्णाश्रितौ करौ ॥

कर्णद्वयाश्रितावायताङ्गुलिकौ करौ सिंहाक्रान्तं नाम मुद्रा.

किञ्चिदाकुञ्चिताग्रौ चेन्महाक्रान्तं ततः परम् ।

तावेव कुञ्चिताग्रौ महाक्रान्तं नाम मुद्रा.

ऊर्ध्वं किञ्चिद्रतौ पाणी मुद्ररो नाम तर्जनी ।

ग्रस्ता दक्षिणहस्तेन

किञ्चिदूर्ध्वं गतयोः पाण्योर्या वामतर्जनी दक्षिणहस्तेन गृहीता
सा मुद्ररो नाम मुद्रा.

पल्लवो दक्षिणः करः ।

अधोमुखस्थितो मूर्ध्नि मुद्राणामिति लक्षणम् ॥

इत्युक्तलक्षणो मूर्ध्नि निहितः करः पल्लवो नाम मुद्रा । अत्र महा-
संहितोक्तो विशेषः—

न जातु दर्शयेन्मुद्रा महाजनसमागमे ।

क्षुभ्यन्ति देवतास्तस्य विफलं च कृतं भवेत् ॥
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां न्यासविधिः.

गायत्रीकवचम्.

अथ गायत्रीकवचं—

ओमिति हृदये भूरिति मुखे भुव इति शिरसि
सुवरिति सर्वाङ्गे; ततो यथाविधि गायत्रीमभ्यसेत्.
एवं कुर्वतः फलमाह व्यासः—

विन्यस्यैवं जपेद्यस्तु गायत्रीं वेदमातरम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति व्यासस्य वचनं यथा ॥
स्वरूपं यः पुनस्तस्या ज्ञात्वोपास्ते यथाविधि ।
गृह्णन्दोषैर्न लिप्येत रत्नपूर्णां वसुन्धराम् ॥
यथाकथंचिज्जप्ता सा देवी परमपावनी ।
सर्वकामप्रदा प्रोक्ता किं पुनर्विधिना नृप ॥
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां गायत्रीकवचम्.

गायत्रीजपविधिः

अथ गायत्रीजपविधिः । तत्र मनुः—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥
यथाशास्त्रमित्यर्थः । तत्कथमित्यपेक्षिते शङ्ख आह—
कुशब्रुव्यां समासीनः कुशोत्तरायां वा कुशपवि-

त्रपाणिरुदङ्मुखस्सूर्याभिमुखो वा ऽक्षमालामादाय
देवतां ध्यायन् जपं कुर्यात्.

इति । ब्रुसी आसनम् । कुशोत्तरा कुशच्छदा । देवता चात्र
गायत्रीप्रतिपाद्या,

मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम्

इति बृहस्पतिस्मरणात् । तस्याश्चायमर्थः—

देवस्य द्योतमानस्य सवितुरादित्यस्य सम्बन्धिभूतं तत् ब्रह्म भर्ग-
स्तेजोरूपं वरेण्यं भीमहि ध्यायेमहीति सम्बन्धः ; तच्छब्दस्य
ब्रह्मवाचकत्वात् ; तदुक्तं भगवद्गीतासु—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधस्मृतः ।

इति । य एवंविधः परमात्मा स नोऽस्माकं धियो बुद्धीः दृष्टादृ-
ष्टार्थफलेषु कर्मसु प्रचोदयात् प्रेरयेत् इति । एवं च सवितृमण्ड-
लान्तस्थं हिरण्यं पुरुषं ध्यायन् जपेदित्युक्तं भवति । उक्तं
च गायत्रीजपाधिकारे तु मार्कण्डेयेन—

कुशब्रुस्यां निविष्टस्तु कुशपाणिर्जितेन्द्रियः ।

अर्कमध्यगतं ध्यायेत्पुरुषं तु महाद्युतिम् ॥

इति । अत्र शङ्खः—

स्वरवर्णपदैर्वाक्यं शुद्धमावर्तयेज्जपन् ।

न कम्पयेच्छिरोग्रीवं दन्तान्नैव प्रदर्शयेत् ॥

इति । तच्च वाक्यं मनुतोक्तं—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहतिपूर्विकाम् ।

सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

इति । एतदक्षरं प्रणवः । एतां गायत्रीम् । अत एव व्यासः—

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीं तु जपेत्ततः ।

प्रणवोऽप्यत्र मन्त्रादौ द्रष्टव्यः । तथा च संवर्तः—

प्रणवाद्यां तु सन्ध्यायां जपेद्ब्रह्माहृतिभिस्सह ।

इति । व्याहृतयोऽप्यत्र भूराद्यास्तिस्र एव । योगयाज्ञवल्क्यस्त्वन्तेऽपि प्रणवयोग माह—

ओङ्कारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवस्स्वस्त्यैव च ।

गायत्रीं प्रणवं चान्ते जप एवमुदाहृतः ॥

इति । एषा सम्पुटगायत्री । अत्र विशेषमाह बोधायनः—

‘उभयतःप्रणवां सव्याहृतिकाम्’.

इति । गायत्री¹ मावर्तयेदित्यनुवर्तते । वृद्धमनुरपि—

षडोङ्कारां जपन्विप्रो गायत्रीं मनसा शुचिः ।

अनेकजन्मजैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥

इति । सा च किलक्षणेत्यपोक्षिते स एवाह—

तिस्रो व्याहृतयः पूर्वं षडोङ्कारसमन्विताः² ।

पुनस्संहस्य चोङ्कारं मन्त्रस्याद्यन्तयोस्तथा ॥

सोङ्कारा चतुरावृत्या विज्ञेया सा शताक्षरा ।

शताक्षरां समावर्त्य सर्ववेदफलं लभेत् ।

एतया ज्ञातया निसं वाङ्मयं विदितं भवेत् ॥

¹ सावित्री—ख.

² पृथगोङ्कारसंयुताः—वैद्य.

उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम् ।

इति । अस्यार्थः—सोङ्कारेत्यनेन व्याहृतीनां सङ्ख्याऽननुप्रवेश-
माह । एवं चोङ्कारेण सह पञ्चविंशत्यक्षरा चतुरावृत्त्या शताक्षरा
सम्पद्यत इति । अत्र जपयज्ञं प्रकृत्य नृसिंहपुराणम्—

त्रिविधो जपयज्ञस्त्यात्तस्य भेदं निबोधत ।

वाचिकाख्य उपांशुश्च मानसस्त्रिविधस्मृतः ॥

त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः ।

इति । अत्र हारीतः—

उच्चैस्त्वेकगुणः प्रोक्तो ध्वानो दशगुणस्मृतः ।

उपांशुस्स्याच्छतगुणस्साहस्रो मानसस्मृतः ॥

उच्चोपांशुत्वयोर्लक्षणं पुराणे दर्शितम्—

यदुच्चनीचस्वरितैस्स्पष्टैस्स्पष्टपदाक्षरैः ।

मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञस्त वाचिकः ॥

शनैरुदीरयेन्मन्त्रमीषदोष्टौ प्रचालयेत् ।

किञ्चिच्छ्रद्धं स्वयं विद्यादुपांशुस्त जपस्मृतः ॥

मानसस्य तु लक्षणं वैयाघ्रपादेनोक्तं—

यो भवेदचलज्जिह्वादशनावरणो जपः ।

स मानसस्तमाख्यातो जपश्श्रुतिपरायणैः ¹ ॥

इति । वर्णानुपलब्ध्या स्वरमात्रोपलब्धेर्ध्वानः । यत्पुनर्व्या-
सेनोक्तं—

नोच्चैर्जप्यं बुधः कुर्यात्सावित्र्यास्तु विशेषतः ।

इति, तन्मानसादिजपप्रशंसाभिप्रायं, न पुनरुच्चैस्त्वप्रतिषेधार्थम् ।
तथात्वे—

उपांशुजपयुक्तस्य शंस्याच्छतगुणं भवेत् ।

इति वचनाविरोधस्यात् । शंस्य उच्चैर्जपः । अत्र जपनियमप्रका-
रमाह शौनकः—

कृत्वोत्तानौ करौ प्रातः सायं चाधोमुखौ ततः ।

मध्ये स्तब्धकराभ्यां^१ तु जप एवमुदाहृतः ॥

बृहस्पतिरपि—

मनस्संहरणं^२ शौचं मौनं मन्त्रार्थाचिन्तनम् ।

अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतवः ॥

व्यासोऽपि—

न चङ्क्रमन्न च हसन्न पार्श्वानवलोकयन् ।

नापाश्रितो न जल्पंश्च न प्रावृतशिरास्तथा ॥

न पदा पदमाक्रम्य न चैव हि तथा करौ ।

न चासमाहितमना न च संश्रावयञ्जपेत् ॥

होमः प्रतिग्रहो दानं भोजनाचमने जपः ।

न बाहिर्जानु कार्याणि साङ्गुष्ठानि सदाऽऽचरेत् ॥

सुमन्तुरपि—

नाधोरन्निर्नान्यमना न च व्यत्यस्तपत्करः ।

अपवित्रकरो नग्नश्शिरसि प्रावृतोऽपि वा ॥

^१ स्कन्धभुजाभ्यां—स्मृतिरं. ^२ मनस्संहरणं—ख. मनःप्रहर्षणं—स्मृतिरं.

प्रलपन्वा जपेद्यावत्तावन्निष्फलमुच्यते ।

शातातपोऽपि—

दर्भहीना च या सन्ध्या यच्च दानं विनोदकम् ।

असङ्ख्यातं च यज्जप्यं तत्सर्वं स्यान्निरर्थकम् ॥

बोधायनोपि—

‘नाभेरधस्पर्शनं’¹ कर्मसंयुक्तो वर्जयेत् ’

इति । यमोऽपि—

नाभेरधस्त्यकायं तु स्पृष्ट्वा प्रक्षालयेत्करौ ।

दक्षिणं वा स्पृशेत्कर्णं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ॥

शौनकोऽपि—

पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठेदुपासीनस्तु पश्चिमाम् ।

न चान्तरा व्याहरेत्तु विरमेद्वा कथं चन ॥

इति । अत्र क्वचिदपवादमाह स एव—

विरमेद्वाह्वणे प्राप्ते कामं तेन च संवदेत् ।

शूद्रं दृष्ट्वा तु सम्प्राप्तं नाधीयीत कथं चन ॥

शूद्रं दृष्ट्वा विरमेदेव न संवदेदित्यर्थः । व्यासोपि—

जपकाले न भाषेत व्रतहोमादिकेषु च ।

एतेष्वेवावसक्तं तु यद्यागच्छेद्विजोत्तमः ॥

अभिवाद्य ततो विप्रं योगक्षेमं च कीर्तयेत् ।

इति । अवसक्तोऽवहितः । प्रमादकृते तु वाग्यमलोपे योगयाज्ञ-
वल्क्योक्तं द्रष्टव्यं—

यदि वाग्यमलोपस्स्याज्जपादिषु कथं चन ।

व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ॥

इति । तथा देशनियमोऽपि तेनैव दर्शितः—

अग्रचगारे जलान्ते वा जपेद्देवालयेऽपि वा ।

पुण्यतीर्थे^१ गवां गोष्ठे द्विजक्षेत्रेऽथ वा गृहे ॥

अत्र शङ्कः—

गृहे त्वेकगुणं जप्यं नद्यादौ द्विगुणं स्मृतम् ।

गवां गोष्ठे दशगुणमग्रचगारे शताधिकम् ॥

सिद्धक्षेत्रेषु तीर्थेषु देवतानां च सन्निधौ ।

सहस्रशतकोटिस्स्यादनन्तं विष्णुसन्निधौ ॥

अत्रापि विशेषः कूर्मपुराणे दर्शितः—

गुह्यका राक्षसास्सिद्धा हरन्ति प्रसभं यतः ।

एकान्ते शुद्धदेशे च^२ तस्माज्जप्यं समाचरेत्^३ ॥

अङ्गिरा अपि—

प्रच्छन्नानि च दानानि ज्ञानं च निरहङ्कृतम् ।

जप्यानि च सुगुप्तानि तेषां फलमनन्तकम् ॥

^१ तीर्थे क्षेत्रे—क.

^२ शुभदे देशे—क.

^३ तस्माद्गुप्तं जपेद्बुधः—स्मृतिर.

इति । अत्र जपसङ्ख्यामाह यमः—

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावरां ।

गायत्रीं तु जपेन्नित्यं सर्वपापमणाशिनीम् ॥

इति । दशावरामित्यापद्विषयम् । बोधायनोऽपि—

‘दर्भेष्वासीनो दर्भान्धारयमाणस्सोदकेन पाणिना

प्राङ्मुखस्सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छतकृत्वोऽ-

परिमितकृत्वो वा’.

इति । सहस्रकृत्व इति वानप्रस्थादिविषयम् । तथा च योग-
याज्ञवल्क्यः—

ब्रह्मचार्याहिताग्निश्च शतमष्टोत्तरं जपेत् ।

वानप्रस्थो यतिश्चैव सहस्रादधिकं जपेत् ॥

इति । तयोरनग्निकत्वेन होमकालानतिपत्तेरिति भावः । शतम-
ष्टोत्तरमित्यनुदितहोमविषयम् । ब्रह्मचारिणोऽपि,

सन्ध्ययोरग्निकर्म च

इति प्रागुदयादग्निकार्यस्मरणादविरोधः । उदितहोमिनस्तु मनूक्तं
द्रष्टव्यं—

पूर्वा सन्ध्यां जपेत्तिष्ठन् सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगार्क्षविभावनात् ॥

इति । ऋक्षं नक्षत्रम् । अत्र तिष्ठन् जपेदिति व्यत्ययेनान्वयः,
जपस्यैव प्रधानत्वात् । अत एव शङ्कः—

पूर्वा सन्ध्यां जपेत्तिष्ठन्नासीनः पश्चिमां तथा ।

इति । ननु च—‘नान्तरा विरमेत्’ इति जपमध्ये विरमणनिषेधा-
दनुदित¹ होमिन आहिताग्नेर्विरमणासम्भव एव? मैवं, तस्य
श्रुतिलक्षणत्वेन मध्येऽपि विरमणेऽविरोधात्। अत एवापस्तम्बः—

‘विप्रतिषेधे श्रुतिलक्षणं बलीयः’

इति । अत्र जपानन्तरं गोबिलः —

महेश्वरमुखोत्पन्ना विष्णोर्हृदयसम्भवा ।

ब्रह्मणा समनुज्ञाता गच्छ देवि यथेच्छया ॥

इति गायत्रीविसर्जनमन्त्रः । शौनकोऽपि—

आवाहनं तैत्तिरीय उक्तं चापि विसर्जनम् ।

इति । अत्र,

‘उत्तमे शिखरे देवि’

इति विसर्जनमन्त्रः । अत्र गोबिलः —

न कदाचिदपि प्राज्ञो गायत्रीमुदके जपेत् ।

गायत्र्यग्निमुखा प्रोक्ता तस्मादुत्थाय तां जपेत् ॥

इति । श्रुतिरपि—

‘अग्निमुखा गायत्री, तस्मिन्नाप्सु जपेत्’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां गायत्रीजपविधिः —

गायत्रीजपविषयाः

अथान्यान्यपि गायत्रीजपविषयाण्येव कानिचिद्वचनानि लि-
ख्यन्ते । तत्र मनुः —

¹ धादुदित—क.

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य वहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।

महतोऽप्येनसो मासाच्चचेवाहिर्विमुच्यते ॥

प्रणवो व्याहृतयस्सावित्री चेति त्रिकम् । संवर्तोऽपि—

ब्रह्मचारी मिताहारस्सर्वभूतानुकम्पनः ।

गायत्रीलक्षजापेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अयाज्ययाजनं कृत्वा भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।

गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपं कृत्वा विशुद्ध्यति ॥

ऐहिकामुष्मिकं पापं सर्वं निरवशेषतः ।

पञ्चरात्रेण गायत्रीं जपमानो व्यपोहति ॥

चतुर्विंशतिमतेऽपि—

गायत्र्यास्तु जपेत्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।

वसिष्ठोऽपि—

गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपं कृत्वोत्थिते रवौ ।

मुच्यते पातकैस्सर्वैर्यदि न भ्रूणहा भवेत् ॥

लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ।

पुनाति हेमहर्तारं गायत्रीलक्षसप्ततिः ॥

गायत्र्याषष्टिभिर्लक्षैर्मुच्यते गुरुतल्पगः ।

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

यत्र यत्र च सङ्कीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।

तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या जप एव वा ॥

यमोऽपि—

घृतयुक्तैस्तिलैर्वर्हिं हुत्वा तु सुसमाहितः ।
गायत्र्याः प्रयतश्शुद्धस्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
स्नायाच्छतेन गायत्र्याश्शतमन्तर्जले जपेत् ।
अपश्शतेन पीत्वा तु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

व्यासोऽपि—

संवत्सरं वा षण्मासान् यो जपेद्विधिवद्विजः ।
सोऽचिरात्सर्वकामास्तु प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥

मार्कण्डेयोऽपि—

सर्वेषामेव पापानां सङ्करे समुपस्थिते ।
दशसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनं परम् ॥
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां गायत्रीविषयाः.

जपमाला

अथ जपमाला । तत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

स्फाटिकेन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रजीवसमुद्भवैः ।
अक्षमाला तु कर्तव्या उत्तमा ह्युत्तरोत्तरा ॥

पुराणेऽपि—

अक्षमूत्रं तु कर्तव्यं मुक्तामणिमयं शुभम् ।
सौवर्णं राजतं ताम्रं स्फाटिकं वाऽथ कारयेत् ॥

हारीतोऽपि—

शङ्करूप्यमयी माला काञ्चनी निम्बजैः फलैः ।
पद्माक्षकैश्च रुद्राक्षैर्विद्रुमैर्मणिमौक्तिकैः ॥

रजतेन्द्राक्षकैर्माला तथैवाङ्गुलिपर्वभिः ।

पुत्रजीविमयी माला शस्ता वै जपकर्माणि ॥

अत्र व्यासः—

हिरण्यरत्नमणिभिर्जप्यं शतगुणं भवेत् ।

सहस्रगुणमिन्द्राक्षै रुद्राक्षैरयुतं भवेत् ॥

नियतं प्रयुतं वा स्यात्पद्माक्षैस्तु न संशयः ।

पुत्रजीविकजप्यस्य परिसङ्ख्या न विद्यते ॥

स्मृत्यन्तरेऽपि—

हस्तसङ्ख्याकृताज्जप्यादरिष्टैरष्टधा फलम् ।

पुत्रजीवेन दशधा फलं स्यान्मन्त्रजापिनाम् ॥

शतधा शङ्खपद्माभ्यां मणिभिस्तु सहस्रधा ।

कुशग्रन्थ्या च रुद्राक्षैः फलं लक्षगुणं भवेत् ॥

हारीतोऽपि—

जप्यं शतगुणं प्रोक्तं निम्बवारिष्टकमालया ।

रुद्राक्षैर्लक्षगुणितं विद्रुमैर्दशलक्षकम् ॥

मौक्तिकैस्फटिकैश्चैव कोटिकोटिगुणोत्तरम् ।

परिसङ्ख्या न विज्ञेया रुद्राक्षाङ्गुलिपर्वभिः ॥

पद्माक्षैः पुत्रजीवैश्च परिसङ्ख्या न विद्यते ।

ब्रह्माऽपि—

रुद्राक्षैर्द्विगुणं हेम्नः पद्मबीजैस्तथाऽर्बुदम् ।

कुशग्रन्थ्या द्विजश्रेष्ठ कोटिकोटिर्विशिष्यते ॥

रुद्राक्षं प्रकृत्य स्कन्दपुराणे—

लक्षकोटिसहस्रस्य लक्षकोटिशतस्य च ।

जपे च लभते पुण्यं नात्र कार्या विचारणा ॥
 उच्छिष्टो वा विकर्मस्थस्संलिप्तस्सर्वपातकैः ।
 मुच्यते सर्वपापेन रुद्राक्षस्य तु धारणात् ॥
 रुद्राक्षं कण्ठ आधाय श्वाऽपीह म्रियते यदि ।
 सोऽपि रुद्रपदं याति किं पुनर्मानुषादयः ¹ ॥
 इति । अत्र पुराणम्—

स्फाटिकं त्वक्षसूत्रं तु शान्तिपुष्टिकरं हि तत् ।
 सर्वसिद्धिकरं स्वर्णं मौक्तं राजतमेव च ॥
 भुक्तिमुक्तिप्रदं शङ्खं पद्मेन्द्राक्षौ च दर्भजम् ।
 सर्वकामप्रदं धन्यमायुष्यं सर्वसिद्धिदम् ॥
 पुत्रजीवाक्षसूत्रं तु शान्तिपुष्टिप्रदायकम् ।
 हारीतोऽपि—

शङ्खहेममयी रौप्या माला वै शान्तिकर्मणि ॥
 पद्माक्षैरिन्द्ररुद्राक्षैर्मृन्मयैः पुष्टिकर्मणि ।
 पुत्रजीवाङ्गुलीपर्वमाला स्यान्मुक्तिसिद्धिदा ॥
 स्फटिकै रचिता माला मुक्तिदा वित्तदा तथा ।
 इति । अत्र सङ्ख्यानियममाह ब्रह्मा—

अष्टोत्तरशतां कुर्याच्चतुःपञ्चाशिकां तथा ।
 सप्तविंशतिका कार्या ततो नैवाधिका मता ॥
 अष्टोत्तरशता माला उत्तमा सा प्रकीर्तिता ।
 चतुःपञ्चाशिका या तु मध्यमा सा प्रकीर्तिता ॥

¹ मानुषा वयम्— क,

अधमाऽप्युच्यते निसं माला द्वात्रिंशसम्भवा ।
 उत्तमेषु च साध्येषु भोगमोक्षप्रदेषु च ॥
 अष्टोत्तरशतायां तु मालायां जपमाचरेत् ।
 चतुःपञ्चाशिकायां वा नाधमायां कदाचन ॥
 वश्यादिक्षुद्रकर्माणि मारणोच्चाटनानि च ।
 विद्वेषोन्मादमोहानि जपेद्द्वात्रिंशकैर्द्विजः ॥
 अधमेनाधमान्येव ह्यक्षसूत्रेण योजयेत् ।
 अधमे चाधमां मलां उत्तमां तु विसर्जयेत् ॥

इति । अत्र स्कन्दपुराणम्—

तर्जन्या न स्पृशेत्सूत्रं कम्पयेन्न च धूनयेत् ।
 अङ्गुष्ठस्य तु मध्यस्थे परिवर्तं समाचरेत् ॥
 उल्लाङ्घिते तथा मेरौ पातिते चाक्षसूत्रके ।
 प्राणायामशतं कृत्वा घृतप्राशनमाचरेत् ॥

अङ्गुष्ठाकर्षणं—

मध्यमाकर्षणं तस्य सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
 नान्याङ्गुलिभिराकर्षेन्न नखैश्च तथा स्पृशेत् ॥

इति । इति श्रीसकलविद्याविशारदश्रीकेशवादित्यभट्टोपाध्यायसू-
 नुना याज्ञिकदेवणभट्टोपाध्यायेन विरचितायां स्मृतिचन्द्रिकायां
 प्रातस्सन्ध्याकाण्डं सम्पूर्णम्.

अभ्युक्षणाहरणम्.

अथाभ्युक्षणाहरणम् । तत्र शाध्यायानि:—

ततस्सूर्यमुपस्थाय सम्यगाचम्य च स्वयम् ।

अभ्युक्षणं समादाय संयतात्मा गृहं व्रजेत् ॥

इति । आचम्य द्विरिति शेषः । तथा च वृद्धं शातातपः—

ततस्सम्यग्विद्वराचम्य अभ्युक्षणमथाहरेत् ।

न विनाऽभ्युक्षणं जातु विधिज्ञः किञ्चिदाचरेत् ॥

आहरणे विशेषमाह शाध्यायानि:—

सोपानत्कस्सदर्भश्च पात्रस्थं सदशोत्तरः ॥

इति । अभ्युक्षणमाहरेदिति शेषः । सदशमुत्तरीयं यस्यासौ
सदशोत्तरः । प्रचेता अपि—

अनुगुप्ता अपो गृह्य प्रचारार्थं गृहं व्रजेत् ।

सवने प्रोक्षणं कुर्याद्गृही तेन सदा शुचिः ॥

इति । अनुगुप्ताः केनाप्यदृष्टाः । सवने प्रातरादौ । अत एव
गर्गः—

त्रिसन्ध्यं वाग्यतो वारि गुप्तमाहृत्य शोधयेत् ।

शोधयेत्सम्यक्परीक्षेत् । अत्र कालनियममाह गोविलः—

‘पुरा प्रादुष्करणवेलायास्सायं प्रातरनुगुप्ता अप

आहरेत्परिचरणीयाः’

इति । प्रादुष्करणं विहरणम् । अत्र पात्रनियममाह योगयाज्ञ-
वल्क्यः—

सौवर्णं राजतं ताम्रं मुख्यं पात्रं प्रकीर्तितम् ।
तदलाभे तु मृत्पात्रं स्रवते यन्न धारितम् ॥

शाठ्यायनिरपि—

आश्वं हिरण्यं रौप्यं दारवं मृन्मयं दृढम् ।
ताम्रं पत्रपुटं पुण्यं पात्रमभ्युक्षणाय वै ॥

पत्रपुटं पात्रान्तरालाभविषयम् । यदाहापस्तम्बः—

सर्वालाभे तु पात्राणां पर्णपात्रं विधीयते ।
पात्रं तदापि विज्ञेयं स्रवते यन्न धारितम् ॥

तथा वर्ज्यान्यपि स एवाह—

शैवालवालुकादूर्वातृणपर्णायसैरपि ।
अभ्युक्षणं न गृहीयादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः ॥

इति ।

नालिकाभिन्नपात्रेण कांस्थपात्रेण चैव हि ।
प्राण्यङ्गफलजेनापि कुर्यान्नाभ्युक्षणं द्विजः ॥

इति । नालिका वेणुमयी । प्राण्यङ्गं शङ्खशुक्ल्यादि । फलजं
नारिकेलबिल्वादिमयम् । वृद्धशातातपोऽपि—

शैवालतृणपर्णैरसंस्काराम्बुभाजनैः ।
सिकतावस्त्रलेपैश्च न कुर्यात्प्रोक्षणं बुधः ॥

असंस्काराम्बुभाजनैः उक्तसम्मार्जनादिसंस्काररहितैरिति या-
वत् । यमोऽपि—

पात्राद्विरहितं तोयमुद्धृतं सव्यपाणिना ।
न तेन प्रोक्षणं कुर्याद्विस्त्रनिष्पीडनेन च ॥

इति । पात्राद्विरहितं पाण्यादिनाऽऽहृतम् । अत एव शाठ्यायानिः—
नाहरेदेकपात्रस्तु नात्रतो न च कन्यका ।
न पाणिना न वस्त्रेण तोयमभ्युक्षणाय वै ॥

एकपात्रः पिधानरहितः । अत्रतोऽनुपनीतः अत एव प्रचेताः—
नाहरेदेकजातिस्तु न वटु¹र्न च कन्यका ।
नानुपेतो नैकवस्त्रस्तोयमभ्युक्षणाय वै ॥

एकजातिश्शूद्रः । तथा च मनुः—
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥

इति । अभ्युक्षणानन्तरं प्रचेताः—

अभ्युक्षणोदपात्रं तु न तावत्स्थाप्यते कश्चित् ।
यावन्नाचमनं दत्तं प्रोक्षिता न गलन्ति याः ॥
अनेनाहृताभ्युक्षणमनिधायैवाचम्य प्रोक्ष्य निदध्यादित्युक्तं भ-
वति । शाठ्यायनिरपि—

प्रोक्षणग्रहणं पात्रं निदधद्गृह²मागतः ।
अकृत्वाऽऽचमनं भूमावाचान्तः प्रयतो भवेत् ॥

¹ शिशु—स्मृतिर.

² पात्रमविन्दद्गृह—ग; पात्रमनिदधद्गृह—क. ख.

इति । आचमनमकृत्वा प्रोक्षणपात्रं भूमावनिदधदाचान्तः प्रय-
तो भवेदित्यर्थः¹ । आचमनानन्तरं पुलस्त्यः—

तेन द्रव्याण्यशेषाणि प्रोक्ष्याचम्य पुनर्गृहे ।

ततः कर्माणि कुर्वीत सत्क्रियाश्च द्विजोत्तमः ॥

इति । अत्र गृहे पुनराचम्य तेन द्रव्याणि प्रोक्षयेदित्यन्वयः ।

द्रव्याण्यपि गर्गेण दर्शितानि—

त्रिसन्ध्यं वाग्यतो वारि गुप्तमाहृत्य शोधयेत् ।

होमोपहारभूगेहद्रव्यात्मपरिचारकान् ॥

यमोऽपि—

अभ्युक्षेत्तु प्रयत्नेन प्रातः पर्युषितं² गृहम् ।

मध्याह्ने चैव सन्ध्यायां न चानभ्युक्षिते यजेत् ॥

अत्र गर्गः—

गोचर्ममात्रमब्विन्दुर्गां शोधयति पातितः ।

समूढामसमूढां वा यत्र लेपो न विद्यते ॥

उक्ताभ्युक्षणासमर्थं प्रकृत्य शास्त्रायनिः—

नद्यादौ सम्यगाचान्तस्संयतो गृहमागतः ।

उद्धृत्य मणिकात्तोयमथाभ्युक्षणमाचरेत् ॥

गृहे वा समुपस्पृश्य कृत्वा स्वर्णकुशोदकम् ।

कृत्वाऽऽचमनमाचान्तः पुनः प्रोक्षणमाचरेत् ॥

¹ आचमनमकृत्वा प्रोक्षणपात्रं भूमौ निक्षिपन्नाचान्तश्शुचिर्भवोदित्यर्थः—

स्मृतिर.

² प्रातः रात्र्युषितं—ग.

आद्या व्याहृतयस्तिस्त्रस्वधा स्वाहा नमो वषट् ।

यस्यैते वेश्मनि सदा ब्रह्मलोकस्थ एव सः ॥

अङ्गिरा अपि—

यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं पृथिवीं च ससागराम् ।

तत्सायंप्रातर्होमस्य तुल्यं भवति वा न वा ॥

सत्यव्रतोऽपि—

शिलोज्झितां तु यद्धर्म्यमहन्यहनि यत्फलम् ।

तदर्शपूर्णमासाभ्यां सम्यगाप्नोति वै द्विजः ॥

वायुपुराणे—

दर्शं च पूर्णमासं च ये यजन्ति द्विजातयः ।

न तेषां पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात्कदा चन ॥

पैठीनसिरापि—

हुताग्निहोत्रस्य कृताग्निकस्य

समाप्तजप्यस्य पथि¹ स्थितस्य ।

यद्ब्राह्मणस्यात्मनि ब्रह्मवीर्यं

तत्काङ्क्षन्ते ऋषयो वै समस्ताः ॥

हारीतोऽपि—

नास्तथयज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम् ।

अनिष्टयज्ञोऽपूतात्मा भ्रदयति छिन्नपर्णवत् ॥

¹ समास्य जन्मार्थपथे—ग.

यज्ञेन लोका विमला विभान्ति
यज्ञेन देवा अमृतत्वमापुः ।
यज्ञेन पापैर्वहुभिर्विमुक्तः
प्राप्नोति लोकान्परमस्य विष्णोः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायामग्निहोत्रमहिमा.

कर्माणि.

अथ कर्माणि । तत्र मनुः—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्त्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥
एतत्स्मार्तस्यापि प्रदर्शनार्थम् । अत एव विष्णुः—
श्रौतं स्मार्तं च यत्किञ्चिद्विधानं सर्वमादरात् ।
गृहे निवसता कार्यमन्यथा दोषमृच्छति ॥
स्मार्तं गृहोक्तमौपासनादि । तद्वैवाहिकाग्नौ कार्यम् । तथा च
याज्ञवल्क्यः—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रसहं गृही ।
दायकालाहते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥
श्रौतमाग्निहोत्रादि । वैतानिका गार्हपत्यादयः । गौतमोऽपि—
'भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा तस्मिन्गृहाणि.'

इति । दायं पितृधनम् । अत्र भार्यादित्वे दायादित्वे च यथा
स्वगृहं व्यवस्था । एवं च यदुक्तं गार्ग्येण—

कृत्वा दारान्न¹ वै तिष्ठेत्क्षणमप्यग्निना विना ।
 तिष्ठेत चेद्विजो ब्राह्मस्तथा च पतितो भवेत् ॥
 यथा स्नानं यथा भार्या वेदस्याध्ययनं यथा ।
 तथैवोपासनं दृष्टं न स्थितिस्तद्वियोगतः ॥

इति, यदपि वसिष्ठेन—

‘अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्रयशूद्रधर्माणो भवन्ति’

इति, यदपि व्यासेन—

योऽगृहीतविवाहाग्निर्गृहस्थ इति मन्यते ।

अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः ॥

इति, तदधिकारप्राप्तौ सत्यां वेदितव्यम् । अश्रोत्रिया वेदर-
 हिताः । अनुवाक्यमनुवचनं तद्विहीना अननुवाक्या ज्ञानरहिता
 इत्यर्थः । अत्र गर्गः—

यो वैदिकमनादृत्य कर्म स्मार्तैतिहासिकम् ।

मोहात्समाचरेद्विप्रो न स पुण्येन युज्यते ॥

प्रधानं वैदिकं कर्म गुणभूतं तथेतरत् ।

गुणनिष्ठः प्रधानं तु हित्वा गच्छत्यधोगतिम् ॥

इति । एतद्विद्यमानवैदिकसामर्थ्यविषयम् । अत एव व्यासः—

श्रौतं कर्म न चेच्छक्तः कर्तुं स्मार्तं समाचरेत् ।

अत्राप्यशक्तः करणे सदाचारो भवेद्बुधः² ॥

अनेन सति सामर्थ्ये भवितव्यं वैदिकेनेत्युक्तं भवति ।

¹ कृतदारो न—क. ख.

² सदाचारे लभेद्बुधः—ग.

उक्तं च वसिष्ठेन—

‘अलमग्रचाधेयाय नानाहिताग्निस्स्यात्,

अलं च सोमाय नासोमयाजी.’

इति । अलं समर्थ इत्यर्थः । सामर्थ्यं चानाहिताग्निपितृराहिसा-
दि । एवं च यस्याधानादिसामर्थ्यमस्ति तस्यैव ‘अनाहिताग्निता
स्तेयम्’ इत्यादिदोषो नान्यस्येत्यनुसन्धेयम् । अत्र वसिष्ठः—

‘अवश्यं ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत । दर्शपूर्णमासाग्रय-
णेष्टिचातुर्मास्यपशुसोमैश्च यजेत.’

इति । हारीतोऽपि—

पाकयज्ञान्यजेन्नित्यं हविर्यज्ञांश्च निरक्षः ।

सौम्यांश्च¹ विधिपूर्वेण य इच्छेद्धर्ममव्ययम् ॥

इति । ते च गौतमेन दर्शिताः—

अष्टका पार्वणं श्राद्धं श्रावण्याग्रयणी चैत्र्याश्वयुजी
चेति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः । अग्रचाधेयमग्निहोत्रं
दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यान्याग्रयणेष्टिर्निरूपपशुव-
न्धस्सौत्रामणिरिति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः । अग्नि-
ष्टोमोऽस्यग्निष्टोम उक्थ्यष्षोडशी वाजपेयोऽतिरा-
त्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः.

इति । पार्वणं पर्वणि क्रियमाणं स्थालीपाकलक्षणम् । श्राद्धं
मासिश्राद्धम् । श्रावणी सर्पवलिः । आग्रयण्याग्रयणम् । चैत्री

होलकार्ख्यं कर्म । आश्वयुजी इन्द्रध्वजहोमाख्यं कर्म । अन्ये
प्रसिद्धाः । केचित् 'औपासनहोमो वैश्वदेवं पार्वणमष्टका मासि-
श्राद्धं सर्पबलिरीशानबलिः' इति सप्त पाकयज्ञानाहुः । एवमेकविं-
शतिसंस्थं यज्ञमभिधाय देवलः—

‘वाजपेयाश्वमेधराजसूयपौण्डरीकगोसवादयो म-
हायज्ञक्रतवः’

इति । अत्र कालनियममाह मनुः—

अग्निहोत्रं तु जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोस्सदा ।

दर्शेन चार्धमासान्ते पूर्णमासेन चैव हि ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्टया तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।

पशुना त्वयनस्यान्ते समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥

इति । आद्यन्ते द्युनिशोस्सायं प्रातस्सन्ध्ययोरित्यर्थः । अध्वरै-
श्चातुर्मास्यैः,

सस्ययुक्तो नवेष्टया तु चातुर्मास्यैस्स्मृतो मखः ।

इति जावालिस्मरणात् । अत्रानुकल्पमाह याज्ञवल्क्यः—

प्रतिसंवत्सरं सोमः पशुः प्रत्ययनं तथा ।

कर्तव्याऽऽग्रयणोष्टिश्च चातुर्मास्यानि चैव हि ॥

एषामसम्भवे कुर्यादिष्टिं वैश्वानरीं द्विजः ।

इति । एषां सोमादीनां कथंचिदसम्भवे प्रतिनिधित्वेन तत्तत्काल
एव पृथक्पृथगेनामिष्टिं निर्वपेदित्यर्थः । तत्तत्कार्यकरत्वेन तत्त-
द्धर्मलाभात् ;

‘प्रतिनिधिस्तद्धर्मा च स्यात्’

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । नन्वेवं तर्हि सौमिकादिविध्यन्तरप्राप्ति-
स्स्यात् ? मैवं, अग्निहोत्रादिशब्दस्य तत्तदङ्गवर्गप्राप्त्यर्थत्वात्¹ ।
यत्पुनर्मनुनोक्तं—

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।

लक्ष्मणानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥

इति । तदपि पश्वादि कार्य एवेष्टिविधानपरं न पुनस्तदकरणे
प्रायश्चित्तविधानार्थम् । निष्कृतिस्सोमादिकार्यनिष्पत्तिः । यद्येवं
वैश्वानर्यैवालं किमन्यैरित्याशङ्क्यानन्तरमाह स एव—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।

स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥

विश्वैश्च देवैस्साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।

आपत्सु मरणाद्रीतौर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥

इति । विधेर्मुख्यस्येत्यर्थः । अतो निष्कृतिग्रहणेऽपि वैश्वानरेष्टिः
प्रतिनिधिरेव न प्रायश्चित्तमित्यनुसन्धेयम् । एतेनैतेषां नित्यत्व-
मित्युक्तं भवति । उक्तं च प्रजापतिना अकरणे प्रायश्चित्तवि-
धानात्—

काले त्वाधाय कर्माणि अपवासी विशेषतः ।

तपः कुर्वस्त्रिरात्रेण मासि मासि विशुद्ध्यति ।

दर्शं वा पौर्णमासीं वा लुप्त्वा चोभयमेव वा ॥

¹ अग्निहोत्रादिशब्दवत्तदन्तर्गतधर्मप्राप्त्यर्थत्वात् . ग.

एकस्मिन्कृच्छ्रपादेन द्वयोरर्धेन शोधनम् ।
 हविर्यज्ञेष्वशक्तस्य लुप्तमप्येकमादितः ॥
 प्राजापत्येन शुद्ध्येत पाकसंस्थासु चैव हि ।
 सन्ध्योपासनहानौ तु नित्यस्नानं विलोप्य च ॥
 होमं च नैत्यकं शुद्ध्येत्सावित्र्यष्टसहस्रकृत् ।
 समान्ते सोमयागानां हानौ चान्द्रायणं चरेत् ॥
 अकृत्वाऽन्यतमं यज्ञं यज्ञानामधिकारतः ।
 उपवासेन शुद्ध्येत पाकसंस्थासु चैव हि ॥

कात्यायनोऽपि—

पितृयज्ञात्यये चैव वैश्वदेवद्वयस्य च ।
 अनिष्टा नवयज्ञेन नवान्नप्राशने तथा ॥
 भोजने पतितान्नस्य चरुवैश्वानरो भवेत् ।

इति । मनुरप्यकृतनवयज्ञस्य नवाशननिषेधमाह—

नानिष्टा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः ।
 नवान्नमद्यान्मांसं च दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥

अयं च नवान्ननिषेधो वक्ष्यमाणव्रीह्याद्यभिप्रायेण । तथा चाप-
 स्तम्बः—

‘यदकृत्वाऽऽग्रयणं नवस्याश्वीयाद्देवेभ्यो भागं प्रति-
 कृप्तमद्यादार्तिमाच्छेत्’

इति । विष्णुरपि—

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः ।

अकृताग्रयणो नाद्यादन्येष्वनियमस्मृतः ॥

इति । अत्र कालनियममाहापस्तम्बः —

‘वर्षासु श्यामाकैर्यजेत शराद्वि व्रीहिभिर्वसन्ते यवै
र्यथर्तु वेणुयवैरिति विज्ञायते ’

इति । श्रुतिरपि—

‘गृहमेधी व्रीहियवाभ्यां शरद्वसन्तयोर्यजेत श्यामाकै-
र्नीवारैर्वा वर्षास्वापत्कल्पोऽन्योन्येन पुराणैर्वा ’

इति । अत्र कूर्मपुराणं—

नास्ति क्वादथ वाऽऽलस्याद्योऽग्नीन्नाधातुमिच्छति ।

यजेत वा न यज्ञेन स याति नरकान्बहून् ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ब्राह्मणोऽपि विशेषतः ।

आधायार्घ्यं विशुद्धात्मा यजेत परमेश्वरम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामग्निहोत्रादिकर्माणि.

अधिकारिनिरूपणम्.

उक्तान्याधानादीनि कर्माणि । अधुना तत्र तत्रा-

धिकारी निरूप्यते । तत्र वासिष्ठः —

‘अलमग्न्याधेयाय नानाहिताग्निस्स्यादलं च सो-
माय नासोमयाजी’

इति । अलं समर्थ इत्यर्थः । तच्च सामर्थ्यं याज्ञवल्क्येन
दर्शितं—

त्रैवार्षिकाधिकान्नो यस्त हि सोमं पिबेद्विजः ।

इति । वर्षत्रयं यावद्भृत्यभरणपर्याप्तमन्नमाधिकं वा यस्यास्ति स सोमं पिबेत् सोमेन यजेतेत्यर्थः । तथा च मनुः —

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वाऽपि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥

एतत्काम्यसोमाभिप्रायं, ऋणश्रुतेर्नित्यस्यावश्यकर्तव्यत्वात्; अकरणे प्रत्यवायविधानाच्च । उक्तं चानन्तरमेव मनुना—

अतस्स्वल्पीयसि द्रव्ये यस्सोमं पिबति द्विजः ।

अपीतसोमपूर्वोऽपि स न प्राप्नोति ¹ तत्फलम् ॥

इति । अतः उक्तादल्पीयसि द्रव्ये यः पूर्वमकृतसोमयागस्सोऽपि तस्य नित्यस्य फलं न प्राप्नोति । किमुत काम्यस्येत्यर्थः । अतो नाल्प ² धनः काम्यसोमयागं कुर्यात् । अनेनैवाभिप्रायेण शङ्कोऽपि—

त्रैवार्षिकाधिकान्नस्तु पिबेत्सोममतन्द्रितः ।

इष्टिं वैश्वानरीं कुर्यात्तथैवाल्पधनो द्विजः ॥

इति । इष्टिग्रहणं सोमयागात्प्राचीनाग्निहोत्रादिकर्मोपलक्षणार्थम् ।

अत एव याज्ञवल्क्यः —

प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत् ।

¹ स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति इति मुद्रितपुस्तके

² अतोऽर्थान्नाल्प — क.

इति । प्राक्सोमोद्भवाः प्राक्सोमिक्यः । मरुपि—

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः ।

न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथं चन ॥

इन्द्रियाणि यशस्स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।

हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥

मत्स्यपुराणेऽपि—

अन्नहीनो दद्वेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तथार्त्विजः ।

यजन्तं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥

इति । अन्नपरिमाणमापि शङ्खेनोक्तं—

सहस्रं भोजयेत्सोमे ब्राह्मणानां शतं पशौ ।

चातुर्मास्येषु सर्वेषु शतं पर्वणि पर्वणि ॥

इति । यत्तु श्रुतौ—

‘दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवत्यल्पिकांऽपि’

इति, तन्निसाभिप्रायम् । अत एव बोधायनः—

यस्य लुप्तानि निसानि तथैवाजस्रकाणि च ।

विपथस्थो हि न स्वर्गं गच्छेत्तु पतितो हि सः ॥

तस्मात्कन्दैः फलैर्मूलैर्मधुनाऽथ रसेन वा ।

नित्यं नित्यानि कुर्वीत न च निसानि लोपयेत् ॥

इति । तेनाल्पधनस्यापि नित्यसोमेऽधिकारसिद्धिः । एवमाधा-

नेऽपि द्रष्टव्यम् । तथा च प्रजापतिः—

सर्वसंस्थाधिकारी स्यादाहिताग्निर्धने सति ।

आदध्याग्निर्धनोऽप्यग्निं न तु पापभयाद्विजः ॥

न पापभयादाहिताग्निस्संस्थाधिकारी, किन्तु धने सखेव, तासां
काम्यत्वात् । निर्धनोऽल्पधन इत्यर्थः । मनुरपि—

प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वमग्नययाधेयस्य दक्षिणाम् ।

अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥

अविभवे तु ब्राह्मणोऽश्वमदत्त्वाऽप्याहिताग्निर्भवतीति भावः ।

अत एवापस्तम्बः—

‘यद्यनाढ्योऽग्नीनादधीत काममेवैकां गां दद्यात्’

इति । अत्र कालनियममाह विष्णुः—

‘यदहरेवैनं श्रद्धोपनमेत्तदहरेवादधीत’

इति । काष्णार्जिनिरपि—

पुत्रमुत्पाद्य कर्मैतत्कुर्याद्वैतानिकं बुधः ।

यथाकथंचिदादध्यात्माप्तं चेत्साधुतो धनम् ॥

इति । साधुग्रहणं शूद्रादिव्युदासार्थम् । अत एव मनुः—

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।

ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्रयुपसेविनाम् ।

पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि सन्तरेत् ॥

इति । अनेनाधानपूर्वकमग्निहोत्रं निषिद्ध्यते नाग्निहोत्रमात्रं,

‘वृषलाग्रयुपसेविनाम्’ इति शूद्राग्नित्ववचनात् । यमोऽपि—

उपादाय धनं शूद्राद्योऽग्निहोत्रमुपावसेत् ।
 शूद्राग्निहोत्री स भवेद्ब्रह्मवादिषु गर्हितः ॥
 परकर्मकरो नित्यं शूद्राग्नेः पर्युपासनात् ।
 आत्मानं समधः कृत्वा परांस्तारयते हि सः ॥

छागलेयोऽपि—

यश्शूद्रादधिगम्यार्थानग्निहोत्रमुपावसेत् ।
 दाता तत्फलमाप्नोति कर्ता च नरकं व्रजेत् ॥
 एवं यज्ञार्थेऽपि धने द्रष्टव्यम् । तत्रापि दोषश्रवणात् । तथा च
 यमः—

धर्मविद्ब्राह्मणश्शूद्राद्यज्ञार्थं नाहरेद्धनम् ।
 जायते प्रेत्य चण्डालश्शूद्रार्थेनेष्टदेवतः ॥

मनुरपि—

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत धर्मवित् ।
 यजमानस्तु भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

चण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात् ।

शङ्खोऽपि—

न शूद्रात्तु धनं भिक्षेत्सर्वं दद्यात्तु भिक्षितम् ।
 अनेनार्थादसर्वदानं निषिद्धमित्युक्तं भवति । अत एव मनुः—
 यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
 स याति भासतां विप्रः काकतां च शतं समाः ॥

यमोऽपि—

यज्ञार्थं भिक्षितं द्रव्यं यस्सर्वं नोपयोजयेत् ।

श्वपाकयोनौ जायेत स तदुक्त्वा तु दुर्मतिः ॥

इति । यदा तु प्रक्रान्तयज्ञस्य मध्ये कथंचित्पश्वाद्यसम्भवेन यज्ञः

प्रतिरुद्धः¹ तदा शूद्रादेस्तद्राह² मिसाह मनुः—

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धस्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनिं ॥

यो वैश्यस्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।

कुटुम्बात्तस्य तद्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वैश्मनः ।

न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥

योऽनाहिताग्निश्शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।

तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामधिकारिनिरूपणम्.

होमविधिः.

अथ होमविधिः । तत्र दक्षः—

सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयंहोमो विधीयते ।

स्वयंहोमफलं यत्स्यात्तदन्येन न लभ्यते ॥

किं तर्ह्यन्यहोमे फलमित्यपेक्षिते स एवाह—

होमे यत्फलमुद्दिष्टं जुह्वतस्स्वयमेव तु ।

¹ प्रतिबद्धः—ग.

² स्तदाहर्तव्य—क. ख.

हूयमाने तदन्येन फलमर्थं प्रपद्यते ॥

इति । अत्र कर्तृनियममाह शौनकः —

‘पाणिग्रहणादधिगृह्यं परिचरेत्स्वयं पत्न्यपि वा
पुत्रः कुमार्यन्तेवासी’

इति । अन्तेवासी शिष्यः । दक्षोऽपि—

ऋत्विक् पुत्रो गुरुभ्राता भागिनेयोऽथ विद्वतिः ।
एतैरपि हुतं यत्स्यात्तद्धुतं स्वयमेव तु ॥

विद्वतिर्जामाता । आपस्तम्बोऽपि—

‘अहरहर्यजमानस्त्वयमग्निहोत्रं जुहुयात्पर्वणि वा
ब्रह्मचारी वा जुहुयाद्ब्रह्मणा हि स परिक्रीतो भ-
वति । क्षीरहोता वा जुहुयाद्धनेन हि स परिक्रीतो
भवतीति बह्वचब्राह्मणम्’

इति । अत्र विशेषमाह विष्णुः —

‘स्वयमहुत्वा न परं याजयेत्’

इति । विष्णु^१ पुराणेऽपि—

ऋत्विक्पुत्रोऽथ पत्नी वा शिष्यो वाऽपि सहोदरः ।
प्राप्यानुज्ञां विशेषेण जुहुयाद्वा^२ यथाविधि ॥

एतत्सर्वं स्वयंहोमालाभविषयं, तस्यैव प्रशस्तत्वात् । तथा च
श्रुतिः —

अन्यैश्शतहुताद्धोमादेकांशिशिष्यहुतो वरः ।

^१ कूर्म—ग.

^२ जुहुयुर्वा—ग.

शिष्यैश्शतहुताद्धोमादेकः पुत्रहुतो वरः ।

पुत्रैश्शतहुताद्धोमादेको ह्यात्महुतो वरः ॥

इति । यत्पुनर्मनुनोक्तं—

नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।

होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तस्स च यस्य तत् ।

तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥

इति, तच्छ्रौताग्निविषयं, अग्निहोत्रग्रहणात् । एतेन न शौनकोक्ति-
विरोधः । कन्याग्रहणं पत्र्या अपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव
गोविलः —

‘ कामं गृह्यामौ पत्नी जुहुयात्सायम्प्रातर्होमौ ¹ ।’

इति । ऋत्विगादिहोमेऽपि यजमानसन्निधानेन भवितव्यमित्युक्तं
कात्यायनेन —

असमक्षं तु दम्पसोर्होतव्यं नर्त्विगादिना ।

द्वयोरप्यसमक्षं तु भवेजुतमनर्थकम् ॥

इति । अत्रापिशब्दात्कथंचिदन्यतराभावेऽपि न दोष इत्युक्तं
भवति । अत एव कचित्प्रवासानुग्रहस्तेनैव दर्शितः —

निक्षिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्यात्विजं तथा ।

प्रवसेत्कार्यवान्विप्रो वृथैव न चिरं वसेत् ॥

¹ गृह्यामौ जुहुयात्पत्नी सायं प्रातश्च होमयोः—वैद्य.

इति । अत्र यज्ञपार्श्वः —

दुहित्रा स्नुषया वाऽपि विहारो न विरुद्ध्यते ।

निर्लेपनं च पात्राणामुपलेपनमर्चनम् ॥

इति । विहारो विहरणम् । अत्र कालनियममाह कात्यायनः —

सूर्येऽस्तशैलमप्राप्ते षट्त्रिंशद्भिरिहाङ्गुलैः ।

प्रादुष्करणमग्नीनां प्रातर्भासां च दर्शने ॥

प्रादुष्करणं विहरणम् । तथा होमकालोऽपि तेनैव दर्शितः —

यावत्सम्यङ्गं भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वशः ।

न च लौहित्यमायान्ति तावत्सायं तु हूयते ॥

मरीचिरपि—

निरश्मिवत्यां सन्ध्यायां सूर्यनक्षत्ररश्मिभिः ।

होमकालस्स विज्ञेयो ह्यग्निगर्भा तथा मही ॥

आपस्तम्बोऽपि—

समुद्रो वा एष यदहोरात्रस्तस्यैते गाधे तीर्थे यत्स-

न्धी । तस्मात्सन्धौ होतव्यमिति शैलालिब्राह्मणं

भवति । नक्षत्रं दृष्ट्वा प्रदोषे निशायां वा सायम्.

इति । होतव्यमिति सर्वत्रानुवर्तते । यत्र शक्यमुपस्थातुं तद्गाधम् ।

नक्षत्रमेकमपि दृष्ट्वा प्रदोषे, सर्वेषूदितेषु निशायां यस्यां दशायां

शेरते भूतानि । अत एवोक्तं—

‘कालातिपत्तिर्नवनाडिकोर्ध्वम्’

इति । एते चत्वारस्सायं होमकालाः । तथा प्रातर्होमकाला अपि तेनैव दर्शिताः —

‘उपस्युपोदयं समयाविषित उदिते प्रातः’

इति । समयाविषिते अर्धोदिते । तथा मनुरपि—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।

सर्वथा वर्तते यज्ञः इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥

इति । एतेषां लक्षणमाह व्यासः —

रात्रेष्णोडशके भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते ।

काले त्वनुदितं प्रातर्होमं कुर्याद्विचक्षणः ॥

तथा प्रभातसमये नष्टनक्षत्रभण्डले ।

रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितं^१स्तु सः ॥

रेखामात्रस्तु दृश्येत रश्मिभिस्तु समन्वितः ।

उदितं तं विजानीयात्तत्र होमं प्रकल्पयेत् ॥

इति । अनेन रेखादर्शनादारभ्य तृतीयो होमकालः इत्युक्तं भवति । अत एव कात्यायनः —

हस्तादूर्ध्वं रविर्यावद्भुवं हित्वा न गच्छति ।

तावद्धोमाविधिः पुण्यो नान्यो ह्युदितहोमिनाम् ॥

आश्वलायनोऽपि—

‘सङ्गवान्तः प्रातः’^३

^१ प्राहु — क. ख. — ^२ समयाविषित — वय.

^३ प्रदोषान्तस्सायं स — क.

इति । होमकाल इत्यनुवर्तते । अत्र पुलस्त्यः—

अकाले चेत्कृतं कर्म कालं प्राप्य पुनः क्रिया ।

कालातीतं तु यत्कुर्यादकृतं तद्विनिर्दिशेत् ॥

इति । अकाले अनागते काले कृते पुनः काले कर्तव्यम् ।

अतीते तु काले कृते तस्यानुपादेयत्वात्कृतमप्यकृतमेवेत्यर्थः ।

यदा तु कथंचिन्मुख्यकालातिक्रमः तदा गोविलोक्तं द्रष्टव्यं—

‘अथ यदि गृहेऽग्नौ सायम्प्रातर्होमयोर्दर्शपूर्णमास-
योर्वा हव्यं होतारं वा नाधिगच्छेत्कथं कुर्यादिति?

आसायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येति आप्रातराहुते
स्सायमाहुतिरामावास्यायाः पौर्णमासी नात्येत्या
पौर्णमास्या अमावास्या’

इति । अतः गौणेऽपि कालेऽतिपन्नं कर्म कुर्यादिति भावः । तच्च

प्रायश्चित्तानन्तरमेव कार्यं, ‘यदि सायमग्निहोत्रकालोऽतिपद्येत’

इत्यापस्तम्बेन मुख्यकालातिपत्तौ प्रायश्चित्ताभिधानात् ।

आश्वलायनोऽपि—

‘सङ्गवान्तः प्रातस्तमतिनीय चतुर्गृहीतमाज्यं
जुहुयात्’

इति । एतच्च गौणकालानुष्ठानमापद्विषयं, होमकालान्प्रकृत्य—

‘सर्वेष्वेतेषु कालेषु होतव्यमापदि हुतमिमेव प्रतीयात्’

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । उक्तं च गोबिलेन—

‘यदि हव्यं होतारं वा नाधिगच्छेत्कथं कुर्यात्’

इति । गौणकालाभिप्रायेण कासायनोऽपि—

‘पौर्णमास्यस्ये’ हव्यं होता वा यदहर्भवेत् ।

तदहर्जुहुयादेवमावास्यास्येऽपि च ॥

हव्यं हविः । होता ऋत्विक् । अत्रापि कृत्वा पाथिकृतं वैश्वानरं वाऽतिपन्नं कार्यं—

‘अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्यो द-
र्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं
वाऽतिपादयेद्वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदमवास्यां
वा पौर्णमासीं वाऽतिपाद्य’

इति श्रुतेः । एतदपि यावदन्यस्य पर्वणो न कालः । तत्प्राप्तौ तु प्रायश्चित्तमेव न पुनरतिपन्नानुष्ठानं अधिकारान्तरावरोधेन पूर्वाधिकारनिवृत्तेः । उक्तं च भाष्यकारेण—

‘ततो दशो वा पूर्णमासो वा यावदन्यो न पर्वकालः’

इति । एष एव न्यायस्सायंप्रातर्होमयोरपि । एवं पश्चाग्रयणाद्य-
तिपत्तावपि कृत्वा पाथिकृतं वैश्वानरं चातिपन्नानुष्ठानं तयोरपि तद्विकारत्वात्^२ । अत्र वैजावापः—

^१ पूर्णमासस्ये. — क ख.

^२ रपीष्टिविकारत्वात्—क. ख.

एके ह्युदितहोमास्स्युरन्येऽनुदितहोमिनः ।

अन्ये भोजनहोमाश्च पक्षहोमास्तथैव च ॥

भोजनहोमास्स्युरित्यापद्विषयम् । एवं पक्षहोमोऽपि द्रष्टव्यः । त-
था च मरीचिः —

शरीरापद्भवेद्यत्र भयाद्वाऽऽर्तिः प्रजायते ।

तथाऽन्यास्वपि चापत्सु पक्षहोमो विधीयते ॥

‘ यायावरा ह वै पुरा नाम ऋषय आसंस्तेऽध्व-
न्याश्राम्यंस्तेऽर्धमासायार्धमासाय अग्निहोत्रं जुहुवुः ।
तस्माद्यायावरधर्मेण आमयाव्यार्तो वा जननमरण-
योरध्वानि वाऽऽपत्सु वाऽर्धमासायार्धमासायाग्नि-
होत्रं जुहुयात्प्रतिपदि सायं चतुर्दश चतुर्गृहीतान्यु-
न्नयत्येका समित्सकृद्धोमस्सकृत्पाणिनिर्माज्जनं सकृ-
दुपस्थानमेवं प्रातः ’

इति । पक्षहोमे तु मध्ये त्वापन्नवृत्तौ पुनर्होमो न दोषायेसाह
मरीचिः —

पक्षहोमानथो कृत्वा मध्ये तस्मान्निवर्तितः ।

होमं पुनः प्रकुर्यात्तु न चासौ दोषभाग्भवेत् ॥

तथा समस्यहोमोऽपि तेनैव दर्शितः—

प्रवासे वाऽग्निहोत्री ‘यस्त्रिपञ्चाहं च’ सप्त वा ।

दातव्यो होम एकाहे सायं प्रातः पृथक्पृथक् ॥

¹ प्रवासीनोऽग्निहोत्रे — ख. ² स्त्रिपञ्चाहाश्च — वै.

इति । अत्र द्रव्यनियममाह कासायनः—

कृतमोदनसक्तादि तण्डुलादि कृताकृतम् ।

व्रीह्यादि चाकृतं प्रोक्तमिति हव्यं त्रिधा बुधैः ॥

स्मृत्यन्तरेऽपि—

तैलं दधि पयस्सोमो यवागूरोदनो घृतम् ।

तण्डुला मांसमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः ॥

कासायनोऽपि—

हविष्येषु यत्र मुख्यास्तदनु व्रीहयस्स्मृताः ।

अभावे व्रीहियवयोर्दध्ना वा पयसाऽपि वा ॥

तदभावे यवाग्वा वा जुहुयादुदकेन वा ।

शौनकोऽपि—

‘कामं तु व्रीहियवतिलैः’

इति । मुख्यद्रव्यालाभे तु कात्यायनोक्तं द्रष्टव्यम्—

यथोक्तवस्त्वसम्पत्तौ ग्राह्यं तदनुसारि च ।

यवानामिव गोधूमा व्रीहीणामिव तण्डुलाः¹ ॥

इति । यत्र पुनर्द्रव्यादिविशेषानुपादानं तत्रापि स एवाह—

आज्यं हव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते ।

मन्त्रस्य देवतायास्तु प्रजापतिरिति स्थितिः ॥

इति । अत्राहुतिपरिमाणमाह बृहस्पतिः—

प्रस्थधान्यं चतुष्पाष्टिराहुतेः परिकीर्तितम् ।

तिलानां तु तदर्थं स्यात्तदर्थं स्याद्भृतस्य तु ॥

बोधायनोऽपि—

व्रीहीणां वा यवानां वा शतमाहुतिरिष्यते ।

इति । होमस्तु गृह्योक्तविधिना तदुक्तं गृह्यपरिशिष्टे—

स्वस्वगृह्योक्तविधिना¹ होमं कुर्याद्यथाविधि ।

इति । यथाविधि यथाशास्त्रमित्यर्थः । तत्कथमित्यपेक्षिते—

तीर्थायतनसम्पूर्णं प्रातरुत्तानपाणिना ।

द्व्यङ्गुले समिधोऽतीक्ष सर्वत्र जुहुयाद्धाविः ॥

विष्णुरपि—

अप्रबुद्धे सधूमे वा जुहुयाद्यो हुताशने ।

यजमानो भवेदन्धस्सोऽमुत्रेति हि नश्श्रुतम् ॥

योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारे चैव मानवः ।

मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते ॥

अतश्च बहुशुष्केन्धसुसमिद्धे हुताशने ।

विधूमे लेलिहाने च होतव्यं कर्मसिद्धये ॥

आपस्तम्बोऽपि—

‘यदङ्गारेषु व्यवशान्तेषु लेलायद्विभाति तद्देवाना-

मास्यम् । तस्मात्तथा होतव्यं यथाऽऽस्येऽपिदधा-

त्येवं तदिति विज्ञायते’

इति । व्यवशान्तेष्वर्चिर्विरहितेषु ज्वाला यद्विभाति दीप्यमानं

¹ स्वगृह्योक्तेन विधिना—क. ख.

विभाति वेत्यर्थः । यस्य पुनश्श्रौताग्निस्मार्ताग्निश्च तस्यानुष्ठाने विशेषमाह भरद्वाजः—

होमं वैतानिके कृत्वा स्मार्तं कुर्याद्विचक्षणः ।

स्मृतीनां वेदमूलत्वात्स्मार्तं केचित्पुरा विदुः ॥

शातातपोऽपि—

श्रौतं यत्रात्स्वयं कुर्यादन्योऽपि स्मार्तमाचरेत् ।

अशक्तौ श्रौतमप्यन्यः कुर्यादाचारमन्ततः ॥

इति । एतच्च ज्ञात्वैवानुष्ठेयमन्यथा दोषश्रवणात् । तथा चाङ्गिराः—

स्वाभिप्रायकृतं कर्म यत्किञ्चिज्ज्ञानवर्जितम् ।

क्रीडाकर्मैव बालानां तत्सर्वं निष्प्रयोजनम् ॥

चतुर्विंशतिमतेऽपि—

हुतं ज्ञानक्रियाहीनं हुतास्त्वज्ञानतः क्रियाः ।

अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्कुकः ॥

इति । यदा तु प्रमादात्कर्मप्रच्युतिः तदा प्रजापतिनोक्तं द्रष्टव्यम्—

प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।

स्मरणादेव तद्विष्णोस्सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥

अध्वरेषु यज्ञेषु । अत्र कूर्मपुराणं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि निस्सङ्गः कामवर्जितः ।

प्रसन्नेनैव मनसा कुर्वाणो याति तत्पदम् ॥

इति । ब्रह्मण्याधानं ब्रह्मार्पणम् । तदपि तत्रैवोक्तं—
 ब्रह्मणा दीयते देयं ब्रह्मणे सम्प्रदीयते ।
 ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मार्पणमिदं परम् ॥
 नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तदा ।
 एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
 प्रीणातु भगवानीशः कर्मणाऽनेन शाश्वतः ।
 करोति सततं बुद्ध्या ब्रह्मार्पणमिदं परम् ॥
 यद्रा फलानां संन्यासं प्रकुर्यात्परमेश्वरे ।
 कर्मणामेतदित्याहुः ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ॥
 तस्मात्सेवेत सततं कर्मयोगं प्रसन्नधीः ।
 तृप्तये परमेशस्य तत्पदं याति शाश्वतम्¹ ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां होमविधिः.

औपवसथ्यनियमाः.

अथौपवसथ्यनियमाः । तत्र पुलस्त्यः—

सकृत्पर्वणि सर्पांषि हविष्यं लघुभोजनम् ।
 न सायं नोपवासस्यात्तैलामिषविवर्जितम् ॥

अत्र विशेषमाहापस्तम्बः—

तृप्तिश्चान्नस्य । यच्चैनयोः प्रियं स्यात्तदेतास्मिन्नहनि
 भुञ्जीयाताम्

¹ श्लोकोऽयं 'ग' पुस्तके न दृश्यते.

इति । अत्र वर्ज्यान्याह हारीतः—

माषमसूरमधुमांसपरान्नमैथुनानि त्रत्येऽहनि वर्जयेत्

इति । त्रयाहमन्वाधानदिनम् । भरद्राजोऽपि—

वर्जयेत्पर्वकालेषु स्त्रीतैलामिषभोजनम्¹ ॥

साङ्ग्यायनोऽपि—

कलहं क्रीतविक्रीतं प्रहासं बहुभाषणम् ।

तौर्यत्रिकं वृथा शय्यां यक्ष्यमाणो विवर्जयेत् ॥

जाबालिरपि—

कैदारकान्कुलुत्थांश्च वर्जयेत्कोद्रवांस्तथा ।

अनृतं बहुवादं च क्रयविक्रयमेव च ॥

दन्तशौचं च पूर्वद्युर्यागस्यैतानि वर्जयेत् ।

मसूरान् लवणान्क्षारांश्चणकान्कोरदूषकान् ॥

माषान् मधु परान्नं च वर्जयेत्पर्वणि द्विजः ।

गृह्यपरिशिष्टेऽपि—

शाकं मांसं मसूरांश्च चणकं कोरदूषकान् ।

माषान् मधु परान्नं च वर्जयेदौपवस्तके ॥

बोधायनोऽपि—

सर्वमेवैतदहः कोशिधान्यं वर्जयेदन्यत्र तिलेभ्यः

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामौपवसथ्यनियमाः.

¹ वृक्षजम्—क. ख.

पुनराधानम्.

अथ पुनराधाननिमित्तानि । तत्र कात्यायनः —

विहायार्घिं सभार्यश्चेत्सीमामुल्लङ्घ्य गच्छति ।

होमकालाख्ये¹ तस्य पुनराधानमिष्यते ॥

शौनकोऽपि—

अग्रावनुगते यत्र होमकालद्वयं व्रजेत् ।

उभयोर्विप्रवासे वा लौकिकाग्निर्विधीयते ॥

प्रोषिते तु यदा पत्नी यदि ग्रामान्तरं व्रजेत् ।

होमकाले तु संप्राप्ते न सा दोषेण युज्यते ॥

अथ तत्रैव वसति होमकालव्यतिक्रमः ।

लौकिकोऽग्निर्विधीयीत काठकश्रुतिदर्शनात् ॥

यजमानश्च पत्नी च उभौ प्रवसतो यदि ।

आ होमान्न निवर्तेतां पुनराधानमर्हति ॥

आपस्तम्बोऽपि—

‘यदि पत्नी सीमान्तरे² आदित्योऽस्तमियादभ्यु-

दियाद्वा पुनराधेयं तस्य प्रायश्चित्तिः। नासति यज-

माने ग्राममर्यादामग्नीनतिहरेयुर्यद्यतिहरेयुरग्नयो लौ-

किकास्सम्पद्येरन्निति । यदा यावत्सो ग्राममर्यादा

नद्यस्तावतीरतिक्रामन्तौ अन्वारभेयातां यदि ना-

न्वारभेयातां लौकिकास्सम्पद्येरन्’

¹ होमकालव्यपेतस्य — क, ख

² सीमान्तरं गच्छेत्—क. सीमान्ते-ख.

इति । शौनकोऽपि—

होमद्रयास्ये दर्शपूर्णमासात्यये तथा ।

पुनरेवाग्निमादध्यादिति भार्गवशासनम् ॥

इति । धार्यमाणेऽग्नौ चतुरहादूर्ध्वमपि होमविच्छित्तौ पुनराधान-
मित्यापस्तम्बमतिः¹ । आश्वलायनोऽपि—

‘सर्वाश्चानुगतानादित्योऽभ्युदियाद्वाऽस्तमियाद्वाऽ-

ग्न्याधेयं पुनराधेयं वा समारूढेषु चाराणिनाशः’

इति । एतद्विहृताग्निविषयमिति कौश्विद्र्याख्यातम् ।

आपस्तम्बोऽपि—

‘यस्य बोभावनुगतावभिनिम्रोचेदभ्युदियाद्वा पुन-
राधेयं तस्य प्रायश्चित्तिः’

इति । उभौ गार्हपत्याहवनीयौ । तथा यदि पक्षहोमे पक्षत्रयमती-
यात्पु²नराधेयं तस्य प्रायश्चित्तिरिति । शौनकोऽपि—

दौविको भौतिकश्चैव स्वेदार्थं योऽग्निरुद्धतः ।

सर्वे ते लौकिका ज्ञेया एकाग्रौ विगते³ सति ।

एतत्प्रमादोद्धृताग्निविषयम् । पैठीनसिरपि—

प्रसखलीकृतधर्मस्य पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।

मासद्वयं प्रवासोऽस्ति परतोऽनाहिताग्निवत् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां पुनराधाननिमित्तानि ।

¹ स्मृतिः — ख,

² होमेन पक्षत्रयेऽतियाते पु—ख .

³ रुढाग्रौ विहृते—ग .

अग्न्याधेयविषयम्.

अथाग्निहोत्रप्रसङ्गादन्यदप्यग्न्याधेयविषयं किञ्चिदुच्यते । तत्र याज्ञवल्क्यः —

दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः ।

आहरेद्विधिवद्वारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥

इति । वृत्तवतीमाचारवतीम् । सा च यदि सवर्णा । तथा च मनुः—

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥

इति । एवंवृत्तामुक्ताचाराम् । अनेनैकान्ततोऽसवर्णाया अग्निहोत्रेण दहनं न निषिद्धयते किन्तु सत्यामेव सवर्णायां तस्या अधिकारासम्भवात् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत् ।

इति । सत्यां सवर्णायामसवर्णां धर्मकार्यं न कारयेत्, तथा सह धर्मान्नाचरेदित्यर्थः । अनेनास्यां सवर्णायां असवर्णाया अप्यधिकार इत्युक्तं भवति । अत एव वसिष्ठोऽपि शूद्रैव सह धर्मानुष्ठाननिषेधमाह—

कृष्णवर्णा वै रामा रमणायैव न धर्माय

इति । कृष्णवर्णा शूद्रा । सवर्णानेकत्वे तु विना ज्येष्ठया इतराभिस्सह न धर्मानाचरेत् । किन्तु सहैव ज्येष्ठया । तथा च याज्ञवल्क्यः—

सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न विनेतरा ।

इति । धर्म्ये विधौ ज्येष्ठया विना इतरा मध्यमा कनिष्ठा वा न नियोक्तव्या किन्तु सहैव ज्येष्ठयेत्यर्थः । न च ज्येष्ठां मुक्त्वा इतरा सहधर्मचारिणीति व्याख्यानं शङ्कनीयं, यत आह कात्यायनः—

नैकयाऽपि विना कार्यं आधानं भार्यया द्विजैः ।

अकृतं तद्विजानीयात्सर्वानन्वा¹ रभन्ति यत् ॥

यद्यस्मात्सर्वाः स्त्रिय आधीयमानानग्रीन² न्वारभन्तीत्यर्थः ।

आपस्तम्बोऽपि—

आधाने हि सती कर्मभिस्सम्बध्यते

बोधायनोऽपि—

एकैकामेव सन्नयेत्

इति । अतो ज्येष्ठया सहैवेतरासामधिकरो न विना ज्येष्ठयेति सिद्धम् । एतदपि ज्येष्ठायामदुष्टायाम् । अत एव कात्यायनः—

ज्येष्ठायां दोषहीनायां कनीयस्या यदग्निमान् ।

ब्रह्महत्या भवेदस्य प्रतिपर्व हि सर्वदा ॥

इति । दोषदुष्टायां तु तां परित्यज्य अन्यया सह धर्ममाचरोदिति भावः । तथा च दक्षः—

धर्मपत्नी समाख्याता निर्दोषा यदि सा भवेत् ।

दोषे सति न दोषस्स्यादन्या कार्या गुणान्विता ॥

¹ 'नान्वा' इत्यपराकं फाठान्तरम् . ² आधीयमानमग्निम-क ख.

इति । यत्तु विष्णुनोक्तं—

अग्निहोत्रादियज्ञेषु द्वितीया न सहाचरेत् ।

अन्यथा निष्फलं तस्य स्थिष्टैः क्रतुशतैरपि ॥

इति, तदसवर्णद्वितीयाविषयम् । ज्येष्ठायामदुष्टायां केवलं द्वि-
तीयाविषयं वा सत्स्वग्निषु या परिणीता तद्विषयं वा । अन्यथा
पूर्वोक्तवचनविरोधस्स्यात् । यदापि कात्यायनेनोक्तं—

प्रथमा धर्मपत्नी स्याद्वितीया रतिवर्धिनी ।

दृष्टमेव फलं तत्र नादृष्टमुपपद्यते ॥

इति, तदापि वैष्णवेन समानविषयम् । नन्वाहिताग्नेः पुनरुद्वाहो
निषिद्ध एव । यदाहापस्तम्बः —

‘धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत । अन्यतरा-

भावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्’

इति । मैवं, यथा प्रागग्न्याधेयात्तथोर्ध्वमपि सति निमित्ते
पुनरुद्वाहः कार्य इति तस्यार्थः । अत एव कात्यायनः —

सदारोऽन्यान्पुनर्दाराङ्कथचित्कारणान्तरे ।

यदीच्छेदग्निमान्कर्तुं क्व होमोऽस्य विधीयते ॥

अग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कदा चन ।

न ह्याहिताग्नेस्त्वं कर्म लौकिकेऽग्नौ विधीयते ॥

एतत्पूर्वस्यामनधिकारिण्यां यावदन्याविवाहः तद्विषयम् । ऊर्ध्वं
विवाहादुत्सर्गेष्ट्याऽग्नीनुत्सृज्यान्यया सह पुनरादध्यादिति भावः ।

ननु च पुनःपरिणीतायामप्यग्निहोत्राधिकारस्तर्हि कथं द्वितीयया सह नाचरेदित्यस्य तद्विषयत्वम्? उच्यते सत्यं न तद्विषयत्वं ब्रूमः किन्तु यस्याः पुनरप्रजस्त्वादिना पुनरुद्वाहेऽपि दोषाभावान्नाधिकारनाशस्तद्विषयमिति ब्रूमः ।

अत एव स्मृत्यन्तरं—

व्याधितां स्त्रीप्रजां बन्ध्यामुन्मत्तां विगतार्तवाम् ।

अदुष्टां लभते त्यक्तुं तीर्थतो न तु धर्मतः ॥

इति । तीर्थतः योनित इत्यर्थः ¹ । अतो नात्र पुनः द्वितीयया सहाधानमग्निपरिस्रागकारणाभावात् । एवं च पूर्वमारिणीं भार्यामग्निहोत्रेण दाहयित्वा योग्यभार्यारहितश्चेत् पुनः परिणीय तया भार्यया सहाधानं कुर्यात्, इतरस्त्वाधानमात्रमेवेति मन्तव्यम् । यत्तु कात्यायनेनोक्तं—

मृतायां चेह भार्यायां द्वितीयायां कथं चन ।

समुत्सृजेदाग्निहोत्रं मोहितोऽज्ञानचक्षुषा ² ॥

ब्रह्मोज्झितं विजानीयाद्यश्च कामात्समुत्सृजेत् ।

विष्णुरपि—

द्वितीयां चैव यो भार्या दहेद्वैतानिकाग्निभिः ।

तिष्ठन्त्यां प्रथायां तु सुरापानसमं हि तत् ॥

इति, तदाधानेऽननुप्रविष्टद्वितीयभार्याविषयम् ।

¹ नैतद्वाक्यं 'क. ग.' पुस्तकयोर्दृश्यते.

² यो द्विजोत्तमः—क, ख.

अन्यथा 'आहिताग्निभिर्दहन्ति' इति श्रुतिर्विरुद्धप्रमाणं स्यात् । नन्वेषा श्रुतिर्द्वितीयेतरविषयाऽपि घटत एव ? मैवं स्मृतिवशाच्छ्रुतेस्सङ्कोचस्यायुक्तत्वात् । प्रत्युत स्मृतोर्विषयान्तरसम्भवेन तत्सङ्कोच एव युक्तः । यत्र पुनर्विषयान्तरासम्भवस्तत्र तद्वशात्सङ्कोचो भवत्येव । यथोक्तं कात्यायनेन—

स्त्री धर्मचारिणी साध्वी मृता दाह्या तदाग्निभिः ।

विपरीता न दाह्या तु पुनर्दारक्रिया तथा ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः ।

वृत्तवतीमाचारवतीमित्यर्थः । अत्रेयमाग्निव्यवस्था—सर्वाधाने त्वेकभार्यस्य पूर्वं भार्यामरणे तत्राग्निहोत्रमुत्सृज्य पुनः परिणीय तया सहाधानम् । पुनराहरणासामर्थ्ये आत्मार्थमग्न्याधेयं^१ कुर्यात्—

'दारकर्मणि यद्यशक्तः आत्मार्थमग्न्याधेयं^१ कुर्वी-

त । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ आग्रयणं च शेषाणि कर्माणि न भवन्ति'

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । बहुचब्राह्मणमपि—

तस्मादपत्नीकोऽग्निमाहरेत्^२

^१ धानं—क. ख

^२ दपत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेत्—क. ख.

इति। एवं च यदुक्तमन्यैः^१ ‘पत्न्यां रजस्वलायामेतद्वचनम्’ इति।

तदप्यपास्तम् । यद्वाऽत्र विष्णूक्तं द्रष्टव्यं—

मृतायामपि भार्यायां वैदिकाग्निं न हि सजेत् ।

उपाधिनापि तत्कर्म यावज्जीवं समाचरेत्^२ ॥

इति । उपाधिश्चात्र कुशमयी^३ पत्नी ।

अन्ये कुशमयीं पत्नीं कृत्वा तु गृहमेधिनः ।

अग्निहोत्रमुपासन्ते यावज्जीवमतन्द्रिताः ॥

अन्यत्रापि—

रामस्तु कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम् ।

इंजे बहुविधैर्यज्ञैस्सह भ्रातृभिरचुचतः^४ ॥

यत्तु सत्याषाढेनोक्तं—

‘न स्वामित्वस्य भार्यायाः पुत्रस्य देशस्य कालस्या

ग्नेर्देवतायाः कर्मणश्शब्दस्य च प्रतिनिधिर्विद्यते’

इति, तन्मानुषादिपत्नीविषयं कुशादिमय्याः पत्न्याः प्रतिनि-

धित्वस्य वाचनिकत्वात् । अतो यत्कैश्चिदुक्तं^५ ‘कुशादिमय्याः

पत्न्याः कार्यकरत्वासम्भवेन प्रतिनिधित्वासम्भवात् “अन्ये

कुशमयीं” इत्यग्निहोत्रस्तुत्यर्थम्’ इति तदप्यपास्तम् । एवं-

विधानादुपरि यजमानमरणे तस्याग्नित्रेतायां पितृमेधः कार्यः ।

आभ्यनेऽप्यसामर्थ्ये तस्य प्रेताधानमेव । तदप्यापस्तम्बेनोक्तं—

१&५ अपराङ्गेण याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्याने (I-89) तथोक्तं दृश्यते.

२ समापयेत्—ग. ३ कुशादिमयी—क.ख. ४ भिरुच्यते—ग.

‘यद्याहिताग्निरुत्सृष्टाग्निर्विच्छिन्नाग्निर्वधुराग्निर्वा प्र-
मीयेत न तमन्येन त्रेताग्निभ्यो दहन्ति¹. तस्य-
प्राचीनावीत्यग्न्यायतनान्युद्धृत्यावोक्ष्य यजमाना-
यतने प्रेतं निधाय गार्हपत्यायतने अराणि सन्नि-
धाय मन्थति—‘येऽस्याग्नयो जुह्वतो मांसकामाः
सङ्कल्पयन्ते यजमानमांसं जानन्तु तेऽस्मै हविषे
स्वादिताय स्वर्गलोकमिमं प्रेतं नयन्तु’ इति तूष्णीं
विह्वल्य द्वादशगृहीतेन स्तुचं पूरायेत्वा तूष्णीं हुत्वा
प्रेतेऽमात्या इत्येतदादि कर्म प्रतिपद्यते’

इति । अत्रैव पूर्वं यजमानमरणे तस्याग्नित्रेतायां पितृमेधः । पत्रचा-
स्तु प्रेताधानमेव । सर्वाधाने वानेकभार्यस्य पूर्वं ज्येष्ठामरणे तत्रा-
ग्नीनुत्सृज्य² पुनर्द्वितीयया सहाधानम् । पुनस्तन्मरणे तत्राप्याग्नि
होत्रमुत्सृज्य³ पत्रचन्तराभावे पुनः परिणीय तया सहाधानादि ।
परिणयनासामर्थ्ये तु आत्मार्थमग्न्याधानादि पूर्ववत् । अत्रैव
पूर्वं यजमानमरणे तस्याग्नित्रेतायां पितृमेधः पत्रचास्त्वौपासने.

‘तयोर्यः पूर्वः म्रियेत यजमानः पत्नी वा तस्याग्नि
होत्रेणायं पितृमेधस्सम्पद्यते यः पश्चात्तस्यौपासनेन’

¹ दहन्तीति विज्ञायते चाधानप्रभृति यजमान एवाग्नयो भवन्ति अथा
पि ब्राह्मणम् तमसो वा एष तमः प्रविशति यमाहिताग्निमन्येन त्रेताग्नि-
भ्यो दहन्तीति विज्ञायते तस्य प्राचीनावीत्यग्न्या इति सूत्रेष्वधिकपाठः

² त्रेताग्निमुत्सृज्य— ग.

³ प्याग्निमुत्सृज्य -- क.

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । अत्रैव पूर्वं पत्नीमरणे तत्राग्निहोत्रमौपा-
सनं चोत्सृज्य पुनः परिणीय तया सहाधानं, “अथैनमुपोषति”
इत्यारभ्य “पुरस्तात्सभ्यावसथ्याभ्यामौपासनेन च” इत्या-
पस्तम्बेनैव औपासनस्यापि प्रतिपत्तिविधानात् । पुनस्तन्मरणे
तत्राप्येष एव न्यायः । पुनर्दाराहरणासामर्थ्ये आत्मार्थमग्र्या
धानादि । तत्राप्यसामर्थ्यनिश्चये पत्न्यास्त्रेतायामेव पितृमेधः
यजमानस्य त्वौपासनेन तस्याग्रचन्तराभावात्—

यः पश्चात्तस्यापासनेन

इति स्मरणाच्च । ननु चात्रार्धाधानपक्षेऽपि “तयोर्यः पूर्वं”
इति स्मरणात् अग्नित्रेतायामेव पत्न्याः पितृमेधः यजमान-
स्यौपासन एवाधानादि किं न स्यात् ? मैवं—

शवाग्रयो वा एते पत्न्यां मृतायां धार्यन्ते

इति काठकश्रुत्या तेषां पितृमेधैकार्थत्वश्रवणात् । अतः पूर्वोक्तैव
ज्यायसी । अर्धाधान एवानेकभार्यस्य यस्य पूर्वं मरणं तस्या-
ग्नित्रेतायामेव पितृमेधः पत्नीनां तु स्वैस्स्वैरौपासनस्याग्रेरंशैः ।
तदुक्तं कल्पभाष्ये—

स्वैस्स्वैरौपासनस्याग्रेरंशैर्वा स्यादुपोषणम् ।

इति । अत्रैव पूर्वं पत्नीमरणे तत्राग्निहोत्रमौपासनं चोत्सृज्य पु-
नर्द्वितीयया सहाधानादि । यदा तु युगपदेव जायापत्योर्मरणं
तदा तयोस्सहैव पितृमेधः । तदुक्तमापस्तम्बेन—

सहैव प्रेते सहैव पितृमेधः

इति । द्विवचनलिङ्गान्मन्त्रान्सङ्गमयति । अनाहिताग्नेस्तु औपा-
सनेन पितृमेधः । तदपि तेनैवोक्तं—

औपासानाग्निनाऽनाहितार्घिं दहन्ति निर्मन्थेन
पत्नीमुत्तपनेनेतरान्

इति । इतरान्ब्रह्मचारिप्रभृतीन् । आत्मादिसमारूढेष्वग्निषु य-
जमानमरणेऽपि तेनैवोक्तं—

‘यद्यात्मन्यरण्योर्वा समारूढेष्वग्निषु यजमानो अग्नि-
येत पूर्ववदग्रयायतनानि कल्पायित्वा यजमानायतने
प्रेतं निधाय गार्हपत्यायतने लौकिकाग्निमुपसमाधाय
प्रेतस्य दक्षिणं पाणिमुपसङ्गृह्य तत्पुत्रो भ्राताऽन्यो
वा प्रत्यासन्नबन्धुः ‘उपावरोह जातवेद इमं तं स्व-
र्गाय लोकाय नय प्रजानन् । आयुः प्रजां रयिम-
स्मासु धेहि । प्रेताहुतिं चास्य जुपस्व’¹ इति लौ-
किकाग्निमुपावरोहस्यरण्योर्वापावरोह मन्थेदरण्यो-
स्ममारूढस्यानिर्वर्त्यमाने ‘प्रेतमन्वारम्भे’ इत्येतं
मन्त्रं जपेत् । विहरणादि समानम्’

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां होमकाण्डम्.

दर्शवेक्षणादि

अथ दर्शवेक्षणादि । तत्र दक्षः—

देवकार्यं ततः कृत्वा गुरुं मङ्गलवीक्षणम् ।

¹ धेहि अजस्रो दीदिहि नो दुरोण इति लौकिकाग्नि— इति 1273 पुस्तके
पितृमेधसूत्रेषु पाठान्तरम्.

इति । मङ्गलवीक्षणमादर्शाद्यवेक्षणम् । पुराणेऽपि—

रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् ।

गुरुनग्रींश्च सूर्यं च प्रातः पश्येत्सदा बुधः ॥

इति । नारदोऽपि—

लोकेऽस्मिन्मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः ।

हिरण्यं सर्पिरादित्यः आपो राजा तथाष्टमः ॥

एतानि सततं पश्येन्नमस्येदर्चयेच्च यः ।

प्रदाक्षिणं च कुर्वीत तथास्यायुर्न हीयते ॥

मनुरपि¹ —

अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।

दृष्टमात्राः पुनन्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः ॥

काशायनोऽपि—

श्रोत्रियं सुभगामग्निं गामग्निचितमेव च ।

प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भिस्स प्रमुच्यते ॥

पापिष्ठं दुर्भगामन्त्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकाम् ।

प्रातरुत्थाय यः पश्येत्तत्कलेरुपलक्षणम् ॥

वामनपुराणेऽपि—

होमं च कृत्वाऽऽलभनं शुभानां

ततो बहिर्निगमनं प्रशस्तम् ।

दूर्वा च सर्पि² र्दाधि सोदकुम्भम्

¹ पराशरोऽपि,— क.

² दूर्वाश्चसर्पि — क.

धेनुं सवत्सामृषभं सुवर्णम् ॥
 मृद्गोमयं स्वस्तिकमक्षतांश्च
 तैलं मधु ब्राह्मणकन्यकाश्च ।
 श्वेतानि पुष्पाणि तथा शर्मी च
 हुताशनं चन्दनमर्कविम्बम् ॥
 अश्वत्थवृक्षं च समालमेत
 ततश्च कुर्यान्निजजातिधर्मम् ।

ब्रह्मपुराणेऽपि—

स्वमात्मानं धृते पश्येद्यदीच्छेच्चिरजीवितम् ।

भरद्वाजोऽपि—

कण्डूयन्पृष्ठतो गां तु कृत्वा चाश्वत्थवन्दनम् ।

उपगम्य गुरून्सर्वान्विप्रांश्चैवाभिवादयेत् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामादर्शवेक्षणादि .

वेदाभ्यासः

अथ वेदाभ्यासः । तत्र दक्षः—

द्वितीये च तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते ।

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यासनं जपः ॥

तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ।

सामित्पुष्पकुशादीनां स कालः परिकीर्तितः ॥

अष्टधा विभक्तस्याहो द्वितीयभागे । कूर्मपुराणेऽपि—

वेदाभ्यासं ततः कुर्यात्प्रयत्नाच्छाक्तितो द्विजः ।
जपेदध्यापयेच्छिष्यान्धारयेद्वै विचारयेत् ॥
अवेक्षेत च शास्त्राणि धर्मादीनि द्विजोत्तमः ।

इति । मनुरपि—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धर्म्याणि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

इति । यदत्र वक्तव्यं तत्सर्वं संस्कारकाण्ड एवोक्तम् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां वेदाभ्यासः

धनार्जनम्

अथ धनार्जनम् । तत्र दक्षः—

तृतीये च तथा भागे पोष्यवर्गार्थसाधनम् ।

इति । अष्टधा विभक्तस्याहस्तृतीये भागे । चतुर्विंशतावपि—

पोष्यवर्गार्थसिद्धयर्थं धनमिच्छेत बुद्धिमान् ।

इति । पोष्यवर्गोऽपि दक्षेण दर्शितः—

माता पिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनास्समाश्रिताः ।

अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः ॥

इति । एतदपि यथावृत्ति कार्यम् । तथा च मनुः—

यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।

अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥

इति । यात्रा प्राणवृत्तिः । स्वैः कर्मभिः यस्य यानि वृत्त्यर्थानि
तैरित्यर्थः । तान्यापि तेनैव दर्शितानि—

अध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥

इति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः । तत्र त्रीणि वृत्त्यर्थानि । त्रीणि धर्मार्थानि । यदाह स एव—

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

यजनाध्यापने चैव विशिष्टाच्च^१ परिग्रहः ॥

अनेनाध्ययनादीनि त्रीण्येव अवश्यकर्तव्यानि न याजनादीनीत्युक्तं भवति । उक्तं च गौतमेन—

‘द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं ब्राह्मणस्याधि-

कारः । प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः पूर्वेषु नियमाः’

इति । ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियव्युदासार्थम् । अत एव मनुः—

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।

अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥

वैश्यं प्रति तथैवेति निवर्तेरन्निति स्थितिः ।

इति । एवं च यदुक्तं मनुना—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

इति, तद्वृत्त्यर्थाध्यापनाभिप्रायम् । अन्यथा पूर्वोक्तप्रवचनविरोधात् । कानि तर्ह्यनयोर्वृत्त्यर्थानीत्यपेक्षिते मनुराह—

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।

आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं याजिः ॥

इति । शस्त्रास्त्रभृत्त्वं प्रजापालनद्वारेण जीवनार्थम् । वणिक्छ-
ब्देन तत्कर्म वाणिज्यं लक्ष्यते । पशुशब्देन तत्पालनम् । अत
एव याज्ञवल्क्यः—

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।

कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशस्मृतम् ॥

इति । प्रधानं मुख्यं यतो धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च ।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।

इति मनुस्मरणात् । कुसीदं वृद्ध्यर्थं धनप्रयोगः । लाभार्थं क्रय-
विक्रयौ वाणिज्यम् । पाशुपाल्यं पशुरक्षणम् । अत्र विशेषमाहु-
श्शङ्खलिखितौ—

गा रक्षेत तास्यपीतासु न पिवेन्न तिष्ठन्तीषूपविशेन्न
स्वयमुत्थापयेच्छनैरार्द्रशाखया पृष्ठतो हन्यान्नाती-
र्थेन विपमेनाल्पोदकेनावतारयेद्बालवृद्धरोगार्तश्रा-
न्ता उपासीत शक्तितः प्रतीकारं कुर्याद्भवामेप
धर्मोऽन्यथा विप्लवः

इति । अत्र वृत्त्यन्तराण्याह मनुः—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥

दायोऽन्वयागतं धनम् । लाभो निधेः ।

निधिं ब्राह्मणो लब्ध्वा सर्वमादद्यात् । क्षत्रियश्च-

तुर्थमंशं राज्ञे दत्त्वा चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ।
स्वयमर्थमादद्यात् । वैश्यश्चतुर्थमंशं राज्ञे दत्त्वा
स्वयं चतुर्थमंशं गृहीत्वा ब्राह्मणेभ्योऽर्धं दद्यात् ।
शूद्रश्चावासं द्वादशधा विभज्य पञ्चांशान्ब्राह्मणेभ्यो
राज्ञे पञ्चांशान्स्वयमंशद्वयमादद्यात्.

इति विष्णुस्मरणात् । क्रयः प्रसिद्धः । एते त्रयश्चतुर्णामपि व-
र्णानां धर्म्याः । जयो युद्धेन क्षत्रियस्यैव । प्रयोगो वृद्धय-
र्थं धनप्रयोगः । कर्मयोगः कृषिवाणिज्यम् । एते वैश्यस्यैव ।
सत्प्रतिग्रहो ब्राह्मणस्यैवेति ।

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यामृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यामृतं च वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥

इति । पतितपरित्यक्तैकैककणोपादानमुञ्छः । शाल्यादेर्निपतित-
परित्यक्तवल्लरीग्रहणं शिलम् । याज्ञवल्क्योपि—

कुसूलकुम्भिधान्यो वा व्याहिकोऽश्वस्तनोऽपि वा ।
जीवेद्वाऽपि शिलोञ्छेन श्रेयानेषां परः परः ॥

इति । कुसूलं कोष्ठकम् । तत्परिमितधान्यसञ्चेता कुसूलधान्यः ।

स वा स्यात् । कुम्भधान्यः कुम्भपरिमितधान्यसञ्ज्ञेता । स वा स्यात् ।

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।

इति मनुस्मरणात् । त्र्यहपर्याप्तधनसञ्ज्ञेता त्र्याहिकः स वा स्यात् । न श्वस्तनसञ्ज्ञयमस्यास्तीत्यश्वस्तनः । सद्यः प्रक्षालक इत्यर्थः । स वा स्यादिति । तेषामश्वस्तनान्तानां वृत्तयो मनु-
नोक्ता वेदितव्याः—

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।

द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसूत्रेण जीवति ॥

इति । अस्यार्थः—एकः कुसूलधान्यो यजनादिषट्कर्म भवेत् । अन्यो द्वितीयः त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्वर्तते । एकस्तृतीयः द्वाभ्यां प्रतिग्रहेतराभ्याम् । चतुर्थस्तु ब्रह्मसूत्रेणाध्यापनेनेति । एते च कुसूलधान्यत्वादयो ब्राह्मणस्यैव, इतरस्य प्रतिग्रहादेर-
सम्भवात् । शिलोञ्छे तु वर्णत्रयसाधारणे । तथा चापस्तम्बः—

स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं
दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं शिलोञ्छः । अन्यच्चाप-
रिगृहीतम् । एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्र-
तिग्रहणानीति परिहाप्य दण्डयुद्धाधिकानि । क्ष-
त्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवाणिज्या-
धिकम्,

इति । पराशरस्तु कलावविशेषेण चतुर्णामपि कृष्यनुग्रहमाह—

अतः परं गृहस्थस्य कर्माचारं कलौ युगे ।

धर्मं साधारणं शक्त्या चातुर्वर्ण्याश्रमागतम् ॥

तं प्रवक्ष्याम्यहं पूर्वं पराशरवचो यथा ।

षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत्^१ ॥

स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमार्जितैः ।

निर्वपेत्पञ्चयज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत् ॥

क्षत्रियोऽपि ऋषिं कृत्वा देवान्विप्रांश्च पूजयेत् ।

वैश्यश्शूद्रस्तथा कुर्यात्कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥

चतुर्णामपि वर्णानामेष धर्मस्सनातनः ।

अत्र विशेषमाह हारीतः—

न पर्वसु सन्धिवेलयोर्वाहयेत् ॥

अष्टगवं धर्म्यहलं षड्गवं जीवितार्थिनाम् ।

चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं ब्रह्मघातिनाम् ॥

वालानां दमनं चैव वाहनं च न शस्यते ।

वृद्धानां दुर्बलानां च प्रजापतिवचो^२ यथा ॥

पराशरोऽपि—

क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत् ।

हीना^३ ङ्गं व्यथितं क्लीबं वृषं विप्रो न वाहयेत् ॥

वाहयेद्विवसस्यार्थं पश्चात्स्नानं समाचरेत् ।

^१ समाचरेत्—ग.

^२ प्रचेतोवचनं—क.

^३ हता—क.

स्नानमत्र बलीवर्दानाम् । अत एव हारीतः—

स्नापयित्वाऽनडुहोऽलङ्कृत्य ब्राह्मणान्भोजयेत् ।

इति । अत्र कूर्मपुराणं—

लब्धलाभः पितृन्देवान्ब्राह्मणांश्चापि पूजयेत् ।

ते तृप्तास्तस्य तद्दोषं शमयन्ति न संशयः ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च दद्याद्भागं तु विंशकम् ।

त्रिंशद्भागं ब्राह्मणानां कृषिं कुर्वन्न दुष्यति ॥

बृहस्पतिरपि—

राज्ञो दद्यात्तु षड्भागं देवतानां च विंशकम् ।

त्रिंशद्भागं तु विप्राणां कृषिं कुर्वन्न दुष्यति ¹ ॥

हारीतोऽपि—

यूपोऽयं निहितो मध्ये मेधिनामिह कर्षकैः ।

तस्मादतन्द्रितो दद्यादत्र धान्यार्धदक्षिणाः ॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्वा हत्वा कीटपिपीलिकाः ² ।

पुनान्ति खलयज्ञेन कर्षका नात्र संशयः ॥

अत एव तस्याकरणे दोषः पराशरेण दर्शितः—

यो न दद्याद्विजातिभ्यो राशिमूलमुपागते ³ ।

स चोरस्स च पापिष्ठः ब्रह्मघ्नं तं विनिर्दिशेत् ॥

पुराणे शङ्करोऽपि—

अदत्त्वा कर्षको देवि यस्तु धान्यं प्रवेशयेत् ।

¹ कृत्वा न दोषभाक्—ख. ² च क्रिमिकीटकान्—क. ³ गतः—ती.

तस्य तृष्णाभिभूतस्य यत्पापं तद्वीम्यहम् ॥
 दिव्यं वर्षसहस्रं तु दुरात्मा कृपिकारकः ।
 मरुदेशे भवेदृक्षः स पुष्पफलवर्जितः ॥
 तस्यान्ते मानुषो भूत्वा कदाचित्कालपर्ययात् ।
 दरिद्रो व्याधितो मूर्खः कुलहीनश्च जायते ॥
 कूर्मपुराणे तु गृहस्थभेदेन वृत्तिव्यवस्था दर्शिता—
 द्विविधस्तु गृही ज्ञेयस्साधकश्चाप्यसाधकः ।
 अध्यापनं याजनं च पूर्वस्याहुः प्रतिग्रहम् ॥
 शिलोञ्छेनाप्युपादद्याद्गृहस्थस्साधकः पुनः ।
 असाधकस्तु यः प्रोक्तो गृहस्थाश्रमसंस्थितः ॥
 शिलोञ्छे तस्य कथिते द्वे वृत्ती परमर्षिभिः ।
 अमृतेनाथ वा जीवेन्मृतेनाप्यथ वा यदि ^१ ॥
 अयाचितं स्यादमृतं मृतं भैक्षं तु याचितम् ।
 इति । शूद्रवृत्तयस्तूशनसा दर्शिताः—
 शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाऽप्यथ ।
 विक्रयस्सर्वपण्यानां ^२ शूद्रकर्म उदाहृतम् ॥
 इति । शिल्पानि विचित्रकर्माणि । विप्रशुश्रूषा धर्मार्था—
 विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
 इति मनुस्मरणात् । विशिष्टमुत्कृष्टम् । तस्य धर्मवृत्तिहेतुत्वात् ।
 सर्वशिल्पानीत्यापद्विषयम् । यदाह याज्ञवल्क्यः—

^१ वाऽऽपदि—क.

^२ वस्तूनां—क.

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत् ।

शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्विजातिहितमाचरेत् ॥

यैश्शिल्पैर्द्विजातयश्शुश्रूष्यन्ते तैरित्यर्थः । तथा च मनुः—

यैः कर्मभिः प्रचरितैश्शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥

तानि च देवलैः दर्शितानि—

शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोष-

णं कर्षणं पशुपालनं भारोद्वहनपण्यापण्यव्यवहार-

चित्रकर्मनृत्तगीतवेणुवीणामुरजमृदङ्गवादनानि

इति । तस्य चोच्छिष्टादि देयम् । तथा च मनुः—

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।

पुलकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥

असम्यक्कृष्टाः पुलकाः । परिच्छदा उपानत्प्रभृतयः ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां धनार्जनम्.

प्रतिग्रहादिनिरूपणम्.

उक्तं ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिषु सामान्येनाधिकार इति । अधुना विशेषतोऽधिकारो निरूप्यते । तत्र याज्ञवल्क्यः—

राजान्तेवासियाज्येभ्यस्सीदन्निच्छेद्धनं क्षुधा ।

इति । क्षुधा सीदन्पीड्यमानो राजप्रतिग्रहादिष्वधिक्रियत इत्यर्थः । मनुरपि—

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।

याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥

एतच्च सति सम्भवे अन्यतो धनग्रहणनिषेधपरं न पुनरत्यन्तनिषेधाय,

सर्वतः प्रतिगृहीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।

इति तेनैवोक्तत्वात् । अत एव नारदोऽपि राजादिप्रतिग्रह एव श्रेयानिसाह—

श्रेयान्प्रतिग्रहो राज्ञां नान्येषां ब्राह्मणादृते ।

ब्राह्मणश्चैव राजा च द्वावप्येतौ धृतव्रतौ ॥

नैतयोरन्तरं किञ्चित्प्रजाधर्माभिरक्षणात् ।

शुचीनामशुचीनां च सन्निपातो यथाऽम्भसाम् ।

समुद्रे समतां याति तद्वद्राज्ञां धनागमः ॥

यथाऽग्नौ संस्थितं चैव शुद्धिमेति हि काञ्चनम् ।

एवं धनागमास्सर्वे शुद्धिमायान्ति राजनि ॥

इति । अत्र सति विभवे राजादिभ्यो धनं लिप्सेदिति भावः ।

अत एव मनुः—

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा सक्तः कथं चन ।

न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥

क्षुधा न सीदेदित्यनेन असत्यां क्षुधि न प्रतिग्रहादि कार्यमित्युक्तं भवति ।

विद्यमाने धने यस्तु प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।

नरकं रौरवं प्राप्य तत्रैव परिपच्यते ॥

यमोऽपि—

यस्तु याचनिको मर्त्यो न स स्वर्गस्य भाजनम् ।

उद्वेजयति भूतानि यथा चोरस्तथैव सः ॥

सक्ताः प्रतिग्रहे ये तु न तु दाने कदा चन ।

तेषां वैयस्वतः प्राह न तूर्ध्वगमनं क्वचित् ॥

इति । शातातपोऽपि—

वेदाक्षराणि यावन्ति नियुजीतार्थकारणात् ।

तावन्ति भ्रूणहत्या वै वेदविक्रय्यवामुयात् ॥

धनार्थं वेदाक्षराणां विनियोगो वेदविक्रयः । तद्वान् वेदविक्रयी । स भ्रूणहत्यामवामोतीत्यर्थः । वेदविक्रयश्छागलेन षड्विधो दर्शितः—

प्रख्यापनं प्रलपनं प्रश्नपूर्वप्रतिग्रहः ।

याजनाध्यापने वादष्पाङ्गिधो वेदविक्रयः ॥

इति । एवं प्रश्नपूर्वदानेऽपि दोषो द्रष्टव्यः । तदाह शातातपः—

प्रश्नपूर्वं तु यो दद्याद्ब्राह्मणाय प्रतिग्रहम् ।

स पूर्वं नरकं याति ब्राह्मणस्तदनन्तरम् ॥

ननु यदि सधनस्यैव प्रतिग्रहनिषेधस्तर्हि निर्धनस्य प्रागुक्तदोषाभावस्त्यात ? सखं किन्तु तत्राप्यस्ति व्यासोक्तदोषः¹—

¹ व्यासोक्तिविशेषः—क. ख.

प्रतिग्रहरुचिर्न स्याद्वृत्त्यर्थं¹ तु समाचरेत् ।
 वृत्त्यर्थादधिकं गृह्णन्ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥
 वृत्तिसङ्कोचमन्विच्छेन्नेहेतुः धनसञ्चयम्² ।
 धनलाभे प्रवृत्तस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥

वृत्तिर्वर्तनम् । मनुरपि—

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
 संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥

संयतः प्रत्याहृतेन्द्रियः । व्यासोऽपि—

संतुष्टः को न शक्नोति फलैर्मूलैश्च वर्तितुम् ।
 सर्वस्तिवन्द्रियलौल्येन सङ्कटान्यवगाहते ॥
 दरिद्रोऽर्थं ततो राज्यं तथेन्द्रत्वं ततोऽक्षयम् ।
 पदं वाञ्छति नान्तोऽस्ति तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥

इति । ततो धर्मसञ्चय एवावश्यको न धनसञ्चय इत्याभिप्रायः ।

तथा च मनुः—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
 न पुत्रदारा न ज्ञातिः धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
 एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते³ ।
 एकोऽनुभुङ्के सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
 मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।

¹ स्याद्यात्रार्थ—ख.

² विस्तरं—क.ख.

³ प्रमीयते—क.

विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।

इति । एवं चासति धने राजादिभ्यः स्थितिमात्रपर्याप्तं धनं गृह्णीयादन्यथा नेति सिद्धम् । यत्तु यमेनोक्तं—

राजकिल्बिषदग्धानां विप्राणामकृतात्मनाम् ।

स्विन्नानामिव बीजानां पुनर्जन्म न विद्यते ॥

इति, यदपि हारीतेन—

दशमूनासहस्राणि अह्ना राजा करोति वै ।

तान्येव कुरुते रात्रौ घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥

इति । यदपि चतुर्विंशतौ—

राजप्रतिग्रहो घोरो मध्वास्वादो विषोपमः ।

पुत्रमांसं वरं भोक्तुं न तु राजप्रतिग्रहः ॥

इति । तदुच्छास्त्रवर्तिराजप्रतिग्रहविषयम् । अत एव मनुः—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।

स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।

नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥

सञ्जीवनं^१ महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।

सहातं^२ च सकाकोलं कुट्टलं प्रतिमूर्तिकम्^३ ॥

^१ सन्दीपनं—ग; सन्तापनं—क.

^२ सद्घातं—ग.

^३ प्रतिमूर्तिकं—ग. क.

लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
 असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ¹ ॥
 एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
 न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेस श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥

इति । याज्ञवल्क्योऽपि—

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयाल्लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
 प्रतिग्रहे सूनचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ॥
 दुष्टा दशगुणं पूर्वात्पूर्वादेते यथाक्रमम् ।

सूनी हिंसकः । चक्री तैलिकः । ध्वजी मद्यविक्रेता । यमोऽपि—

अराजन्यप्रसूतस्य राज्ञस्त्वच्छन्दवर्तिनः ।
 घोरः प्रतिग्रहस्तस्य मध्वास्वादो विपोपमः ॥
 तथैव राजमहिषी राजामायाः पुरोहिताः ।
 पापेनार्थेन संयुक्तास्सर्वे ते राजधर्मिणः ॥

इति । अराजन्यप्रसूतः अक्षत्रियप्रसूतः । तथा पतितयाजनेऽपि
 दोषमाह हारीतः—

पतितयाजनात्पतितसङ्कारियाजनात्सङ्कारित्वमुपैति ।
 सङ्कीर्णयाजनात्सङ्कारैस्सङ्कीर्यते । शूद्रयाजनाज्जा-
 तितश्चयवते

इति ।

याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् ।

¹ घोरं कैतवोदकमेव च—क.

कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः ॥

इति । पतितप्रतिग्रहे तु शुद्धौ विशेषमाहोशना—

पतिताद्रव्यमादाय भुङ्क्ते वा ब्राह्मणो यदि ।

कृत्वा तस्य समुत्सर्गं ह्यतिकृच्छ्रं चरेद्विजः ॥

इति । एवं शूद्रयाजनेऽपि द्रष्टव्यम् । तथा च सुमन्तुः—

‘शूद्रयाजकस्सर्वद्रव्यपरित्यागात्पूतो भवति’

इति । परित्यागे विशेषमाह हारीतः—

शूद्रयाजको गार्हितं द्रव्यं नागहृदे प्रक्षिप्य ब्राह्म-

णानुपेक्ष्य ब्रूयात्त्रायन्तु मां भवन्तो वर्णसाम्यम्

इति । नागहृदोऽक्षोभ्यहृदः । अत्र मनुः—

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।

मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥

इति । आहृतां सम्प्रदानदेशमानीतां देयत्वेनोद्यतां सङ्कल्पितां

पुरस्तादप्रचोदितां पूर्वं ‘तुभ्यं ददामि’ इत्यकथितां भिक्षां

प्रजापतिर्ग्राह्यां मन्यत इत्यर्थः । तथा चापस्तम्बः—

उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।

भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥

इति । भिक्षाग्रहणमन्येषां शय्यादीनामुपलक्षणार्थम् । अत एव

मनुः—

शय्यां गृहं कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।

धाना¹ मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

कुशाश्शाकं पयो मत्स्या गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः ।

मांसं शय्यासना धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥

गौतमोऽपि—

एधोदकयवसमूलफलमध्वभयाभ्युद्यतशय्यासना-
वसथयानपयोदधिधानाशफरिप्रियङ्गुस्रज्जार्गशा-
कान्यप्रणोद्यानि सर्वेषाम्.

इति । शफर्यस्सूक्ष्ममत्स्याः । अप्रणोद्यान्यप्रत्याख्येयानि । तत्र
हेतुमाह भरद्वाजः—

अयाचितोपपन्ने हि नास्ति दोषः प्रतिग्रहे ।

अमृतं तद्विदुर्देवास्तस्मात्तन्नैव निर्नुदेत् ॥

इति । प्रत्याख्यानेऽपि दोषमाह मनुः—

न तस्य पितरोऽश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च ।

न च हव्यं वहस्यग्निः यस्तामभ्यवमन्यते ॥

इति । अत्र यमोक्तो विशेषः—

रक्षसां गच्छते योनिं यस्तामभ्यवमन्यते ।

इति एतदप्यनपत्प्रकरणात्पतितादिवर्जं वेदितव्यम् । अत एव
याज्ञवल्क्यः—

अयाचिताहतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।

कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः ॥

इति । पतितप्रतिग्रहे तु शुद्धौ विशेषमाहोशना—

पतिताद्रव्यमादाय भुङ्क्ते वा ब्राह्मणो यदि ।

कृत्वा तस्य समुत्सर्गं ह्यतिकृच्छ्रं चरेद्विजः ॥

इति । एवं शूद्रयाजनेऽपि द्रष्टव्यम् । तथा च सुमन्तुः—

‘शूद्रयाजकस्सर्वद्रव्यपरित्यागात्पूतो भवति’

इति । परित्यागे विशेषमाह हारीतः—

शूद्रयाजको गार्हितं द्रव्यं नागहृदे प्रक्षिप्य ब्राह्म-

णानुपेक्ष ब्रूयात्त्रायन्तु मां भवन्तो वर्णसाम्यम्

इति । नागहृदोऽक्षोभ्यहृदः । अत्र मनुः—

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।

मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥

इति । आहृतां सम्प्रदानदेशमानीतां देयत्वेनोद्यतां सङ्कल्पितां

पुरस्तादप्रचोदितां पूर्वं ‘तुभ्यं ददामि’ इत्यकथितां भिक्षां

प्रजापतिर्ग्राह्यां मन्यत इत्यर्थः । तथा चापस्तम्बः—

उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम् ।

भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥

इति । भिक्षाग्रहणमन्येषां शय्यादीनामुपलक्षणार्थम् । अत एव

मनुः—

शय्यां गृहं कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।

धाना¹ मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

कुशाश्शाकं पयो मत्स्या गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः ।

मांसं शय्यासना धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥

गौतमोऽपि—

एधोदकयवसमूलफलमध्वभयाभ्युद्यतशय्यासना-
वसथयानपयोदधिधानाशफरिप्रियङ्गुस्रज्ज्वार्गशा-
कान्यप्रणोद्यानि सर्वेषाम्.

इति । शफर्यस्सूक्ष्ममत्स्याः । अप्रणोद्यान्यप्रत्याख्येयानि । तत्र
हेतुमाह भरद्वाजः—

अयाचितोपपन्ने हि नास्ति दोषः प्रतिग्रहे ।

अमृतं तद्विदुर्देवास्तस्मात्तन्नैव निर्नुदेत् ॥

इति । प्रत्याख्यानेऽपि दोषमाह मनुः—

न तस्य पितरोऽश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च ।

न च हव्यं वहसग्निः यस्तामभ्यवमन्यते ॥

इति । अत्र यमोक्तो विशेषः—

रक्षसां गच्छते योनिं यस्तामभ्यवमन्यते ।

इति एतदप्यनपत्प्रकरणात्पतितादिवर्जं वेदितव्यम् । अत एव
याज्ञवल्क्यः—

अयाचिताहतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।

अन्यत्र कुलटापण्डपतितेभ्यस्तथा द्विपः ॥

इति । कुलात्कुलमटतीति कुलटा स्वैरिणी । यमोऽपि—

चिकित्सकस्य मृगयोर्वेश्यायाः कितवस्य च ।

पण्डमूनिकयोरेव उद्यतां परिवर्जयेत् ॥

मृगयुः व्याधः । कितवो द्यूतकृत् । मूनिको हिंस्रः । हारीतोऽपि—

चिकित्सककृतघ्नानां शल्यकर्तुश्च^१ वार्धुपेः ।

पण्डस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत् ॥

वार्धुपेर्लक्षणं वसिष्ठेनोक्तं—

समर्थं धनमाहत्य महार्थं यः प्रयच्छति ।

स वै वार्धुपिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः ॥

यस्य पुनरुक्तप्रशस्तप्रतिग्रहाद्यसम्भवो विशुद्धत्वेन वैश्यादिवृ-
त्त्यनाश्रयणं च तस्य गर्हितप्रतिग्रहाद्यपि न दोषायेत्याह मनुः—

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणस्ये पाथे स्थितः ।

अवृत्तिकर्षितस्सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥

अवृत्तिकर्षितो वृत्त्यभावपीडितः । इमं वक्ष्यमाणमित्यर्थः ।

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥

पवित्रं दुप्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते^२ ।

जीविताययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ॥

^१ शल्यहर्तुः—फ ; शल्यहस्तस्य—ख. ^२ नेदमर्थं मुद्रितकोशेषूपलभ्यते.

सर्वतः प्रतिगृहीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।

आकाशमिव पापेन न स पापेन लिप्यते ॥

याज्ञवल्क्योपि—

आपद्रुतस्संप्रगृह्णन्भुञ्जानो वा यतस्ततः ।

न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥

बृहस्पतिरपि—

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतश्शिशुः ।

अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुब्रवीत् ॥

अत्र पुरावृत्तमाह मनुः—

अजीगर्तस्सुतं हन्तुमुपासर्पद्रुभुक्षितः ।

न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥

श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।

प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥

भरद्वाजः क्षुधाऽऽर्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।

बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह पृथोस्तक्ष्णो महातपाः ॥

क्षुधाऽऽर्तश्चात्तुमभ्यागाद्रिश्वामित्रश्चजाघनीम् ।

चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥

श्वजाघनीं श्वपुच्छम् । अतो मुख्यवृत्त्यसम्भवे परवृत्त्याश्रयणा-
द्विगुणाऽपि स्वकीयैव वृत्तिज्यायसीति मन्तव्यम् । उक्तं च
मनुना—

वरं स्वधर्मो विंगुणो न पारक्यस्स्वनुष्ठितः ।

परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥

अनेनैवाभिप्रायेण व्यासोपि—

द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत्प्रशस्तेभ्यो द्विजोत्तमः ।

अपि वा जातिमात्रेभ्यो न तु शूद्रात्कथंचन ॥

इति । यदा तु गार्हितद्विजातिप्रतिग्रहाद्यपि न सम्भवति तदा

शूद्रादपि प्रतिगृहीयादित्युक्तं भवति । उक्तं चतुर्विंशतौ—

सीदंश्चेत्प्रतिगृहीयाद्ब्राह्मणेभ्यस्ततो नृपात् ।

ततस्तु वैश्यशूद्रेभ्यश्शङ्खस्य वचनं यथा ॥

इति । शूद्रप्रतिग्रहे तु विशेषमाहाङ्गिराः—

यत्तु राशीकृतं धान्यं खले क्षेत्रेऽथ वा भवेत् ।

शूद्रादपि ग्रहीतव्यमित्याङ्गिरसभाषितम् ॥

यदा तु शूद्रादपि प्रतिग्रहासम्भवः क्षत्रियादिवृत्त्यसम्भवश्च तदा

स्तैन्यं विहितमित्याह व्यासः—

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः ।

हीनादादेयमादौ स्यात्समाद्धा तदनन्तरम् ॥

असम्भवे त्वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ।

इति । अत्र कालनियममाह मनुः—

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्रता ।

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाऽप्युपलभ्यते ।
 आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥
 ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
 दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वं अजीवन् हर्तुमर्हति ॥

इति । सप्तमे भक्ते चतुर्थेऽङ्घ्रि प्रातःकाले । हीनकर्मण अब्राह्म-
 णादित्यर्थः । अत एव याज्ञवल्क्यः—

बुभुक्षितस्त्रयहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत् ।

अत्र मनुः—

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्रचर्थं तथैव च ।
 तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥

इति । यमोऽपि—

तृणं काष्ठं फलं मूलं प्रकाशं वै हरेद्विजः ।
 गोब्राह्मणार्थे गृह्णन्वै न स पापेन लिप्यते ॥

इति । नारदोऽपि—

शालिव्रीहिलानां तु मुष्टिर्ग्राह्या विधीयते ।
 यवगोधूमयोर्वाऽपि यदि वा मुद्गमाषयोः ॥
 एतेषां मानवैर्मुष्टिर्ग्रहीतव्याऽऽपदि स्थितैः ।
 शाकं शाकप्रमाणेन गृह्यमाणं न दुष्यति ॥
 ग्रहीतव्यानि पुष्पाणि देवतार्चनकारणात् ।
 अदत्तदायिनं विद्याद्यद्यभ्यधिकमिच्छति ॥

आपादि स्थितैरधिकमित्यर्थः ।

तिलमुद्गमाषयवगोधूमादीनां सस्यमुष्टिग्रहणेषु न
दोषः पथिकानाम्

इति स्मरणात् । याज्ञवल्क्योऽपि—

द्विजस्सृतौ तु पुष्पाणि सर्वतस्स्ववदाहरेत्^१ ।

स्ववत् अविशङ्कमित्यर्थः^२ । एतत्सर्वमापादि परिग्रहविषयम् ।
अन्यथाऽस्तेयमित्यादेरविवक्षितार्थत्वप्रसङ्गात् । अनापादि तु
गौतमेनोक्तं—

गोऽग्रचर्थे तृणमेधान्वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि

स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्

इति । स्ववत् यथा तेषां पीडा न भवति तथाऽऽर्हतव्यमित्यर्थः ।

पत्रं पुष्पं प्रचिन्वानो मूलच्छेदं तु वर्जयेत् ।

मालाकार इवारामे न यथाऽङ्गारकारकः ॥

इति व्यासस्मरणात् । अपरिवृतानां अदत्तवृतीनामपरिरक्षिता
नामिति यावत् । अत एव परिगृहीते दण्डमाह मनुः—

तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।

अनापृष्टस्तु गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हति ॥

अत्र याज्ञवल्क्यः—

विद्यातपोभ्यां हीनेन नैव ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।

गृह्ण-प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥

^१ नेदं याज्ञवल्क्यस्मृतावुपलभ्यते.

^२ नेदं वाक्यं कल्योर्दृश्यते.

[आमपात्रे यथा न्यस्तं क्षीरं दधि घृतं मधु ।
नश्येयुः पात्रदौर्वल्यात्ते रसास्तच्च भाजनम् ॥
एवं हिरण्यं गामश्वं वस्त्रं छत्रं तिलादिकम् ।
अपृष्ट्वा प्रतिगृह्णानो भस्मीभवति काष्ठवत् ॥]¹

इति । एवं च विद्यावतोऽर्थस्यैव² प्रतिग्रहाधिकारो नान्यस्येति
सिद्धम् । यः पुनरुक्तप्रतिग्रहाधिकारे सत्यपि न प्रतिगृह्णाति
तस्य फलमाह याज्ञवल्क्यः—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् ।
ये लोका दानशीलानां तान् स प्राप्नोति पुष्कलान् ॥

यमोऽपि—

प्रतिग्रहसमर्थस्य निवृत्तस्य प्रतिग्रहात् ।
य एव ददतो धर्मस्स एवाप्रतिगृह्णतः ॥
सर्ववेदाधिगमनात्सर्वदेवनिषेवणात् ।
गवां कोटिप्रदानाच्च श्रेयांस्तस्यापरिग्रहः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रतिग्रहादिनिरूपणम्.

आपद्धृत्तयः.

अथापद्धृत्तयः । अत्र मनुः—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणस्येन कर्मणा ।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥

¹ अङ्कितद्वयमध्यवर्तिश्लोकौ न याज्ञवल्क्यस्मृतानुपलभ्येते.

² वतो धनस्यैव—क. ख.

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

कृषिगोरक्ष्यमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥

प्रत्यनन्तरः सन्निकृष्टः । उभाभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियवृत्तिभ्यामप्य-
जीवनवैश्यवृत्तिकामास्थाय जीवेन्न शूद्रस्येत्यर्थः । तथा च
बृहस्पतिः—

अजीवन्कर्मणा स्वेन विप्रः क्षत्वं समाश्रयेत् ।

वैश्यकर्माथवा कुर्याद्वार्षलं परिवर्जयेत् ॥

वृषलश्शूद्रः । वैश्यकर्मणि विशेषमाह गौतमः—

कृषिवाणिज्ये चास्वयंकृते कुसीदं च

इति । कुसीदं वृद्धयर्थं धनप्रयोगः । कूर्मपुराणेऽपि—

कुसीदकृषिवाणिज्यं प्रकुर्वीतास्वयंकृतम् ।

कृषेरभावे वाणिज्यं तदभावे कुसीदकम् ॥

इति । यत्पुनर्मनुनोक्तं—

वैश्यवृत्त्याऽपि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिस्सद्विगर्हिता ।

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥

इति, तत्स्वयंकृताभिप्रायं, अन्यथा पूर्वोक्तवचनाविरोधात्
पराधीनां बलीवर्दायत्ताम् । परकृतकृष्याद्यसम्भवे तु स्वयं-
कृतमपि कृष्यादि भवत्येव ।

यथोक्तं बृहस्पतिना—

कुसीदकृषिवाणिज्यं प्रकुर्वीत स्वयं¹ कृतम् ।

आपत्काले स्वयं कुर्यान्नैनसा युज्यते द्विजः ॥

इति । कूर्मपुराणेऽपि—

स्वयं वा कर्षणं कुर्याद्वाणिज्यं वा कुसीदकम् ।

कष्टा पापीयसी वृत्तिः कुसीदं तां विवर्जयेत् ॥

इति । तथा नारदोऽपि वृद्ध्यपजीवनं निषिद्धमित्याह—

आपत्स्वपि हि कष्टासु ब्राह्मणस्य न वार्धुषम् ।

इति । वसिष्ठोऽपि—

ब्राह्मणराजन्यौ वार्धुषं न दद्याताम् ।

इति । वार्धुषं वृद्ध्यर्थं धनप्रयोगं न कुर्यातामित्यर्थः । एतत्सर्वम-

न्यहस्तादादाय प्रयोगनिषेधपरम् । यतोऽनन्तरमाह स एव—

समार्धं धनमुद्धृत्य महार्धं यः प्रयच्छति ।

स वै वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गार्हितः ॥

इति । अन्यहस्तादलिपकया वृद्ध्या धनं गृहीत्वा अन्यस्मै मह-

त्या वृद्ध्या यो ददाति स वार्धुषिको ब्रह्मवादिषु गार्हित इत्यर्थः ।

अत्रानन्तरं दोषोऽपि तेनैव दर्शितः—

भ्रूणहत्यां च वृद्धिं च तुलया समतोलयत् ।

अतिष्ठद्रूणहा कोट्यां वार्धुषिस्समकम्पत ॥

हारीतोपि—

ब्रह्मघ्नं वृद्धिजीवं च तुलया समतोलयेत् ।

अतिष्ठद्ब्रह्महा कोट्यां वृद्धिं जीवस्त्वकम्पत ॥

एवं धान्यादिविक्रयेऽपि द्रष्टव्यम् । तथा च मनुः—

समार्धं पण्यमाहृत्य महार्धं यः प्रयच्छति ।

स वै वार्धुषिको नाम यश्च वृद्ध्या प्रयोजयेत्¹ ॥

इति । अत्र—

यस्समार्धमृणं गृह्य महार्धं सम्प्रयोजयेत् ।

स वै वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गार्हितः ॥

वृद्धिं च ब्रह्महत्यां च तुलया समतोलयत् ।

अतिष्ठद्ब्रह्महा कोट्यां वार्धुषिस्समकम्पत ॥

इति बोधायनोक्तो विशेषः । एतच्च विशिष्टस्यैव निषेधात् कथं-
चित्स्वकीयस्ववृद्धयर्थं धनप्रयोगो न निषिद्धयते इति गम्यते ।

अत एव मनुः—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।

कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥

इति । पापीयसे निकृष्टकर्मणे² धर्मार्थं अल्पिकया दद्यादित्यर्थः ।

तथा च पैठीनासिः—

कामं तु पापीयसे दद्यान्न ज्यायसीं वृद्धिमुपाददीत

इति । सा च वृद्धिर्मनुना दर्शिता—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।

अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकशते ॥

¹ नैतन्मुद्रितमनुस्मृतिकोशे दृश्यते. ² धर्मणे —क. ख.

इति । यत्तु बृहस्पतिनोक्तं—

बहवो वर्धनोपाया ऋषिभिः परिकीर्तिताः ।

सर्वेषामपि चैतेषां कुसीदमधिकं विदुः ॥

इति, तद्वित्तवृद्धौ आधिक्यप्रतिपादनपरं न पुनश्चैष्ट्याभिधाना-
य । यतोऽनन्तरमाह स एव—

अनावृष्ट्या राजभयान्मूषकाद्यैरुपप्लवैः ।

कृष्यादिके भवेद्धानिः सा कुसीदे न विद्यते ॥

शुक्लपक्षे तथा कृष्णे रजन्यां दिवसेऽपि वा ।

उष्णे वर्धति शीते वा वर्धते न निवर्तते ॥

देशं गतानां या वृद्धिर्नानापण्योपजीविनाम् ।

कुसीदं कुर्वतस्सम्यक्सा स्थितस्यैव जायते ॥

इति । एवं च ब्राह्मणस्सीदन् क्षात्रधर्मेण¹ जीवेदलाभे विशां
वा न शौद्रेणेति सिद्धम्² । एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि स्वानन्तरा
वृत्तिर्वेदितव्या । तथा च मनुः—

जीवेदेतेन राजन्यस्सर्वेणाप्यनयं गतः ।

न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिन्येत कर्हिचित् ॥

इति । एतेन वैश्यवर्तनेन । अनयं गतः आपदं प्राप्त इत्यर्थः ।

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्तयाऽपि वर्तयेत् ।

अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥

¹ धार्मिकः — क. ख. — ² स्थितम् क. ख.

अकार्याण्युच्छिष्टभोजनादीनि । शक्तिमान्निस्तीर्णापत्कः । शूद्रवृ-
त्तया निवर्तेतेत्यर्थः । वसिष्ठोऽपि—

अजीवन् स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिं तिष्ठेन्न

कदाचिज्जयायसीम्

इति । पापीयसीं हीनवर्णविषयाम् । ज्यायसीमुपरितनवर्णविषयाम् ।

शूद्रस्य तूपरितनवर्णविषयोऽपि भवत्येव । तदाह नारदः—

उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।

मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥

इति । तयोर्ब्राह्मणशूद्रयोर्मध्ये ब्राह्मणस्यापकृष्टं शौद्रं कर्म नास्ति ।

तथा शूद्रस्योत्कृष्टं ब्राह्मणकर्म नास्तीत्यर्थः । केचिदत्यन्तापादि
शौद्रमपि कर्मेच्छन्ति । तदाह गौतमः—

अशौद्रेण । तदप्येके प्राणसंशये ।

इति । अशौद्रेण कर्मणा जीवेत् । प्राणसन्देहे तदपि जीवनार्थमि-
त्यर्थः । शूद्रापहृत्यस्तु याज्ञवल्क्येन दर्शिताः—

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वाणिग्भवेत् ।

शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरेत् ॥

इति । यैः कर्मभिर्द्विजातयश्शुश्रूष्यन्ते तैरित्यर्थः ।

तथा च मनुः—

यैः कर्माभिः प्रचरितैश्शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥

इति । तत्र वृत्तचन्तराण्याह याज्ञवल्क्यः—

कृपिशिलपं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेवाऽनूपो नृपो भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ॥

शिलपं सूपकरणादि^१ । भृतिः प्रेष्यत्वम् । विद्या भृतकाध्यापनादि । कुसीदं वृद्धचर्यं धनप्रयोगः । शकटं धान्यादिवहनद्वारेण जीवना-
र्थम् । गिरिः स्वगततृणादिद्वारेण । सेवा परचित्तानुवर्तनम् । अनू-
पो बहुवृक्षजलो देशः । नृपो राजा । एतान्यापत्तौ जीवनानीति
वचनादापदवस्थायां यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा सा तस्याभ्यनु-
ज्ञायते । मनुरपि—

विद्या शिलपं भृतिस्सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृपिः ।

भृतिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनेहेतवः ॥

इति । भृतिस्सन्तोषः । यस्मिन्नतिस्खल्पेनापि जीव्यन्ते ।

तत्राङ्गिराः —

व्याधितस्य दरिद्रस्य कुटुम्वात्प्रच्युतस्य च ।

अध्वानं वा प्रवृत्तस्य भिक्षाचर्यं विधीयते ॥

इति । एतदपि परवृत्त्याश्रयणं विगुणाया अपि स्ववृत्तेरलाभ-
विषयम् । तथा च मनुः —

वरं स्वधर्मो विगुणः न पारक्वयस्स्वनुष्ठितः ।

परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥

^१ सूचिकरणादि—क. ख.

गौतमोऽपि—

‘याजनाध्यापनप्रतिग्रहास्सर्वेषां पूर्वः पूर्वो गुरुः ।

तदलाभे क्षत्रवृत्तिः’

इति । सर्वेषां ब्राह्मणादीनां च कार्या इति शेषः । तत्रापत्कल्प
इत्यनुवर्तते । अतस्सर्वग्रहणेनाप्रशस्ता गृह्यन्ते । प्रशस्तानामना-
पदि विधानात् । अनेन याजनाध्यापनाभ्यां प्रतिग्रहः प्रशस्त
इत्युक्तं भवति । यमोऽपि—

प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानां

प्रतिग्रहं श्रेष्ठतमं वदन्ति ।

प्रतिग्रहाच्छुद्धयति जप्यहोमैः

याज्यं तु पापैर्न पुनन्ति वेदाः ॥

याज्यं याजकमित्यर्थः । एतद्विजातिप्रतिग्रहाभिप्रायम् ।

शूद्रविषयस्यैव मनुना याजनाध्यापनाभ्यां निकृष्टत्वाभिधानात्—

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादीपि ।

प्रतिग्रहः प्रत्यवरस्स तु विप्रस्य गार्हितः ॥

इति । प्रत्यवरो निकृष्टः । अत्र हेतुमाह स एव—

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।

प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्य^१ न्यजन्मनः ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥

इति । संस्कृतात्मनां द्विजातीनामिति यावत् । अतो याजना-
ध्यापनाभ्यां द्विजातेः प्रतिग्रह एव श्रेयानिति मन्तव्यम् । प्राति-
ग्रहेऽपि विशेषमाह मनुः—

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गोरजाविकमेव च ।

हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥

इति । अकृतमकृष्टम् । वैश्यवृत्त्या जीवतो यदपण्यं^१ तदाह
याज्ञवल्क्यः—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ।

तिलौदनरसक्षौद्रदधिक्षीरघृतं जलम् ॥

शस्त्रासवमधूच्छिष्टमधुलाक्षास्सवर्हिषः ।

मृचर्मपुष्पकुतपकेशतक्रविषक्षितीः ॥

कौशेयनीलीलवणमांसैकशफसीसकान् ।

शाकाद्रौपधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ॥

वैश्यवृत्त्याऽपि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ।

इति । फलानि वदरेङ्गदव्यतिरिक्तानि । विक्रेयमित्यनुवृत्तौ—

स्वयं विजीर्णं विदलं फलानां वदरेङ्गदे ।

रज्जुकार्पासकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेत् ॥

इति नारदस्मरणात् । उपलं माणिक्यादि । क्षौममतसीसूत्र-
निर्मितम् । अपूपं मण्टकादि । वीरुल्लता । रसा इक्षुरसा-

दयः । आसवो मद्यम् । मधूच्छिष्टं सिक्थकम् । मधु क्षौद्रम् ।
लाक्षा जतु । बार्हिः कुशादि । कुतपः कम्बलविशेषः । केशा-
श्रमर्यादिसम्बन्धाः । एकशफाः अश्वादयः । पशव आरण्या
ग्राम्याश्च—

पशूनामेकशफाः केशिनश्च सर्वे चारण्याः पशवो
वयांसि दंष्ट्रिणश्च

इति वसिष्ठस्मरणात् । केशिनो मनुष्याः । गौतमोऽपि—
तस्यापण्यं गन्धरसरुतान्नतिलशाणक्षौमाजिनानि
रक्तनिर्णिक्ते¹ वाससी क्षीरं सविकारं मूलफलपु-
ष्पौषधमधुमांसतृणोदकापथ्यानि पशवश्च हिंसा
संयोगे पुरीषवशाकुमारिवेहतश्च नित्यं भूमिव्रीहि-
यवाजाव्यश्वर्षभधेन्वनडुहश्चैके

इति । कृतान्नं पक्वान्नम् । रक्तं तान्तवम् ।

रक्तं शाणक्षौमाविकानि च

इति मनुस्मरणात् । निर्णिक्तं प्रक्षालितम् । मूलं हरिद्रादि ।
फलं क्रमुकादि । अपथ्यं विषम् । हिंसासंयोगे संज्ञप्ते पशवो
न विक्रेयाः । वशा बन्ध्या । वेहद्रर्भघातिनी । भूम्यादयोऽपि
नित्यमविक्रेयाः इत्येके मन्यन्ते । एकेग्रहणान्न गौतम इति व्या-
ख्यातं तद्भाष्ये । अविक्रेयमित्यनुवृत्तौ नारदोऽपि—

कुसुम्भं नारिकेलं च वृन्ताकं पूतिकं तथा ।

सोमश्श्रेष्ठातको यज्ञस्तोयं सर्पिश्च सर्वथा ॥

¹ निक्ते—इति सूत्रपाठः.

मनुरपि—

क्षीरं क्षौद्रं दधि धृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ।

इति । क्षौद्रं माक्षिकम् । अयं चापण्य^१ निषेधो ब्राह्मणस्यैव ।

यदाह नारदः—

वैश्यवृत्त्याऽप्यविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयो दधि ।

इति । आपस्तम्बोऽपि—

अविहिता ब्राह्मणस्य वणिज्या । आपदि व्यव-

हरेत पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन्

इति । अपण्यानि व्युदस्यन्पण्यैर्व्यवहरेतेत्यर्थः । अत्रापि विशेष-

माह स एव—

अक्रीतपण्यैर्व्यवहरेत

इति । अक्रीतपण्यैः क्रयेतरोपायलब्धैरित्यर्थः । अनेनापद्यक्रीतप-

ण्यैरापि न व्यवहरोदित्युक्तं भवति । एवमुक्तनिषेधातिक्रमणे दो-

षमाहतुश्शङ्खलिखितौ—

तिलदधिक्षौद्रलवणलाक्षामद्यमांसकृतान्नस्त्रीपुरुषह-

स्तचश्ववृषभगन्धरसकृष्णाजिनसोमोदकात्सद्यः प-

तति ब्राह्मणः

इति । याज्ञवल्क्योऽपि—

लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये ।

पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥

हीनवर्णश्शूद्रः । मनुरपि—

सद्यः पतति मांसेन लाक्षयां लवणेन च ।
 त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥
 इतरेषां तु पण्या¹नां विक्रयादिह कामतः ।
 ब्राह्मणस्सप्तरात्रेण वैश्यभावं निगच्छति ॥

यमोऽपि—

स्नेहद्रव्यरसानां च सत्वानां जीवतामपि ।
 विक्रेता दानपण्यानां प्रोच्यते ब्रह्महा बुधैः ॥
 गवां विक्रयकारी तु गवि रोमाणि यानि तु ।
 तावद्वर्षसहस्राणि गवां गोष्ठे क्रिमिर्भवेत् ॥
 दानाभ्यञ्जनभोगेभ्यो यदन्यत्कुरुते तिलैः ।
 क्रिमिर्भवति विष्टायां कर्मणा तेन पापकृत् ॥

मनुरपि—

भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।
 क्रिमिर्भूत्वा स विष्टायां पितृभिस्सह मज्जति ॥

इति । यत्तु तेनैवोक्तं—

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
 विक्रीणीत तिलाञ्जुद्धान्धर्मार्थमाचिरस्थितान् ॥

इति । शुद्धान्द्रव्यान्तरेणामिश्रान् । यदापि वासिष्ठेन—

¹ इतरेषामपण्या—क, ख&ग.

कामं वा स्वयं कृष्योत्पाद्य तिलान्विक्रीणीरन्
इति, तद्विनिमयलक्षणविक्रयाभिप्रायम् । यदाह नारदः—

अशक्तौ भेषजस्यार्थं यज्ञहेतोस्तथैव च ।

यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥

इति। धान्येनैव तु तुल्यमानास्तिला¹ विक्रेयाः न रूपकादिनेत्यर्थः।
याज्ञवल्क्योऽपि—

धर्मार्थं विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समाः ।

मनुरपि—

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।

कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥

कृतान्नं पक्वान्नम् । निमातव्याः परिवर्तनीया इत्यर्थः । एवं
मनुष्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । अत एवापस्तम्बः—

‘अन्नेन चान्नस्य मनुष्याणां च मनुष्यैः रसानां
च रसैः गन्धानां च गन्धैः विद्यया च विद्यानाम्’

इति । अत्र विनिमय इत्यनुवर्तते । रसेषु विशेषमाह वसिष्ठः—

रसा रसैस्समतो हीनतो वा निमातव्याः

इति । समतस्तुल्यमानत्वेन । हीनतोऽल्पपरिमाणत्वेन । गौतम-
स्तुन्नविषये विशेषमाह—

समेनामेन तु पक्वस्य

¹ धान्येनैव समास्तिलाः - क.

इति । पक्षमेनामेन पक्वविनिमयो भवतीत्यर्थः । अत्र हारीतः—
 विनिमयस्तु^१ रसादीनां विक्रयो नैव दुष्यति ।
 यज्ञार्थे दक्षिणादीनां प्रजापतिवचो यथा ॥

नारदोऽपि—

ब्राह्मणस्य तु विक्रेयं शुष्कं दारु^२तृणानि च ।
 इति । एवं परवृत्तचाश्रयणेन आपदं निस्तीर्य प्रायश्चित्तेन पाव-
 यित्वाऽऽत्मानं स्ववृत्तावेव न्यसेत् । तथा च याज्ञवल्क्यः—
 क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विजः ।
 निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥
 इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामापत्काण्डम्.

माध्यन्दिनस्नानम्.

ततोमाध्यन्दिनस्नानम् । तत्र बोधायनः—

ततो मध्याह्नसमये पुनस्स्नानं समाचरेत् ।
 सूर्यस्य चाप्युपस्थानं जपहोमादिकं ततः ॥

कूर्मपुराणे—

ततो मध्याह्नसमये स्नानार्थं मृदमाहरेत् ।
 मध्याह्नसमये अष्टधा विभक्तस्याह्नः चतुर्थभागे । अत एव दक्षः—
 चतुर्थेऽहस्तथा भागे स्नानार्थं मृदमाहरेत् ।
 तिलपुष्पकुशादीनि स्नानं चाकृत्स्निमे जले ॥

वसिष्ठहारीतावपि—

पवित्रपाणिरेकाग्रः पार्श्वान्नवलोकयन् ।

अरुग्दिवाऽऽचरेत्स्नानं मध्याह्नात्प्राग्विशेषतः ॥

अरुगरोगी । अनेनार्थान्न रोगी स्नायादित्युक्तं भवति । उक्तं च व्यासेन—

स्नानं मध्यन्दिने कुर्यात्सुजीर्णेऽन्ने निरामयः ।

न भुक्त्वाऽलङ्कृतो रोगी नाज्ञाताम्भासि^१ नाकुलः ॥

इति । एतच्च स्नानं गृहस्थवनस्थयोर्वेदितव्यम् । तथा च दक्षः—

प्रातर्मध्याह्नयोस्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः ।

यतेस्त्रिषवणं स्नानं सकृच्च ब्रह्मचारिणः ॥

इति । अत्र व्यासः—

मन्त्रपूतैर्जलैस्स्नानं प्राहुस्स्नानं फलप्रदम् ।

न वृथा वारिमग्नानां यादसामिव तत्फलम् ॥

यादसां जलजन्तूनामित्यर्थः । योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

मत्स्यकच्छपमण्डूकास्तोये मग्ना दिवानिशम् ।

वसन्ति चैव ते स्नानान्नामुवन्ति फलं क्वचित् ॥

इति । अतो मन्त्रवदेव कार्यमित्यभिप्रायः । अत एव तदकरणे दोषमाह विवस्वान्—

अविदित्वैव यस्स्नानविधानं^२ स्नानमाचरेत् ।

स याति नरकं घोरमिति धर्मस्य धारणा ॥

^१ न ज्ञातोऽम्भासि—क. ग.

^२ यस्मात् विधानं—ग.

इति । एतदपि द्विजातिविषयम् । तदाह विष्णुः—

ब्रह्मक्षत्रविशां चैव मन्त्रवत्स्नानमिष्यते ।

तूष्णीमेव हि शूद्रस्य स्त्रीणां च कुरुनन्दन ॥

अत्र स्नानद्रव्याण्याह योगयाज्ञवल्क्यः—

मृत्तिलान्गोमयं^१ दर्भान्पुष्पाणि सुरभीणि च ।

आहरेत्स्नानकाले तु स्नानार्थं प्रयतश्शुचिः ॥

इति । शातातपो मृत्स्वरूपमाह—

वल्मीकाग्वूत्कराल्लेपाज्जलाच्च पथिवृक्षयोः ।

कृतशौचावशिष्टाच्च न ग्राह्यास्सप्त मृत्तिकाः ॥

शुचिदेशात्तु सङ्ग्राह्याश्शर्कराश्मादिवर्जिताः ।

रक्ता गौरा^२ तथा श्वेता मृत्तिका त्रिविधा स्मृता ॥

मृत्तिकां गोमयं वाऽपि न निशायां समाहरेत् ।

न गोमूत्रं^३ प्रदोषेषु गृहीयाद्बुद्धिमान्नरः ॥

इति । मृदाद्याहरणानन्तरं योगयाज्ञवल्क्यः—

गत्वोदकान्तं विधिवत्स्थापयेत्तत्पृथक् क्षितौ ।

त्रिधा कृत्वा मृदं तां तु गोमयं च विचक्षणः ॥

अधमोत्तममध्यानामङ्गानां क्षालनं तु तैः ।

भागैः पृथक्पृथक्कुर्यात्क्षालने मृदसंस्करः ॥

अद्भिर्मृदाद्भिश्च चरणौ प्रक्षालयाचम्य वै शुचिः ।

^१ मृत्तिकां गोमयं—ख.

^२ गौरी—ग.

^३ न मूत्रं च—ख.

इति । अत्र मलस्नानं^१ प्रकृत्य व्यासः—

षड्भिः पादौ चतुर्भिस्तु जङ्घे नाभिकटी त्रिभिः ।

मृदैकया शिरः क्षाल्यं द्वाभ्यां नाभेस्तथोपरि ॥

अधश्च तिसृभिः कार्यः पादौ षड्भिस्तथैव च ।

प्रक्षाल्य सर्वकायं तद्विराचम्य यथाविधि ॥

इति । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था । मृदादिपरिमाणं कूर्मपुराणे दर्शितम्—

स्नानार्थं मृत्तिका ग्राह्या ह्यार्द्रामलकमात्रिका ।

गोमयस्य प्रमाणं तत्तेनाङ्गं लेपयेत्ततः ॥

इति । एतच्च मलापकर्षणं स्नानं^२ तटे कार्यम् । तथा च वृत्सिंहपुराणे—

शुचौ देशे समभ्युक्ष्य स्थापयेत्कुशमृत्तिकाः ।

मृत्तोयेन स्वकं देहं वहिस्संशोध्य यत्रतः ॥

दक्षोऽपि—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।

तेषां मध्ये तु यन्नित्यं तत्पुनर्भिद्यते त्रिधा ॥

मलापकर्षणं पार्श्वे मन्त्रवत्तु जले स्मृतम् ।

सन्ध्यास्नानमुभाभ्यां तु स्नानदेशाः प्रकीर्तिताः ॥

इति । पार्श्वे तटे । सन्ध्यास्नानं मार्जनम् । तदुभाभ्यां जलस्थला-

^१ अत्र स्नानं—ग.

^२ मलस्नानं—ख.

भ्यां कार्यमित्यर्थः । अत्र मलस्नानेऽपि नित्यग्रहणमनुक्तशाखि-
नामपि तस्य नित्यत्वं यथा स्यादिति । मलस्नानानन्तरं यमः—

पादप्रक्षालनं कृत्वा आचम्य प्राङ्मुखस्स्थितः ।

प्राणायामत्रयं कुर्यात्ततो ध्यात्वा दिवाकरम् ॥

इति । ततस्तीर्थपरिकल्पनादि कुर्यात् । तथा च मत्स्यपुराणं—

दर्भपाणिस्तु विधिना स्वाचान्तः प्रयतश्शुचिः ।

तीर्थं तु कल्पयेद्विद्वान्मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥

ॐ नमो नारायणायेति मूलमन्त्र उदाहृतः ।

चतुर्हस्तसमायुक्तं चतुरश्रं समन्ततः ॥

प्रकल्प्यावाहयेद्रङ्गामेभिर्मन्त्रैर्विचक्षणः ।

विष्णुपादप्रसूताऽसि वैष्णवी विष्णुदेवता ॥

त्राहि नस्त्वेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात् ।

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत् ॥

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तानि मे सन्तु जाह्नवि ।

नन्दिनीसेव ते नाम देवेषु नलिनीति च ॥

दक्षा पृथ्वी च विहगा¹ विश्वराया² शिवाऽमृता ।

विद्याधरी सुप्रसन्ना तथा लोकप्रसादिनी ॥

क्षमा च जाह्नवी चैव शान्ता शान्तिप्रदायिनी ।

एतानि पुण्यनामानि स्नानकाले प्रकीर्तयेत् ॥

भवेत्सन्निहिता तत्र गङ्गा त्रिपथगामिनी ।

¹ हरिता—क.

² विश्वेशा या—ख.

तथा गङ्गावाक्यमपि—

नन्दिनी नलिनी सीता मालती च महापगा¹ ।
 विष्णुपादाब्जसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी ॥
 भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी ।
 द्वादशैतानि नामानि यत्र यत्र जलाशये ॥
 स्नानोद्यतस्मरेन्नित्यं तत्र तत्र भवाम्यहम् ।

व्यासोऽपि—

कुरुक्षेत्रं गया गङ्गा प्रभासं नैमिशं तथा ।
 तीर्थान्येतानि सर्वाणि स्नानकाले भवन्तु मे ॥
 इति । एतत्सर्वं कृत्विमोदकविषयम्,
 गङ्गादिसर्वतीर्थानि कृत्विमादिषु संस्मरेत् ।
 इति योगयाज्ञवल्क्यस्मरणात् । देवलोऽपि—
 न नदीषु नदीं ब्रूयात्पर्वतेषु न पर्वतम् ।
 नान्यत्प्रशंसेत्तत्रस्थस्तीर्थेष्वायतनेषु च ॥
 इति । एवमावाह्य स्वशाखोक्तेन विधिना स्नायात् ।
 अत एव शौचानन्तरं मत्स्यपुराणे—

स्नानं कुर्यान्मृदा तद्वदामन्त्यं च विधानतः ।
 अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे ॥
 इति । अत्र जमदग्निः—
 अथ स्नानं प्रवक्ष्यामि सर्वपापप्रणाशनम् ।

नालपोदके द्विजस्नायान्नदीं चोत्सृज्य कृत्विमे ॥
 प्रागग्रमुदग्रं वा धौतवस्त्रं प्रसारयेत् ।
 अश्वक्रान्त इति शुद्धां मृत्तिकामाहरेच्छुचिः ॥
 नमो मित्रस्येत्यादित्याय दत्त्वा प्रक्षालयेत्करौ ।
 गन्धद्वारामिति जप्त्वा स्वान्येवाङ्गानि लेपयेत् ॥
 हिरण्यशृङ्गं वरुणमित्यपोऽभिप्रपद्यते ।
 सुमित्रा न इत्यपः क्षिप्त्वा दुर्मित्रास्तु बहिः क्षिपेत् ॥
 यदपां क्रूरमित्यपस्त्रिरालोड्य तु पाणिना ।
 आदिष्याभिमुखो मज्जेदापो अस्मानिति द्व्यृचा ॥
 मध्यन्दिनेऽप आचामेन्मन्त्रेणापः पुनन्तिवति ।
 अग्निश्च मेति सायं च प्रातस्सूर्यश्च मेति च ॥
 सुरभिमत्साऽब्लिङ्गाभिः प्रोक्षयेत्कुशपाणिना ।
 हिरण्यवर्णीयाभिश्च पावमानीभिरेव च ॥
 ऋतं चेत्येतदप्स्वन्तस्त्रिः पठेदघमर्षणम् ।
 यथाऽश्वमेधेऽवभृथं तथा स्नानेऽघमर्षणम् ॥

इति । अन्यज्जलतर्पणादि सर्वं प्रातस्स्नानोक्तं वेदितव्यम् । आदि-
 त्याभिमुखो मज्जेदिति स्थावरोदकविषयम् । तथा च नृसिंहपुराणं—

नद्यां स्रवत्सु च स्नायात्प्रतिस्रोतस्स्थितो द्विजैः ।

तटाकादिषु तोयेषु प्रत्यर्कं स्नानमाचरेत् ॥

इति । अत्र द्रुपदां प्रकृत्य कूर्मपुराणं—

अपः पाणौ समादाय जलैर्वै मार्जने कृते ।

विन्यस्य मूर्ध्नि तत्तोयं मुच्यते सर्वपातकैः ॥
इति । अत्र विशेषमाह योगयाज्ञवल्क्यः—

अपः पाणौ समादाय त्रिः पठेद्रूपदामृचम् ।

तत्तोयं मूर्ध्नि विन्यस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अन्तर्जलजपं प्रकृत्यापि स एवाह—

हत्वा लोकानपीमांस्त्रींस्त्रिः पठेदघमर्षणम् ।

यथाऽश्वमेधावभृथ एवं वै मनुरब्रवीत् ॥

द्रुपदा नाम सा देवी यजुर्वेदे प्रतिष्ठिता ।

अन्तर्जले त्रिरावृत्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥

व्यासोऽपि—

द्रुपदा नाम गायत्री ब्राह्मी वाजसनेयके ।

सकृदन्तर्जले जप्तुर्ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥

अन्तर्जले त्रिरावृत्य सावित्रीं प्रयतस्ततः ।

मुच्यते पातकैस्सर्वैर्यदि न ब्रह्महा भवेत् ॥

हारीतोऽपि—

जुम्बुका नाम गायत्री वेदे वाजसनेयके ।

अन्तर्जले सकृज्जप्त्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥

सुमन्तुरापि—

‘मातरं भगिनीं हत्वा¹ मातृष्वसारं पितृष्वसारं

स्नुषां सखीं चान्यद्वाऽगम्यागमनं कृत्वाऽघमर्षण-

सूक्तमन्तर्जले त्रिरावृत्य तदेतस्मात्पूतो भवति’

¹ गत्वा — ग.

इति । हारीतोऽपि—

‘आः गौः पृश्निरक्रमीदित्येतामृचं त्रिरन्तर्जले ज-
पन्सर्वस्मात्पापत्प्रमुच्यते । अपि वा व्याहृतीस्त्रि-
रन्तर्जले जपन्सर्वस्मात्पापत्प्रमुच्यते¹’

इति । गौतमोऽपि—

अपि वा गायत्रीं पञ्चोऽर्धर्चशः समस्तामिति
त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मात्पापत्प्रामुच्यते । अपि वा
प्रणवं त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मात्पापत्प्रमुच्यते

इति । अत्र वसिष्ठस्नानविधानमाह—

अथ स्नानविधिं कृत्स्नं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
येन स्नात्वा दिवं यान्ति श्रद्धधाना द्विजोत्तमाः ॥
प्रयतो मृदमादाय दूर्वामाद्रीं च गोमयम् ।
स्थापयित्वा तथाऽऽचम्य ततस्नानं समाचरेत् ॥
मृदैकया शिरः क्षाल्यं द्वाभ्यां नाभेस्तथोपरि ।
अधश्च तिसृभिः कायं पादौ षड्भिस्तथैव च ॥
प्रक्षाल्य सर्वमङ्गं तु द्विराचम्य यथाविधि ।
ततस्सम्मार्जनं कुर्यान्मृदा पूर्वं तु मन्त्रवित्² ॥
अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे ।
उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ॥

¹ हंसशुचिषदित्येतामृचं त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मात्पापत्प्रमुच्यते. इति घ-
पुस्तकेऽधिकः पाठः.

² मन्तवत् — क.

मृत्तिके त्वां च गृह्णामि प्रजया च धनेन च ।
 मृत्तिके ब्रह्मदत्ताऽसि काश्यपेनाभिमन्त्रिता ॥
 मृत्तिके हन मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
 मृत्तिके देहि मे पुष्टिं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
 पुनश्च गोमयेनैव अग्रमग्रमिति ब्रुवन् ।
 अग्रमग्रं चरन्तीनामोषधीनां वने वने ॥
 तासामृषभपत्नीनां पवित्रं कायशोधनम् ।
 त्वं मे रोगांश्च शोकांश्च पापं मे नुद गोमय ॥
 काण्डात्काण्डादिति द्वाभ्यामङ्गमङ्गमिति स्पृशेत् ।
 दूर्वयेति शेषः । याजुर्वेदिकावेतौ मन्त्रौ ।
 कृत्वैवं मार्जनं मन्त्रैरश्वक्रान्तादिभिस्ततः ।
 इहैव देवीममृतां पारावत पुरादिषु^१ ॥
 एताश्शतमिति^२ ध्यात्वा तीर्थान्यावाहयेद्बुधः ॥
 कुरुक्षेत्रं गयां गङ्गां प्रभासं पुष्कराणि च ।
 ततो महाव्याहृतिभिर्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥
 आपो हिष्ठेदमापश्च द्रुपदादिव इत्यापि ।
 तथा हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरेव च ॥
 ततोऽर्कमीक्ष्य सोङ्कारं निमज्जयान्तर्जले बुधः ।
 प्राणायामांश्च कुर्वीत गायत्रीं चाघमर्षणम् ॥

^१ पारावातस्य रात्रिषु—ग; पारावातपुनःत्रिषु ख.

^२ ये ते शतमिति—ग. ^३ द्वाभ्यां—ग.

यथोक्तैः क्षोभितस्तैस्तु मज्जेत्त्रिर्दण्डवत्ततः ।

यथोक्तैर्वायोराध्माननिरोधोत्सर्गरूपैः,

स्नात्वा सङ्गृह्य वासोऽन्यदूरं संशोधयेन्मृदा ।

अपवित्रे कृते ते तु कौपीनस्त्राववारिणा ॥

नोत्तरीयमधः कुर्यान्नोपर्याधस्तचमम्बरम् ।

नान्तर्वासो विना जातु निवसेद्वसनं बुधः ॥

प्राग्वोदग्वा शुचौ देशे उपविश्य द्विराचमेत् ।

योऽनेन विधिना स्नाति यत्र यत्राम्भसि द्विजः ॥

स तीर्थफलं^१ मामोति तीर्थे तु द्विगुणं फलम् ।

मनोवाक्कर्मभिश्चापि यत्पापं कुरुते तु सः ॥

नाशमामोति^२ तत्सर्वमामपात्रमिवाम्भसि ॥

इति । मृत्तोयैः कृतमलापकर्षणो निमज्ज्याप उपस्पृश्य आपो हिष्ठेति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः इदमापः प्रवहतेति च तीर्थमभिमन्त्रयेत् । ततोऽप्सु निमग्नः त्रिरघमर्षणं जपेत् । तद्विष्णोः परमं पदमिति, द्रुपदां वा सावित्रीं, युञ्जते मन इत्यनुवाकं वा पुरुषसूक्तं वा । स्नातश्चाद्रिवासा देवर्षिपितृतर्पणमम्भस्स्थ एव कुर्वीतेति । आपस्तम्बोऽपि—

‘शनैरपोऽभ्यवेयादभिघ्नन्नभिमखमादियमुदकभु-

पस्पृशेदिति सर्वत्रोदकस्पर्शनविधिः’

^१ सम्पूर्णं फल—क. ख.

^२ नाशमायाति—क. ख.

इति । अत्रोदकस्पर्शनमित्येतद्वनस्थविषयं तत्प्रकरणे पाठादिति व्याख्यातं तद्भाष्ये । अत्रानुकल्पमाह योगयाज्ञवल्क्यः—

य एष विस्तरः प्रोक्तस्नानस्य विधिरुत्तमः ।

असामर्थ्यान्न कुर्याच्चेत्तत्रायं विधिरुच्यते ॥

स्नानमन्तर्जले चैव मार्जनाचमने तथा ।

जलाभिमन्त्रणं चैव तीर्थस्य परिकल्पनम् ॥

अघमर्षण सूक्तेन त्रिरावृत्तेन नित्यशः ।

स्नानाचरणमित्येतत्समुद्दिष्टं महर्षिभिः ॥

इति । एतत्तीर्थपरिकल्पनं जलाभिमन्त्रणाचमनमार्जनान्तर्जल-
स्नानेषु त्रिरावृत्ताघमर्षणसूक्तविधिपरमिति कैश्चिद्व्याख्यातम्
इति स्मृतिचन्द्रिकायां माध्यन्दिनस्नानम् ॥

मध्याह्नसन्ध्या

अथ मध्यह्निसन्ध्या । तत्र शङ्खः—

प्रातस्सन्ध्यां सनक्षत्रां मध्यमां स्नानकर्मणि ।

सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामुपासीत यथाविधि ॥

स्नानकर्मणि माध्यन्दिनस्नानानन्तरमित्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—
कृतस्नानस्त्वाचान्तो यथाविधि प्राणानायम्य मध्याह्नसन्ध्या-
मुपासिष्ये इति सङ्कल्प्य पूर्ववदापो हिष्ठेति तृचेन याजयित्वाऽऽपः
पुनन्तिवसपः पिबेत् । तस्यानुष्टुप्छन्दः । विष्णुः ऋषिः । अपो देवता
मध्याह्नसन्ध्याचमने विनियोगः । ततो मार्जनादि सर्वं प्रातस्स

न्ध्यावदा सावित्रीजपात् । अत्र विशेषः कूर्मपुराणे दर्शितः—

ततो मध्याह्नसन्ध्यायामासीनः प्राञ्जुखो जपेत् ।

स्थितो जपेत्सदाकालमादित्याभिमुखो द्विजः ॥

इति । स्थितश्चेदादित्याभिमुखो जपेदित्यर्थः । अत एव योग-
याज्ञवल्क्यः—

तिष्ठंश्चेद्दीक्षमाणोऽर्कमासीनः प्राञ्जुखो जपेत् ।

अत्रापि स्वशाखोदितैर्मन्त्रैरादित्यमुपातिष्ठेत्,

उपस्थानं स्वकैर्मन्त्रैरादित्यस्य तु कारयेत् ।

इति वसिष्ठस्मरणात् । एतत्सर्वं नारायणोक्तं—

उपवीती बद्धशिखस्समाचम्य ¹ यथागमम् ।

पवित्रपाणिस्सोङ्कारं यज्ञेशं मनसा स्मरेत् ॥

प्रातस्सन्ध्याविधानेन छन्द आर्षं च दैवतम् ।

स्मृत्वा चाचम्य च प्राणानायामेद्दर्भपाणिना ॥

आपः पुनन्तु मन्त्रेण आपो हिष्ठेति मार्जनम् ।

प्रक्षिप्य चाञ्जलिं सम्यगुदुखं चित्रमित्यपि ॥

तच्चक्षुर्देवहितं च हंसशुचिपदिसपि ।

एतज्जपेद्धूर्ध्वाहुस्मूर्यं पश्यन्समाहितः ॥

गायत्र्या तु यथाशक्ति उपस्थाय दिवाकरम् ।

नोच्चैर्जप्यं बुधः कुर्यात्सावित्र्या च विशेषतः ॥

इति । कूर्मपुराणे तत्स्नानमध्य एव सन्ध्याचमनाद्युक्तं—
ततो मध्याह्नसमये स्नानार्थं मृदमाहरेत् ।
पुष्पाक्षतान्कुशतिलान्गोमयं शुद्धमेव च ॥
मृदैकया शिरः क्षाल्यं द्वाभ्यां नाभेस्तथोपरि ।
अधश्च तिसृभिः कायं पादौ षड्भिस्तथैव च ॥
मृत्तिका च समुद्दिष्टा त्वार्द्रामलकमात्रिका ।
गोमयस्य प्रमाणं तत्तेनाङ्गं लेपयेत्ततः ॥
प्रक्षालयाचम्य विधिवत्ततस्स्नायात्समाहितः ।
अभिमन्त्रय जलं मन्त्रैरब्लिङ्गैर्वारुणैश्शुभैः ॥
भावपूतस्तदव्यक्तं धारयेद्विष्णुमव्ययम् ॥
आपो नारा इति प्रोक्तास्ता एवास्यायनं पुनः ॥
तस्मान्नारायणं देवं स्नानकाले स्मरेद्बुधः ।
प्रेक्ष्य सोङ्कारमादित्यं त्रिर्निमज्जय जलाशये ॥
आचान्तः पुनराचामेन्मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।
अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ॥
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ।
ततस्सम्मार्जनं कुर्यादापो हिष्ठा मयोभुवः ॥
इदमापः प्रवहत व्याहृतीभिस्तथैव च ।
ततोऽभिमन्त्रय तत्तोयमापो हिष्ठादिमन्त्रकैः ॥
अन्तर्जलगतो मग्नो जपेत्त्रिरघमर्षणम् ।
अथोपतिष्ठेदादित्यमूर्ध्वं पुष्पान्वितं जलम् ॥

प्रक्षिप्यालोकयेद्देवं उद्वयं तमसस्पारि ।
 उदुसं चित्रमित्येतत्तच्चक्षुरिति मन्त्रतः ॥
 हंसश्शुचिषदित्येव सावित्र्या च विशेषतः ।
 अन्यैश्च वैदिकैर्मन्त्रैस्सौरैः पापप्रणाशनैः ॥
 सावित्रीं वै जपेत्पश्चाज्जपयज्ञस्स वै स्मृतः ।

इति । बोधायनोऽपि—

“अथ हस्तौ प्रक्षाल्य कमण्डुलुं मृत्पिण्डं च परिगृह्य
 तीर्थे गत्वा त्रिः पादौ प्रक्षालयेत् त्रिरात्मानम् ।
 अथापोऽभिप्रतिपद्यते हिरण्यशृङ्गं वरुणमिति । अथा-
 जलिना अप उपहन्ति सुमित्रा न आप ओषधय-
 स्सन्तिवति । तां दिशं निरुक्षति यस्यामस्य दिशिद्वे-
 ष्यो भवति दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुरिति । अथाप उप
 स्पृश्य त्रिः प्रदक्षिणमुदकमावर्तयति यदपां क्रूरामि-
 ति । अप्सु निमज्ज्य उत्तीर्य चाचान्तः पुनराचा-
 मेत् आपः पुनन्तु इति । पवित्रे कृत्वाद्भिर्मार्जयि-
 त्वाऽऽपो हिष्ठेति तिसृभिर्हिरण्यवर्णां इति चतसृभिः
 पवमानस्सुवर्जनइत्यान्तेनानुवाकेन । मार्जयित्वाऽन्त-
 र्जलगतोऽधमर्षणेन त्रीन्प्राणायामान्धारयित्वा उ-
 त्तीर्य वासः पीडयित्वा प्रक्षालितोपवाताक्लिष्टानि
 वासांसि परिधायाचम्य दर्भेष्वासीनो दर्भान्धार-
 यमाणः प्राङ्मुखस्सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेत् ”

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां माध्यन्दिनसन्ध्यानिर्णयः.

जपयज्ञप्रशंसा.

अथ जपयज्ञप्रशंसा । तत्र वसिष्ठः—

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

पाकयज्ञा देवयज्ञादयः । विधियज्ञो ज्योतिष्टोमादिः । मनुरपि—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।

जप्येनैव तु संसिद्धयेद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ॥

यमोऽपि—

वृत्तीनां कर्षणं श्रेष्ठं धर्माणां स्वागतक्रिया ।

जपयज्ञस्तु यज्ञानां सर्वेषामुत्तमस्मृतः ॥

पुराणेऽपि—

यक्षरक्षःपिशाचाश्च ग्रहास्सर्वे विभीषणाः ।

जपिनं नोपसर्पन्ति दूरादेवापयान्ति ते ॥

वासिष्ठोऽपि—

यथाऽग्निर्वायुनोद्धूतो हविषा चैव दीप्यते ।

एवं जप्यपरो नित्यं मन्त्रयुक्तस्सदा द्विजः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां जपयज्ञप्रशंसा.

जप्यानि

अथ जप्यानि । तत्र योगयाज्ञवल्क्यः —

जपयज्ञो हि कर्तव्यस्सर्ववेदप्रणीतकैः ।

पवित्रैर्विविधैश्चान्यैर्गृह्योपनिषदां तथा ॥

अध्यात्मविद्या विविधा जप्यास्तु जपसिद्धये ।

अन्यैर्देवतास्तवनादिभिः । विष्णुरपि—

स्नातः पवित्रपाणिः यथाशक्ति जपेद्विशेषतः

सावित्रीं पुरुषसूक्तं वा नैताभ्यामधिकमस्ति

इति । तानि च पवित्राणि वसिष्ठेन दर्शितानि—

सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् ।

येषां जपैश्च होमैश्च पूयते नात्र संशयः ॥

अघमर्षणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समाः ।

कूश्माण्ड्यः पावमान्यश्च दुर्गा सावित्र्यथैव च ॥

अभिषङ्गाः पदस्तोभा¹स्सामानि व्याहृतिस्तथा ।

वारुणानि च सामानि गायत्रं रैवतं तथा ॥

अब्लिङ्गा बार्हस्पत्यं च वाक्सूक्तं मध्वचस्तथा ।

शतरुद्रमथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं महाव्रतम् ॥

गोसूक्तमश्वसूक्तं च इन्द्रशुद्धे च सामनी ।

त्रीण्याज्यदोहानि रथन्तरं च

अग्निव्रतं वामदेव्यं बृहच्च ।

एतानि जप्यानि पुनन्ति जन्तून्

जातिस्मरत्वं लभते य इच्छेत् ॥

अघमर्षणमृतं चेत्याद्यास्तिस्रः । देवकृतं देवकृतस्यैनस इत्यादयः ।

शुद्धवत्य एतोऽन्विन्द्रं स्तवामेत्याद्यास्तिस्रः । तरत्समास्तरत्सम-

न्दी धावतीत्याद्यास्तिस्रः¹ । कूश्माण्ड्यो यदेवा देवहेळनमित्य-
 नुवाकत्रयम् । पावमान्यः स्वादिष्ठया मदिष्ठयेत्येवमाद्याः । दुर्गा
 जातवेदसे सुनवाम सोममित्येका ऋक् । सावित्री तत्सावि-
 तुरिति । अभिषङ्गादयो रैवतान्तास्सामविशेषाः । अब्लिङ्गा
 आपो हिष्ठेत्याद्याः । बार्हस्पत्यं यस्तस्तम्भ सहसेत्येकादशर्चम् ।
 वाक्सूक्तं अहं रुद्रेभिरित्यष्टर्चम् । मध्वृचः मधु वाता ऋताय-
 ते इत्याद्यास्तिस्रः । शतरुद्रीयं नमस्ते रुद्र मन्यवे इत्येकादशानु-
 वाकाः । त्रिसुपर्णं ब्रह्म मेतु मामित्यनुवाकत्रयम् । महाव्रतं राजनं
 नाम साम । गोसूक्तं आ गावो अग्भन्नित्यष्टर्चम् । अश्वसूक्तं
 मा नो मित्रो वरुण इति द्वाविंशर्चम् । इन्द्रशुद्धादयो बृहदन्ता-
 स्सामविशेषाः । एतानि पवित्राणि अघमर्षणानीत्यर्थः ।
 चतुर्विंशतावपि—

देवव्रताज्यदोहानि आग्नीध्रं च रथन्तरम् ।
 धर्मसामानि रौद्राणि जप्त्वा पापैः प्रमुच्यते ॥
 यज्ञायज्ञियमादित्यं ज्येष्ठसाम च राजनम् ।
 गारुडानि च सामानि जप्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥

मनुरपि—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
 न ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥
 वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
 अद्रोहेण च भूतानां जार्तिं स्मरति पौर्विकीम् ॥

¹ याश्चतस्रः—घ.

पौर्वीकीं संस्मरन्जार्तिं ब्रह्मैवाभ्यसते द्विजः ।

ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥

यमोऽपि —

जपेद्वाऽप्यस्य वामीयं पावमानीरथापि वा ।

कुन्तापं वालखिल्यांश्च निवित्प्रैषं वृषाकापिम् ॥

होतृद्रुद्रान्पितृजम्ना मुच्यते सर्वपातकैः ।

अस्य वामीयं 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' इति द्विपञ्चा-
शद्वचम् । होतृन् चित्तिस्त्रुगित्यादि । रुद्रान् कद्रुद्रायेति पञ्च
रुद्रसूक्तानि । पितृन् परेयुवांसमित्यादीन् । चतुर्विंशतावपि—

अग्नेर्मन्वेऽनुवाकं तु जपेदेनमनुत्तमम् ।

सिंहे मे मन्युरिसेतमनुवाकं जपेद्विजः ॥

जम्ना पापैः प्रमुच्येत बोधायनवचो यथा ।

त्रिमधु त्रिसुपर्णी च नाचिकेतत्रयं तथा ॥

नारायणं जपेत्सर्वं मुच्यते ब्रह्महत्यया ।

यत्किञ्चित्पातकं कुर्याद्यत्किञ्चेदमृचं जपेत् ॥

हंसश्शुचिषदिसेतां जपेद्वाऽपि त्रियम्बकम् ।

ब्राह्मणानि च कल्पांश्च षडङ्गानि तथैव च ॥

आख्यातानि तथाऽन्यानि जम्ना पापैः प्रमुच्यते ।

इतिहासपुराणानि देवतास्तवनानि च ॥

जम्ना पापैः प्रमुच्येत धर्माख्यानैस्तथा परैः ।

याज्ञवल्क्योऽपि—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।

सर्वपापहरा ह्येते रुद्रैकादशिनी तथा ॥

शुक्रियं विश्वानि देव सवितरिति । आरण्यकं प्रियं
वाचं प्रपद्यत इति । एतद्वयमपि वाजसनेयके पठ्यते । रुद्रा
एकादशकृत्वोऽभ्यस्यन्ते यस्यां जपक्रियायां सा रुद्रैकादशिनी-
त्युच्यते । अत्रिरपि—

एकादशगुणान्वाऽपि रुद्रानावृत्य धर्मवित् ।

महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥

पुराणेऽपि—

पृथ्वीं ससागरां यो हि कृत्स्नां शैलवनान्विताम् ।

दद्यात्काञ्चनसम्पूर्णां हैमीमोषधिसंयुताम् ॥

तस्याधिकफलं नूनं रुद्रजापी सकृद्विजः ।

तपस्तप्याति चात्यर्थं सहस्राब्दानि संयमी ॥

न स तत्फलमाप्नोति यस्सकृद्रुद्रजापकः ।

गवां कोटिप्रदानं यः करोति विधिवद्गुरौ ॥

न स तत्फलमाप्नोति यस्सकृद्रुद्रजापकः ।

यज्ञस्तपश्च दानानि तीर्थानि विविधानि च ॥

एतानि रुद्रजापस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

अत्र संवर्तः—

स्वरमात्राविहीनं तु पादाक्षरविवर्जितम् ।

न्यूनाधिकं वा कृत्वा तु आभिर्गीर्भिरितीरयेत् ॥
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां जप्यानि.

जप्यान्तरम्.

अथ जप्यप्रसङ्गादन्यदापि जप्यान्तरमुच्यते । तत्र पुलस्त्यः—

कामः कामप्रदः¹ कान्तः कामपालस्तथा हरिः ।

आनन्दो माधवश्चैव कामसंसिद्धये जपेत् ॥

रामः परशुरामश्च नृसिंहो विष्णुरेव च ।

त्रिविक्रमश्चेत्यादीनि जप्यान्यरिजिगीषुभिः ॥

विद्यामभ्यस्यतां नित्यं जप्तव्यः पुरुषोत्तमः ।

दामोदरं² बन्धगतो नित्यमेव जपेन्नरः ॥

केशवं पुण्डरीकाक्षमनिशं हि तथा जपेत् ।

नेत्रबाधासु सर्वासु दृषीकेशं भयेषु च ॥

अच्युतं चामृतं चैव स्मरेदौषधकर्मणि ।

सङ्ग्रामाभिमुखो गच्छन्संस्मरेदपराजितम् ॥

चक्रिणं गदिनं चैव शार्ङ्गिणं खड्गिनं तथा ।

क्षेमार्थं प्रवसन्नित्यं दिक्षु प्राच्यादिषु स्मरेत् ॥

अजितं चाधिपं चैव सर्वं सर्वेश्वरं तथा !

संस्मरेत्पुरुषो भक्त्या व्यवहारेषु सर्वदा ॥

नारायणं सर्वकालं क्षुतप्रस्वलनादिषु ।

¹ प्रियः—ग.

² दामोदरो—ग.

ग्रहनक्षत्रपीडासु देववाधासु सर्वदा ॥
 दस्युवैरिनिरोधेषु सिंहव्याघ्रादिसङ्कटे ।
 अन्धकारे तमिस्रे च नरसिंहमनुस्मरेत् ॥
 तरत्यखिलदुर्गाणि तापातो जलशायिनम् ।
 गरुडध्वजानुस्मरणाद्विषवीर्यं प्रशाम्यति ॥
 स्नाने देवार्चने होमे प्रणिपाते प्रदाक्षिणे ।
 कीर्तयेद्भगवन्नाम वासुदेवेति तत्परः ॥
 स्थापने वित्तधान्यादेरपथ्यान्ने च दुष्टजे ।
 कुर्वीत तन्मना भूत्वा अनन्ताच्युतकीर्तनम् ॥
 नारायणं शार्ङ्गधरं श्रीधरं पुरुषोत्तमम् ।
 वामनं खगुिनं चैव दुस्स्वप्नेषु सदा स्मरेत् ॥
 एकार्णवादौ पर्यङ्कशायिनं च नरस्मरेत् ।
 बलभद्रं समृद्धयर्थं वीरकर्मणि संस्मरेत्^१ ॥
 जगत्सूति^२ मपत्यार्थी स्तुवन्भक्त्या न सीदति ।
 श्रीशं सर्वाभ्युदयिके कर्मण्याथु प्रकीर्तयेत् ॥
 अरिष्टेष्वप्यशेषेषु विशोकं च सदा जपेत् ।
 मरुत्प्रपतनाग्रचम्बुवन्धनादिषु मृत्युषु ॥
 स्वतन्त्रपरतन्त्रेषु वासुदेवं जपेद्बुधः ।
 सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः ॥
 यद्वाऽभिरोचते नाम तत्सर्वार्थेषु कीर्तयेत् ।

^१ कीर्तयेत्—ख. घ.

^२ जगत्पाति—ख. घ.

सर्वार्थसिद्धिमाप्नोति नाम्नामेकार्थता यतः ॥

सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणोऽनघ ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां जप्यान्तरनिर्णयः ।

ब्रह्मयज्ञः

अथ ब्रह्मयज्ञः । तत्र मनुः—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥

इति । यथा छदींषि न दृश्यन्ते तथाऽरण्यं¹ गत्वेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादछदि-

दर्श उदीच्यां प्रागुदीच्यां वोदित आदिसे

इति । आदिसोदयादूर्ध्वं नोदितमात्र इत्यर्थः । अत एव बृहस्पतिः—

स चार्वाक्तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ।

वैश्वदेवावसाने वा नान्यदर्थे² निमित्ततः ॥

इति । वैश्वदेवशब्देनात्र मनुष्ययज्ञान्तं कर्म लक्ष्यते,

न वैश्वदेवमात्रं तत्रैव तस्य विधानात् । तथा च श्रुतिः—

पञ्च वा एते महायज्ञास्सतति प्रतायन्ते सतति

सन्तिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो

ब्रह्मयज्ञः

¹ यदा हिंसादयो न विद्यन्ते तदाऽरण्यं—ख. घ.

² नान्यत्रार्थे—ग.

इति । सतति सन्ततमन्वहमित्यर्थः । कूर्मपुराणेऽपि—

यदि स्यात्तर्पणादर्वाग्ब्रह्मयज्ञः कृतो न हि ।

कृत्वा मनुष्ययज्ञं वै ततस्स्वाध्यायमारभेत् ॥

इति । 'ऋते निमित्ततः' इत्यनेन साति निमित्ते कालान्तरेऽप्य-

विरुद्ध इत्युक्तं भवति । अत एव श्रुतिः—

ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वेति

ह स्माह शौच आह्वेय उतारण्ये बल उत वाचोत

तिष्ठन्नुत व्रजन्नुतासीन उत शयानोऽधीयीतैव

स्वाध्यायं तपस्वी पुण्यो भवति

इति । अत्राह्वेयशौच इत्याह स्मेति सम्बन्धः । अध्ययने तु वि-

शेषमाह योगयाज्ञवल्क्यः—

प्रदाक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्योपविश्य च ।

दर्भेषु दर्भपाणिभ्यां संहताभ्यां कृताञ्जलिः ॥

स्वाध्यायं तु यथाशक्ति ब्रह्मयज्ञार्थमाचरेत्¹ ।

शौनकोपि—

प्राणायामैर्दग्धदोषश्शुक्लाम्बरधरश्शुचिः ।

यथाविध्यप आचम्य आहरेर्दर्भसंस्तरम् ॥

पवित्रपाणिः कृत्वा तु उपस्थं दक्षिणोत्तरम् ।

इति । अधीयीतेति शेषः । तच्चाचमनं तैत्तिरीयकश्रुतौ दर्शितं—

उदित आदिसे दक्षिणत उपवीयोपविश्य हस्ता-

¹ ब्रह्मयज्ञं समाचरेत्—ख.

ववनिज्य त्रिराचामेद्विः परिमृज्य सकृदुपस्पृश्य
 शिरश्चक्षुषी नासिके श्रोत्रे हृदयमालभ्य य-
 त्त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति यद्विः परि-
 मृजति तेन यजूंषि यत्सकृदुपस्पृशति तेन सामा-
 नि यत्सव्यं पाणिं पादौ प्रोक्षति यच्छिरश्चक्षुषी
 नासिके श्रोत्रे हृदयमालभते तेनाथर्वाङ्गिरसो ब्राह्म-
 णानीतिहासान्पुराणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीः
 प्रीणाति दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा प्राङ्मा-
 सीनस्स्वाध्यायमधीयीतापां वा एष ओषधीनां
 रसो यद्दर्भास्सरसमेव ब्रह्म कुरुते दक्षिणोत्तरौ
 पाणी पादौ कृत्वा सपवित्रावोमिति प्रतिपद्यते
 इति । ततो व्याहृतीरनूच्य सावित्रीं पच्छोऽर्धर्चशस्सर्वामिति
 ब्रूयात् । तदाह शौनकः—

ओम्पूर्वा व्याहृतयस्सावित्रीमन्वाह पच्छोऽर्धर्च-
 शस्सर्वाम्

इति । तिस्र एव व्याहृतयः । तथा च श्रुतिः—

त्रीनेव प्रायुङ्क्त भूर्भुवस्स्वरित्यादैतद्वै वाचस्सत्यं
 यदेव वाचस्सत्यं तत्प्रायुङ्क्ताथ सावित्रीं गायत्रीं
 त्रिरन्वाह पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानं सविता श्रियः
 प्रसविता श्रियमेवाप्नोत्यथो प्रज्ञातयैव प्रतिपदा
 छन्दांसि प्रतिपद्यते

इति । प्रतिपदारम्भः । अनेन वेदादिमारभ्य क्रमादुपर्युपर्येवा-
धीयीतेत्युक्तं भवति । उक्तं च योगयाज्ञवल्क्येन —

आदावारभ्यं वेदं तु स्नात्वोपर्युपरि क्रमात् ।

यदधीतेऽन्वहं शक्त्या¹ स स्वाध्याय इति स्मृतः ॥

इति । स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः,

अथ ब्रह्मयज्ञस्स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः

इति वाजसनेयकश्रुतेः । अत्र विशेषमाह शौनकः—

मन्द्रमेव भवेत्प्रातरुच्चैर्मध्यन्दिने स्थिते ।

उच्चैरेवापराह्णे तु सन्ध्याकाल उपारमेत् ॥

औरसं मन्द्रम् । गृह्यशौनकोपि—

द्यावापृथिव्योस्सन्धिमीक्षमाणस्सम्मील्य वा य-

था युक्तमात्मानं मन्येत तथा युक्तोऽधीयीत

इति । विष्णुरपि—

ओङ्कारं व्याहृतीस्तिस्त्रस्सावित्रीं च तदित्यृचम् ।

मनसैताननुस्मृत्य वेदादीन्समुपक्रमेत् ॥

इति । अत्रादिशब्देन पुराणादीनां ग्रहणम् । अत एव योगया-
ज्ञवल्क्यः —

वेदार्थवपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः ।

जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं² विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥

¹ भक्त्या—ख.

² यज्ञार्थसिद्धयर्थं—ख.

जपयज्ञो ब्रह्मयज्ञः । श्रुतिरपि—

यद्वचोऽधीते पयआहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति य-
द्यजूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि सोमाहुतिभिर्यद-
थर्वाङ्गिरसो मध्वाहुतिभिर्यद्वाह्यणानीतिहासान्पु-
राणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतिभिरेव त-
द्देवांस्तर्पयति त एनं तृप्ता आयुषा तेजसा वर्चसा
श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन च तर्पयन्ति

इति । अत्र लिङ्गपुराणे विशेषो दर्शितः—

स्वशाखाध्ययनं विप्र ब्रह्मयज्ञ इति स्मृतः ।

इति । यत्तु श्रुतौ—

यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं

यजुस्साम वा तद्ब्रह्मयज्ञस्सन्तिष्ठते

इति, तदनध्यायवियषम् । अत एवापस्तम्बः—

अथ यदि वातो वा वायात् स्तनयेद्वा विद्योतेत
वाऽवस्फूर्जेद्वा एकां वर्चमेकं वा यजुरेकं वा सामा-
भिव्याहरेत् भूर्भुवस्सुवस्सत्यं तपश्शूद्रायां जुहोमीति
वैतत्तेनोहैवास्येतदहस्स्वाध्याय उपात्तो भवति

इति । एतदप्यनध्यायमात्रोपलक्षणार्थम् । अत एव मनुः—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥

नैत्यके नित्यस्वाध्याये ब्रह्मयज्ञ इत्यर्थः । श्रुतिरपि—

तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽशु-
चिर्यदेशः

इति । द्वावेवानध्यायौ नान्य इत्यर्थः । एवमधीस 'नमो ब्रह्मणे'

इति परिधानीयां त्रिब्रूयात् । तथा च श्रुतिः—

स वा एष यज्ञस्सद्यः प्रतायते सद्यस्सान्तिष्ठते तस्य
प्राक्सायमवभृथो नमो ब्रह्मण इति परीधानीयां
त्रिरन्वाहाप उपस्पृश्य गृह्णानेति ततो यत्किञ्च
ददाति सा दक्षिणा

इति । एवं कुर्वतः फलमाह याज्ञवल्क्यः—

यं यं क्रतुमधीयीत तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ।

त्रिवृत्त¹ पूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते ॥

श्रुतिरपि—

यावन्तं ह वा इमां विनश्य पूर्णां ददत्स्वर्गं लोकं
जयति तावन्तं लोकं जयति भूयांसं चाक्षय्यं चा-
पपुनर्मृत्युं जयति ब्रह्मणस्सायुज्यं गच्छति

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां ब्रह्मयज्ञः.

तर्पणम्

अथ तर्पणम् । तत्र शातातपः—

तर्पणं तु ततः कुर्यात्प्रसहं स्नातको द्विजः ।

देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम् ॥

इति । एतच्च जपानन्तरं कार्यम् । तथा च वसिष्ठः—
 ऋक्सामथर्ववेदोक्तान् जपेन्मन्त्रान्यजूंषि च ।
 जपित्वैवं ततः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ॥

इति । यत्तु योगयाज्ञवल्क्येन—
 जपेद्वेदादिमेकाग्रस्तटे बद्धाञ्जलिश्शनैः ।
 ब्रह्म¹ यज्ञप्रसिद्धयर्थं ब्रह्मविद्यामथापि वा ॥
 जप्त्वा वा प्रणवं शक्त्या ततस्तर्पणमाचरेत् ।

इति ब्रह्मयज्ञानन्तरं तर्पणमुक्तं, तत्प्रातराहुतेरनन्तरं ब्रह्मयज्ञ-
 करणविषयं, तत्रापि तस्य विधानात् । तथा च बृहस्पतिः—
 स चार्वाक्तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ।
 वैश्वदेवावसाने वा नान्यदर्थे निमित्ततः ॥

इति । वैश्वदेवावसाने मनुष्ययज्ञान्ते । तथा च कूर्मपुराणं—
 यदि स्यात्तर्पणादर्वाग्ब्रह्मयज्ञः कृतो न हि ।
 कृत्वा मनुष्ययज्ञं वै ततस्स्वाध्यायमाचरेत् ॥

इति । तर्पणं प्रकृत्य शातातपः—
 देवर्षिपितृमनुष्यादीन् स्वशाखाविधिचोदितान् ।
 एकैकाञ्जलिना तृप्तिं प्रथमान्तेन वाचयेत् ॥

इति । श्रीविष्णुपुराणेऽपि—
 शुचिर्वस्त्रधरस्त्रातो देवर्षिपितृतर्पणम् ।

तेषामेव तु तीर्थेन कुर्वीत सुसमाहितः ॥

त्रिरपः प्रीणनार्थाय देवानामपवर्जयेत् ।

अथर्षीणां यथान्याय्यं सकृच्चापि प्रजापतेः ॥

पितॄणां प्रीणनार्थाय त्रिरपः पृथिवीपते ।

व्यासोऽपि—

एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादयः ।

अश्रन्ति पितरस्त्रीस्त्रीस्त्रियस्त्वेकैकमञ्जलिम् ॥

इति । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था । येषां तु शाखिनामनाम्ना-
तं तेषां विकल्प एव¹ । यत्तु कूर्मपुराणे—

अन्वारब्धेन² सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ।

देवर्षींस्तर्पयेद्धीमानुदकाञ्जलिभिः पितॄन् ॥

इति, तत्पूर्वोक्ताञ्जलिकरणेन विकल्पार्थम् । अत एव योग-
याज्ञवल्क्यः—

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामपराजितदिङ्मुखः ।

सम्पृक्ताङ्गुष्ठकाभ्यां तु सव्योपक्रम³मेव वा ॥

तृप्यन्तिवति समुच्चार्य तृप्यन्तामप्यथापि वा ।

विधिज्ञः प्रक्षिपेत्तोयं देवादीनामशेषतः ॥

इति । अपराजिता दिगैशानी । यत्तु व्याघ्रेणोक्तं—

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामुदकं यः प्रयच्छति ।

स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाविष्ठराः ॥

¹ पितृकल्प एव—ग. ² अन्वारम्भेण—ख. ³ सव्योपग्रह—घ.

इति, तच्छ्राद्धादिविषयम् । अत एव काष्णार्जनिः—

श्राद्धे विवाहकाले च पाणिनैकेन दीयते ।

तर्पणे तूभयेनैव विधिरेष पुरातनः ॥

इति । एतच्च तर्पणमुदकादौ न कार्यम् । तथा च गोविलः—

नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।

नोपतिष्ठति तत्तोयं यन्न भूमौ प्रदीयते ॥

अतो भूमावेव देयमित्यभिप्रायः । शङ्खोपि—

उदके नोदकं कुर्यात्पितृभ्यस्तु कदा चन ।

उत्तीर्य च शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ॥

इति । अत्र विशेषमाह हारीतः —

वसित्वा वसनं शुष्कं स्थले विस्तीर्णवर्हिषि ।

विधिज्ञस्तर्पणं कुर्यान्न पात्रेषु कदा च न ॥

पात्राद्वा जलमादाय शुभे पात्रान्तरे क्षिपेत् ।

जलपूर्णेऽथवा गर्ते न स्थले तु विवर्हिषि ॥

इति । पात्रं चात्र पितामहेनोक्तं—

हेमरूप्यमयं पात्रं ताम्रं कांस्यसमुद्भवम् ।

पितृणां तर्पणे चात्र मृन्मयं तु परित्यजेत् ॥

आस्तरणे तु विशेषो योगयाज्ञवल्क्येन दर्शितः —

आवाह्य पूर्ववन्मन्त्रैरास्तीर्य च कुशान्वहून् ।

प्राग्ग्रेषु सुरान् सम्यग्दक्षिणाग्रेषु वै पितृन् ॥

तर्पयेदिति शेषः । यत्र पुनरशुचि स्थलं तत्र जले दद्यादित्याह
विष्णुः—

स्थले स्थित्वा जले यस्तु प्रयच्छेदुदकं नरः ।
नोपतिष्ठति तद्वारि पितॄणां तन्निरर्थकम् ॥
यत्राशुचिस्थले वा स्यादुदके देवताः पितॄन् ।
तर्पयेत्तु यथाकाममप्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेण कार्ष्णाजनिरपि—

देवतानां पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम् ।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलं पुनः ॥

इति । अत्राञ्जलिनियममाह बोधायनः—

जलाञ्जलित्रयं दद्याद्ये चान्ये संस्कृता भुवि ।
असंस्कृतप्रमीतानामेकमेव तटे क्षिपेत् ॥

अत्रायं मन्त्रः—

अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम ।
भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिम् ॥

इति । अत्राधिकारिभेदेन¹ स्थाननियमोऽपि हारीतेन दर्शितः—

आर्द्रवासा जले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ।
शुष्कवासास्स्थले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ॥

जले² स्थित्वेति शेषः । अत एव सुमन्तुः—

जलार्द्रवासाः स्थलगो यः प्रयच्छे³ ज्जलाञ्जलिम् ।

¹ कारिनियमभेदेन -- ख

² स्थले—घ.

³ प्रदद्या—ख.घ.

वस्त्रानिश्च्योतितं प्रेता अपवार्यं पिबन्ति ते ॥
 अपवार्यं तद्भागिनं वारयित्वेत्यर्थः । लिखितोऽपि—
 शुष्केणान्तर्जले चैव बहिरप्यार्द्रवाससा ।
 स्नानं दानं जपो होमो निष्फलं पितृतर्पणम् ॥

स्नानं ब्राह्मम् । अत एव हारीतः —

ब्राह्मं स्नानं तथा दानं देवतापितृतर्पणम् ।
 जलमध्ये तु कुर्वाणः शुष्कवस्त्रोऽपि¹ दुष्यति ॥

अत्र स्मृत्यन्तरम्—

खड्गमौक्तिकहस्तेन कर्तव्यं पितृतर्पणम् ।
 मणिकाञ्चनदर्भैर्वा नाशुद्धेन कदाचन ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

अनामिकाशृतं हेम तर्जन्यां रूप्यमेव च ।
 कनिष्ठिकाशृतं खड्गं तेन पूतो भवेन्नरः ॥

मरीचिरपि—

विना रूप्यसुवर्णेन विना ताम्रतिलैस्तथा ।
 विना मन्त्रैश्च दर्भैश्च पितृणां नोपतिष्ठति ॥

इति । नैतद्रजतादिसमुच्चयार्थं वचनम् । यत आहतुर्मरीचि-
 योगयाज्ञवल्क्यौ—

तिलानामप्यभावे तु सुवर्णं रजतान्वितम् ।
 तदभावे निषिञ्चेत्तु दर्भैर्मन्त्रेण वा पुनः ॥

इति । अनेन पितृतर्पणे तिलानामावश्यकत्वमुक्तं भवति । अत एव वृद्धमनुः—

यथा योधसहस्रेभ्यः राजा गच्छति धार्मिकः ।

एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥

यत्तु रामायणे—

पादशौच¹ मनभ्यङ्गं तिलहीनं तु तर्पणम् ।

सर्वं तत्त्रिजटे तुभ्यं यच्च श्राद्धमदक्षिणम् ॥

इति, तत्तिललाभेऽपि तद्विहीनतर्पणाभिप्रायं, अन्यथा मरीचि-
वचनविरोधात् । तिलग्रहणे विशेषमाह मरीचिः—

मुक्तहस्तेन दातव्यं न मुद्रां तत्र दर्शयेत् ।

वामहस्ते तिला ग्राह्या मुक्तहस्तस्तु दक्षिणः ॥

इति । मुद्रा प्रदेशिन्यङ्गुष्ठयोस्संयोगः । एतदनुद्धृतोदकतर्पणा-
भिप्रायं उद्धृते विशेषाभिधानात् । तथा च योगयाज्ञवल्क्यः—

यद्युद्धृतं² निषिञ्चेत्तु तिलान्संमिश्रयेज्जले³ ।

अतोऽन्यथा तु सव्येन तिला ग्राह्या विचक्षणैः ॥

इति । अन्यथाऽनुद्धृते । एतदप्यलोमकाङ्गाभिप्रायं, अन्यथा दोष-
श्रवणात् । तथा च गोविलः—

रोमसंस्थांस्तिलान्कृत्वा यस्तु तर्पयते पितृन् ।

पितरस्तर्पितास्तेन रुधिरेण जलेन⁴ च ॥

शुक्लैस्तु तर्पयेद्देवान्मनुष्यान् शबलैस्तिलैः ।

¹ पादाशौच—ख.

² दृष्टैः—ख.

³ जलैः—ख.

⁴ मलेन—ख, घ.

पितृस्तु तर्पयेत्कृष्णैस्तर्पयन्सर्वदा द्विजः ॥

इति । कूर्मपुराणे देवर्षिपितृतर्पणे विशेषो दर्शितः—

देवान्ब्रह्मऋषींश्चैव तर्पयेदक्षतोदकैः ।

पितृन्भक्त्या तिलैः कृष्णैस्स्यसूत्रोक्तविधानतः ॥

इति । उक्ततिलतर्पणस्य कचिदपवादमाह मरीचिः—

सप्तम्यां रविवारे च गृहे जन्मादिने सदा ।

भृत्यपुत्रकलत्रार्थी न कुर्यात्तिलतर्पणम् ॥

पुराणेऽपि—

पक्षयोरुभयो राजन्सप्तम्यां निशि सन्ध्ययोः ।

विद्यापुत्रकलत्रार्थी तिलान्पञ्चसु वर्जयेत् ॥

निम्बस्य भक्षणं तैलं तिलैस्तर्पणमञ्जनम् ।

सप्तम्यां नैव कुर्वीत ताम्रपात्रे च भोजनम् ॥

इति । अत्र तर्पणीयानाह सत्यव्रतः—

कृतोपवीती देवेभ्यो निवीती च भवेत्ततः ।

मनुष्यांस्तर्पयेद्भक्त्या ब्रह्मपुत्रानृषींस्तथा ॥

अपसव्यं ततः कृत्वा सव्यं जान्वाच्य भूतले ।

दर्भपाणिस्तु विधिना प्रेतान्संतर्पयेत्ततः ॥

पुराणेऽपि—

देवान्देवगणांश्चैव मुनीन्मुनिगणानपि ।

पितृन्पितृगणांश्चैव नित्यं संतर्पयेत्ततः ॥

मत्स्यपुराणेऽपि—

देवा यक्षास्तथा नागा गन्धर्वाप्सरसोऽसुराः ।
 सर्पाः क्रूरास्सुपर्णाश्च तरवो जम्भकाः खगाः ॥
 वाय्वाधारा जलाधारास्तथैवाकाशगामिनः ।
 निराधाराश्च ये जीवा ये च धर्मरतास्तथा ॥
 तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ।
 कृतोपवीती देवेभ्यो निवीती च भवेत्ततः ।
 मनुष्यांस्तर्पयेद्भक्त्या ब्रह्मपुत्रानृषींस्तथा ॥
 सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
 कपिलश्चासुरिश्चैव वोढः पञ्चशिखस्तथा ॥
 सर्वे ते तृप्तिमायान्तु महत्तेनाम्बुनाऽखिलाः ।
 मरीचिमत्रिमङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥
 प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ।
 देवब्रह्मऋषीन्सर्वांस्तर्पयेदक्षतोदकैः ॥
 अपसव्यं ततः कृत्वा सव्यं जान्वाच्य भूतले ।
 अग्निष्वात्तास्तथा सौम्या हविष्मन्तस्तथोष्मपाः ॥
 पिनाकिनो बर्हिषदस्तथाऽन्ये कामचारिणः ।
 तर्पयेत्तान्पितृन्भक्त्या सतिलोदकचन्दनैः ॥
 दर्भपाणिस्तु विधिना प्रेतान्संतर्पयेत्ततः ।
 इति । योगयाज्ञयल्क्योऽपि—
 ब्रह्माणं तर्पयेत्पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिम् ॥

देवान् छन्दांसि वेदांश्च ऋषींश्चैव तपोधनान् ॥
 आचार्यांश्चैव गन्धर्वानाचार्यतनयांस्तथा ।
 संवत्सरं सावयवं देवीरप्सरसस्तथा ॥
 तथा देवानुगान्नागान् सागरान्पर्वतानपि ।
 सरितोऽथ मनुष्यांश्च यक्षान्रक्षांसि चैव हि ॥
 पिशाचांश्च सुपर्णांश्च भूतान्यथ पशूँस्तथा ।
 वनस्पतीनौषधीश्च भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥
 सव्यं जानु ततोऽन्वाच्य पाणिभ्यां दक्षिणामुखः ।
 तल्लिङ्गैस्तर्पयेन्मन्त्रैस्सर्वान्पितृगणांस्तथा ॥
 मातामहांश्च सततं श्रद्धया तर्पयेद्बुधः ।

इति । अत्र ब्रह्मा तृप्यतामिति प्रयोगः,

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ।

तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना ॥

इति तेनैव देवतातर्पणानन्तरमभिधानात् । शौनकोऽपि—

अग्निर्विष्णुः प्रजापतिः ब्रह्मा वेदा देवा ऋषयश्छ-
 न्दांसि¹ ओङ्कारोऽथ वषट्कारो व्याहृतयस्सावि-
 त्री यज्ञा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमहोरात्राणि सा-
 ह्य्यास्सिद्धास्समुद्रा नद्यो गिरयः क्षेत्रौषधिवनस्प-
 तिगन्धर्वाप्सरसो नागा वयांसि गावस्साध्या

¹ यस्सर्वाणि छन्दांसि— ख. घ.

विप्रा यक्षा रक्षांसि भूतान्येवमन्तानि । अथ
ऋषयः—शतर्चिनो मध्यमा गृत्समदो विश्वामि-
त्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाधाः पात्रमा-
न्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति । प्राचीनावीती-
सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभा-
रतधर्माचार्याः, जानन्तिबाह्विगार्ग्यगौतमशाक-
ल्यबाभ्रव्यमाण्डव्यमाण्डूकेयाः, गर्गी¹ वाचकनवी
बडवा प्राचिथेयी² सुलभा मैत्रेयी कहोलं
कौषीतकं महाकौषीतकं भरद्वाजं पैङ्गं सुयज्ञं
साङ्ग्यायनं ऐतरेयं महैतरेयं वाष्कलं गार्ग्यं
सुजातवक्त्रमौदवाहिं महौदवाहिं सौजामिं शौ-
नकमाश्वलायनं ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृ-
प्यन्तिवति प्रतिपूरुषं पितृस्तर्पयित्वा

इति । अत्रापि पूर्ववदग्निस्तृप्यतामिति प्रयोगः । अथ वा
कूर्मपुराणोक्तं—

ततस्संतर्पयद्देवानृषीन्पितृगणांस्तथा ।

आदावोङ्कारमुच्चार्य नाम्नोऽन्ते तर्पयामि च ॥

इति । अथ वा स्मृत्यन्तरोक्तं—

तृप्यन्तिवति समुच्चार्य तृप्यतामित्यथापि वा ।

विधिज्ञः प्रक्षिपेत्तोयं देवादीनामशेषतः ॥

¹गार्गी ग.

²प्राचिथेयी—ग.

इति । अत्र तर्पणीयेषु यथास्वशाखं व्यवस्था । अत एव
सत्यव्रतः—

जप्ताऽनेन विधानेन देवर्षिपितृतर्पणम् ।

स्वशाखाविहितं कुर्यात्स्नानाङ्गं पृथगेव हि ॥

यजुश्शाखिनां तु काण्डानुक्रमण्यां काण्डर्षितर्पणमुक्तं—

अथ काण्डऋषीनेतानुदकाञ्जलिभिश्शुचिः ।

अव्यग्रस्तर्पयेन्नित्यं मन्त्रैः पर्वाष्टमीषु च ॥

इति । पितृतर्पणं प्रकृत्य पैठीनसिः—

अपसव्यं ततः कृत्वा स्थित्वा च पितृदिङ्मुखः ।

पितृन् दिव्यान् दिव्यांश्च पितृतीर्थेन तर्पयेत् ॥

इति । दिव्या वस्वादयः । अदिव्यास्स्वापित्रादयः । ते च
दिव्यास्तेनैव दर्शिताः—

ध्रुवो धरश्च सोमश्च आपश्चैवानिलोऽनलः ।

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥

अजैकपादर्हिर्बुध्न्यो विरूपाक्षश्च रैवतः ।

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ॥

सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः ।

एते रुद्रास्समाख्याता एकादश सुरोत्तमाः ॥

इन्द्रो धाता भगः पूषा मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा ।

अर्चिर्विवस्वान् त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च ॥

एते च द्वादशादित्या देवानां प्रवरा मताः ।

एतेऽथ दिव्याः पितरः पूज्यास्सर्वे प्रयत्नतः ॥

इति । अत्र ध्रुवाय नम इत्येवं प्रयोगः । अत एव योग-
याज्ञवल्क्यः—

वसूवृद्रांस्तथाऽऽदित्यान्नमस्कारसमान्वितान् ।

तर्पयेदिति शेषः । ततस्स्वपित्रादींस्तर्पयेत् । तत्र विशेषमाह
सत्यव्रतः—

अपसव्यं ततः कृत्वा सव्यं जान्वाच्य भूतले ।

दर्भपाणिस्तु विधिना प्रेतान्संतर्पयेत्ततः ॥

कासायनोऽपि—

अथाद्भिस्तर्पयेद्देवान्सतिलाभिः पितृनपि ।

नमोऽन्ते तर्पयामीति आदावोमिति च ब्रुवन् ॥

पैठीनसिरपि—

सनामगोत्रग्रहणं पुरुषं पुरुषं प्रति ।

तिलोदकाञ्जलींस्त्रींस्त्रीनुच्चैरुच्चैर्विनिक्षिपेत् ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

दक्षिणे पितृतीर्थेन जलं सिञ्चेद्यथाविधि ।

दक्षिणेनैव गृह्णीयात्पितृतीर्थं समाहितः ¹ ॥

सवर्णेभ्योऽञ्जलिर्देवो वाऽसवर्णेभ्य एव च ² ।

¹ तीर्थविधानतः—ग ; तीर्थसमीपतः—घ.

² जलं देयं नानावर्णेभ्य एव च.—ग ; सवर्णेभ्यो जलं देयं नासवर्णेभ्य
एव च—वैद्य.

नामगोत्र¹ स्वधाकारैस्तर्पयेदनुपूर्वशः ॥

इति । नामादिग्रहणे विशेषमाह बोधायनः—

शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु ।

गुप्तान्तं चैव वैश्यस्य दासान्तं शूद्रजन्मनः ॥

चतुर्णामपि वर्णानां पितृणां पितृगोत्रतः ।

पितृगोत्रं कुमारीणामूढानां भर्तृ² गोत्रतः ॥

एवं चैवं प्रयोगो भवति—ॐम् पितृन् श्रीवत्सगोत्रान्वि-
ष्णुशर्मणस्स्वधा नमस्तर्पयामीति । एवं पितामहादींश्च तर्पयेत् ।
एवमेकैकस्याञ्जलित्रयप्रसेकः । ततो मातृश्रीवत्सगोत्रा गङ्गा-
दायास्स्वधा नमस्तर्पयामीति । एवं पितामहीप्रपितामहौ ।
ततो मातामहादीनाम् । तदुक्तं सत्यव्रतेन—

पितृभ्यः प्रत्यहं दद्यात्ततो मातृभ्य एव च ।

ततो मातामहादीनां पितृव्यस्य सुतस्य च ॥

बोधायनोऽपि—

प्राचीनावीती—ॐम् पितृन्स्वधा नमस्तर्पयामि ।

पितामहान्स्वधा नमस्त । प्रपितामहान्स्वधा नमस्त ।

मातृस्वधा नमस्त । पितामहीस्वधा नमस्त ।

प्रपितामहीस्वधा नमस्त । मातामहान्स्वधा नमस्त ।

मातुः पितामहान्स्वधा नमस्त । मातुः प्रपिताम-

¹ गोत्रनाम — ग.

² पति—ख&घ.

हान्स्वधा नमस्त । मातामहीस्वधा नमस्त । मातुः
पितामहीस्वधा नमस्त । मातुः प्रपितामहीस्वधा
नमस्त । ओमाचार्यान्स्वधा नमस्त । आचार्यप-
त्नीस्वधा नमस्त । गुरुन्स्वधा नमस्त । गुरुपत्नी-
स्वधा नमस्त । सखीन्स्वधा नमस्त । सखिपत्नी-
स्वधा नमस्त । ज्ञातीन्स्वधा नमस्त । ज्ञातिपत्नी-
स्वधा नमस्त । अमात्यान्स्वधा नमस्त । अमात्य-
पत्नीस्वधा नमस्त । सर्वान्स्वधा नमस्तर्पयामि ।

अत्र सर्वत्र नामगोत्राद्यनुसन्धेयम् । उक्तमत्र योगयाज्ञवल्क्येन—
तल्लिङ्गैस्तर्पयेन्मन्त्रैस्सर्वान्पितृगणांस्तथा ।

ते च मन्त्रा तेनैव दर्शिताः—

उदीरतामङ्गिरस आयन्त्वित्यूर्जमित्यापि ।
पितृभ्य इति ये चेह मधु वाता इति तृचम् ॥
पितृन्ध्यायन्प्रसिञ्चेद्वै जपेन्मन्त्रान्यथाक्रमम् ।
तृप्यध्वमिति च त्रिवै ततः प्राञ्जलिरानतः ॥
नमो व इत्युक्त्वा¹ वै ततो मातामहानपि ।
तर्पयेदानृशंस्यार्थं धर्मं परममास्थितः ॥

इति । अस्यार्थः—उदीरतामिति मन्त्रान्ते पितरोऽमुकगोत्रा
अमुकशर्माणस्तृप्यध्वं स्वधेति प्रथमं तिलोदकाञ्जलिं निन-
येत् । एवमङ्गिरस आयन्तु न इति द्वितीयतृतीयमन्त्रान्तेऽपि² ।

¹ इति जप्त्वा—क.

² मन्त्रान्ते पितरः—ग.

तत ऊर्जं वहन्तीः, पितृभ्यस्स्वधाविभ्यो, ये चेह पितरः
 इत्येकैकमन्त्रान्ते पितामहा अमुकगोत्रा अमुकशर्माणस्तृप्यध्वं
 स्वधेति पृथक्पृथगञ्जालं दद्यात् । तत एवं 'मधु वाताः'
 इत्येकैकमन्त्रान्ते प्रपितामहस्य । एवं मातामहादिष्वपि । म
 न्त्रस्तु 'नमो वः' इत्येक एव पुनः पुनरावर्तते । मातृप्र-
 भृतीनां तु नामादिभिरेव दद्यादित्येवं कैश्चिद्व्याख्यातम् ।
 जीवपितृकस्य तु विशेषमाह योगयाज्ञवल्क्यः—

कव्यवाहोऽनल^१ स्सोमो यमश्चैवार्यमा तथा ।
 अग्निष्वात्तास्सोमपाश्च तथा बर्हिषदोऽपि च ॥
 यदि स्याज्जीवपितृक एतान्विद्यात्ततः पितृन्^२ ।
 येभ्यो वाऽपि पिता दद्यात्तेभ्यो वाऽपि प्रदापयेत् ॥
 एतांश्चैव प्रमीतांश्च प्रमीतपितृको द्विजः ।

अत्र कव्यवाहं तर्पयामीति प्रयोगः,

नामान्ते तर्पयामि च

इति स्मरणात् । अत्र पुराणं—

प्रेतेभ्यश्च पृथग्दद्यान्मनसा तत्पदं स्मरन्^३ ।
 आत्मनोऽपि जलं दद्यादिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥

^१ कव्यवाडनल—घ ; कव्यवाहोऽनिल—माधवी.

^२ एतान्विद्यात्तथा पितृन्—क. घ ;

तान्विद्यात्तु तथा पितृन्—वैद्य.

एतान्विद्यात्तदा पितृन्—मदन.

^३ तत्पदं स्मरन्—क; तत्परस्मरन्—ग.

अत्रावसानाञ्जलिमाह कात्यायनः—

पितृवंश्या मातृवंश्या ये चान्ये मत्त उदकमर्हन्ति
तांस्तर्पयामीत्यवसाना ¹ अलिः

इति । ततः काम्योदकं ² दद्यात् । विष्णुपुराणे—

इदं वाऽपि जपेदप्सु ³ दद्यादात्मेच्छया नृप ।

उपकाराय भूतानां कृतदेवादितर्पणः ॥

देवासुरास्तथा यक्षा गन्धर्वोरगराक्षसाः ।

पिशाचा गुह्यकास्सिद्धाः कूश्माण्डास्तरवः खगाः ॥

जलेचरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः ।

तृप्तिमेतेन यान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाऽखिलाः ।

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ॥

तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ।

येऽबान्धवा बान्धवा ये येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ॥

ते तृप्तिमखिला यान्तु ये चास्मत्तोऽम्बुकाङ्क्षिणः ⁴ ।

पुराणेऽपि—

यत्र कचन संस्थनां क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम् ।

तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम् ॥

ये मत्कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः ।

तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम् ॥

¹ यामीत्युदकमवसाना—क.घ.

² कामोदकं—ख.

³ जपेदम्बु—ग.

⁴ यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति—ग.

मातृवंश्या मृता ये च पितृवंश्यास्तथैव च ।

तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्¹ ॥

इति । श्रीविष्णुपुराणे तु विस्तारासमर्थस्य संक्षेपतर्पणमुक्तं—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्यत्विति ब्रुवन् ।

क्षिपेत्पयोऽञ्जलींस्त्रीस्तु कुर्वन्संक्षेपतर्पणम् ॥

एवं कुर्वतः फलमाह शङ्खः—

स्नातस्सन्तर्पणं कृत्वा पितॄणां तु तिलाम्भसा ।

पितृलोकमवाप्नोति प्रीणाति च तथा पितॄन् ॥

पुराणेऽपि—

एवं यस्सर्वभूतानि तर्पयेदन्वहं द्विजः ।

स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्तिमनामयम् ॥

इति । तथाऽकरणेऽपि दोषस्तत्रैव दर्शितः—

देवताश्च मुनींश्चैव पितॄन्वै यो न तर्पयेत् ।

देवादीनामृणी भूत्वा नरकं स व्रजत्यधः ॥

योगयाज्ञवल्क्योऽपि—

नास्तिक्यभावाद्यस्तांस्तु न तर्पयति वै पितॄन् ।

पिबन्ति देहनिस्त्रावं पितरोऽस्य जलार्थिनः ॥

इति । देहनिस्त्रावं रुधिरम् । कात्यायनोऽपि—

छायां यथेच्छेच्छरदातपार्तः

पयः पिपासुः क्षुधितोऽलमन्नम् ।

¹ इदमन्तिमं पयं — क, ख, घ, पुस्तकेषु न दृश्यते.

बालो जनित्रीं जननी च बालं
 योषित्पुमांसं पुरुषश्च योषाम् ॥
 तथा सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
 विप्रादुदकमिच्छन्ति सर्वेऽभ्युदयकाङ्क्षिणः ॥
 तस्मात्सदैव कर्तव्यमकुर्वन्महतैनसा ।
 युज्यते ब्राह्मणः कुर्वन्निश्वमेतद्विभर्ति हि ॥

तत्र पितृगाधामाह यमः—

अपि नस्वकुले भूयाद्यो नो दद्याज्जलाञ्जलिम् ।
 नदीषु बहुतोयासु शीतलासु विशेषतः ॥

इति । विष्णुरपि—

कुलेऽस्माकं स जन्तुस्स्याद्यो नो दद्याज्जलाञ्जलिम् ।
 नदीषु बहुतोयासु शीतलासु विशेषतः ॥

इति । अत एव हारीतः न स्रवन्तीवृथाऽतिक्रामेदेवं ह्याह—

देवाश्च पितरश्चैव काङ्क्षन्ति सलिलाञ्जलिम् ।
 अदत्ते तु निराशास्ते प्रयान्ति हिं यमालयम्¹ ॥

अत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

यावद्देवानृषींश्चैव पितृंश्चापि न तर्पयेत् ।
 तावन्न पीडयेद्वस्त्रं यो न स्नातो² भवेद्विजः ॥
 निष्पीडयति यो वस्त्रं स्नानवस्त्रमर्पिते ।
 निराशाः पितरो यान्ति शापं दत्त्वा सुदारुणम् ॥

¹ यथागतम्—ग.

² यावत्स्नातो—ख.

इति । अतस्तर्पणानन्तरं निष्पीडयेदिति भावः । अत्र विशेषस्मृत्यन्तरे दर्शितः—

वस्त्रनिष्पीडितं तोयं श्राद्धे चोच्छिष्टभोजनम्¹ ।

भागधेयं श्रुतिः प्राह तस्मान्निष्पीडयेत्स्थले ॥

इति । निष्पीडनानन्तरं योगयाज्ञवल्क्यः—

निष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु आचम्य प्रयतश्शुचिः ।

देवानामर्चनं कुर्याद्ब्रह्मादीनाममत्सरः ॥

इति । आचम्य सूर्यायाधर्चं दत्वेति शेषः । तथा च विष्णुपुराणं—

दत्त्वा काम्योदकं² सम्यगेतेभ्यश्शूद्रयाऽन्वितः ।

आचम्य च ततो दद्यात्सूर्याय सलिलाञ्जलिम् ॥

इति । अत्र विशेषो नृसिंहपुराणे दर्शितः—

ततोऽधर्चं भानवे दद्यात्तिलपुष्पजलान्वितम् ।

उत्थाप्य मूर्धं³ पर्यन्तं हंसश्शुचिषदुच्चरन् ॥

जले देवं नमस्कृत्य ततो गच्छेद्गृहं बुधः ।

पौरुषेण च सूक्तेन ततो विष्णुं समर्चयेत् ॥

इति । गृहं गच्छेदभ्युक्षणमादायेति शेषः—

त्रिसन्ध्यं वाग्यतो वारि गुप्तमाहूय शोधयेत् ।

होमोपहारभूगेह द्रव्यात्मपरिचारकान् ॥

इति गर्गस्मरेणात् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां तर्पणनिर्णयः.

¹ चोच्छिष्टभागिनाम्—ग. ² कामोदकं—ख. ³ उत्थाय मूर्ध्नि—ख.

यमतर्पणम्.

अथ यमतर्पणम् । तत्र स्कन्दपुराणे—

कृष्णपक्षचतुर्दश्यामङ्गारकदिनें यदा ।

तदा स्नात्वा शुभे तोये¹ तर्पयेद्यमनामभिः ॥

इति । तानि नामानि वृद्धमनुना दर्शितानि—

यां कां चित्सरितं प्राप्य कृष्णपक्षे चतुर्दशीम् ।

यमुनां च विशेषेण नियतो नियतेन्द्रियः ॥

यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।

वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥

औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।

वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः ॥

इति । तर्पयेदिति शेषः । अत्र यमाय नम इत्येवं प्रयोगः । कृष्ण-
त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां वा—

यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।

वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥

एभिस्सप्तभिर्नमस्कारमन्त्रैस्सप्तोदकाञ्जलीन् दद्या-
त्सर्वपापैः प्रमुच्यते

इति गद्यव्यासस्मरणात् । अत्र विशेषमाह वृद्धमनुः—

एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रींस्त्रीन्कृत्वा जलाञ्जलीन् ।

यावज्जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥

¹ शुचौ देशे—क.

स्कन्दपुराणे—

दक्षिणाभिमुखो भूत्वा तिलैस्सव्यं^१ सभाहितः ।

देवतीर्थेन देवत्वात्तिलैः प्रेताधिपाय च^२ ॥

एवं कुर्वतः फलमाह वृद्धमनुः—

इहजन्मकृतं पापमन्यजन्मकृतं च यत् ।

अङ्गारकचतुर्दश्यां तर्पयंस्तद्व्यपोहति ॥

यमोऽपि—

यत्र कचन नद्यां हि स्नात्वा कृष्णचतुर्दशीम् ।

संतर्प्य धर्मराजं च मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां यमतर्पणम्.

भीष्मतर्पणम्

अथ माघशुक्लाष्टम्यां भीष्मतर्पणं स्मरन्ति^३ । तथा च पुराणं—

शुक्लाष्टम्यां तु माघस्य दद्याद्भीष्माय योऽञ्जलिम् ।

संवत्सरकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥

तत्रायं मन्त्रः—

वैयाघ्रपादगोत्राय सङ्कृतिप्रवराय च ।

गङ्गापुत्राय भीष्माय प्रदास्येऽहं तिलोदकम् ॥

अपुत्राय ददाम्येतत्सलिलं भीष्मवर्मणे ।

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां भीष्मतर्पणविधिः.

^१ सह—वैद्य

^२ प्रेताधिपो यमः—क. घ; प्रेताधिपो यथा—ग;

^३ चरन्ति—घ.

प्रेताधिपो यतः -- मदन.

देवतार्चनम्

अथ देवतार्चनम् । तत्र हारीतः—

कुर्वीत देवतापूजां जपयज्ञादनन्तरम् ।

स्थण्डिले प्रतिमायां वा जलेऽग्नौ हृदयेऽपि वा ॥

जपयज्ञो ब्रह्मयज्ञः । अत्र ब्रह्मयज्ञं प्रकृत्य

जपयज्ञस्य सिद्धयर्थं विद्यामाध्यात्मिकीं जपेत् ।

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । मरीचिरपि—

विधाय देवतापूजां¹ प्रातर्होमादनन्तरम् ।

स्थण्डिले प्रतिमायां वा वह्नौ वा हृदयाम्बुजे ॥

नृसिंहपुराणेऽपि—

जले देवं नमस्कृत्य ततो गच्छेद्गृहं बुधः ।

पौरुषेण तु सूक्तेन ततो विष्णुं समर्चयेत् ॥

इति । अत्रैषां विकल्पो वेदितव्यः । अत्र योगयाज्ञवल्क्यः—

अङ्गुष्ठे चैव गोविन्दं तर्जन्यां तु महीधरम् ।

मध्यमायां दृषीकेशमनामिकायां त्रिविक्रमम् ॥

कनिष्ठायां न्यसेद्विष्णुं हस्तमध्ये च माधवम् ।

अग्नौ हुतं च दत्तं च देवतार्चनमेव च ॥

हस्तन्यासप्रभावेन सर्वं भवति चाक्षयम् ।

¹ विधेया देवतापूजा—वैद्य.

इति । तच्चार्चनं^१ नारदेनोक्तं—

इममर्थं पुरा पृष्ठो नारदो भगवानृषिः ।
 नरनारायणाभ्यां च तैर्मुनीन्द्रैश्च सङ्गतैः^२ ॥
 नारायणार्चनविधिं श्रोतुं नो वक्तुमर्हसि^३ ।
 धर्मार्थकामापवर्गान् येन प्राप्नोति पुष्कलान् ॥
 श्रुत्वैतत्स चिरं ध्यात्वा सस्मार च पुरातनम् ।
 क्षीराब्धौ यच्छ्रुतं पूर्वं पुष्कराक्षमुखाच्चयुतम् ॥
 शृण्वन्तु मुनयस्सम्यक् पुरुषोत्तमपूजनम् ।
 यत्कृत्वा मुनयस्सर्वे ब्रह्म निर्वाणमाप्नुयुः ॥
 स्नात्वा यथोक्तविधिना प्राञ्ज्युखश्शुद्धमानसः ।
 स्वशाखोक्तक्रियां कृत्वा हुत्वा चैवाग्निहोत्रकम् ॥
 कुर्यादाराधनं विष्णोर्देवदेवस्य चक्रिणः ।
 अप्स्रग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च ॥
 षष्ठेतेषु हरेस्सम्यगर्चनं मुनिभिस्स्मृतम् ।
 अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम् ॥
 प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ।
 आपो ह्यायतनं तस्य तस्मात्तासु सदा हरिः ।
 तस्य सर्वगतत्वाच्च स्थण्डिले भावितात्मनाम् ॥
 ऋग्वेदे पौरुषं सूक्तमर्चितं गुह्यमुत्तमम् ।
 आनुष्टुभस्य सूक्तस्य त्रिष्टुबन्तस्य देवता ॥

^१ अन्नार्चनं—घ.

^२ संहतैः—घ.

^३ मर्हति—घ.

पुरुषो यो जगद्धीजमृषिर्नारायणस्मृतः ।
 प्रथमां विन्यसेद्वामे द्वितीयां दक्षिणे करे ॥
 तृतीयां वामपादे तु चतुर्थीं दक्षिणे तथा ।
 पञ्चमीं वामजङ्घायां दक्षिणस्यां तथोत्तराम् ॥
 सप्तमीं वामकट्यां तु दक्षिणस्यां तथाऽष्टमीम् ।
 नवमीं नाभिमध्ये तु दशमीं हृदि विन्यसेत् ॥
 एकादशीं कण्ठदेशे द्वादशीं वामबाहुके ।
 त्रयोदशीं दक्षिणे तु आस्यदेशे चतुर्दशीम् ॥
 अक्षणोः पञ्चदशीं न्यस्य षोडशीं मूर्ध्नि विन्यसेत् ।
 यथाऽऽत्मति तथा देवे न्यासकर्म समाचरेत् ¹ ॥
 एवं न्यासं तु कृत्वाऽऽदौ पश्चाद्देवस्य पूजनम् ² ।
 गन्धमाल्यैस्सुरभिभिरात्मानं चार्चयेद्बुधः ॥
 ततः पीतं समाराध्य गन्धपुष्पाक्षतैश्शुभैः ।
 आद्ययाऽऽवाहयेद्देवमृचा तु पुरुषोत्तमम् ॥
 द्वितीययाऽऽसनं दद्यात्पाद्यं चैव तृतीयया ।
 चतुर्थ्याऽर्घ्यं प्रदातव्यं पञ्चम्याऽऽचमनीयकम् ॥
 षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्वीत सप्तम्या वस्त्रमेव च ।
 यज्ञोपवीतमष्टम्या नवम्या गन्धमेव च ॥
 दशम्या पुष्पदानं स्यादेकादश्या तु धूपकम् ।
 द्वादश्या च तथा दीपं त्रयोदश्या चरुं तथा ॥

^{1,2} नैतत् क, ख, घ. पुस्तकेषु दृश्यते.

चतुर्दश्या नमस्कारं पञ्चदश्या प्रदक्षिणम् ।
 षोडशयोद्वासनं कुर्याच्छेषकर्माणि पूर्ववत् ॥
 स्नाने वस्त्रोपवीते च चरावाचमनीयकम् ।
 हुत्वा षोडशभिर्मन्त्रैर्षोडशान्ताऽस्य चाहुतिः॥
 शेषं निवेदयेत्तस्मै दद्यादाचमनं ततः ।
 ततः षोडशभिर्मन्त्रैर्दद्यात्पुष्पाणि षोडश ॥
 तच्च सर्वं जपेद्भूयः पौरुषं सूक्तमुत्तमम् ।
 ततः प्रदक्षिणं कृत्वा नारायणमनामयम् ॥
 शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यात्वा विष्णुं समर्चयेत् ।
 षण्मासात्सिद्धिमाप्नोति एवमेव समर्चयन् ॥
 संवत्सरेण तेनैव सायुज्यमाधिगच्छति ।
 ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
 नारायणस्सरसिजासनसन्निविष्टः ।
 केयूरवान्मकरकुण्डलवान्किरीटी
 हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥

कूर्मपुराणेऽपि—

न विष्ण्वाराधना^१ त्पुण्यं विद्यते कर्म वैदिकम् ।
 तस्मादनादिमध्यान्तं नित्यमाराधयेद्भरिम् ॥
 तद्विष्णोरिति मन्त्रेण सूक्तेन पुरुषेण वा ।
 नैताभ्यां सदृशो मन्त्रो वेदेषूक्तश्चतुर्विधः ॥

^१ न विष्णोरर्चना—क.

अथवा देवमीशानं भगवन्तं सनातनम् ।
 आराधयेन्महादेवं भावपूतो महेश्वरम् ॥
 मन्त्रेण रुद्रगायत्र्या प्रणवेनाथवा पुनः ।
 ईशानेनाथ वा रुद्रैस्त्रयम्बकेण समाहितः ॥
 तथो नमश्शिवायेति मन्त्रेणानेन वा जपेत् ।

इति । बोधायनोऽपि—

अथातो महापुरुषस्याहरहः परिचर्याविधिं व्या-
 ख्यास्यामः । स्नातश्शुचिश्शुचौ समे देशे गो-
 मयेनोपलिप्य देवस्य प्रतिकृतिं कृत्वाऽक्षतगन्धपु-
 ष्पैर्यथालाभमर्चयित्वा सह पुष्पोदकेन महापुरु-
 षमावाहयेत्— ॐ भूः पुरुषमावाहयामि ॐ भुवः
 पुरुषमावाहयामि ॐ सुवः पुरुषमावाहयामि
 ॐ भूर्भुवस्सुवः पुरुषमावाहयामि इत्यावाह्य आ-
 यातु भगवान् महापुरुष इति¹ । अथ स्वाग-
 तेनाभिनन्दयति स्वागतमनु चागतं भगवते महा-
 पुरुषायैतदासनमुपकृप्तं अत्रास्तां भगवान्महा-
 पुरुष इति । अत्र कूर्चं ददाति² । भगवतोऽयं
 कूर्चो दर्भमयस्त्रिवृद्धरितस्सुवर्णस्तं जुषस्वेति । अत्र
 स्नानादि कल्पयति अग्रतश्शङ्खाय कल्पयामि चक्राय
 कल्पयामि दक्षिणतो गदायै कल्पयामि वनमालायै

¹ इति कुशैरासनं दद्यात् इति बोधायनगृह्ये.

² अथ.....ददाति - नतद्विधायनगृह्ये.

कल्पयामि पश्चिमतः श्रीवत्साय कल्पयामि गरु-
 त्मते कल्पयामि उत्तरतः श्रियै कल्पयामि सरस्वत्यै
 कल्पयामि पुष्ट्यै कल्पयामि तुष्ट्यै कल्पयामीति ¹ ।
 अथ सावित्र्या पात्रमद्भिः प्रक्षाल्य तिरःपवित्रमप
 आनीय पुनस्तेनैवापोऽभिमन्त्र्य सपवित्रेणादि-
 त्यं दर्शयेत् ओमित्यातमितोः । तासां 'त्रीणि
 पदा विचक्रमे' इति पाद्यं ददाति । अथ
 व्याहृतिभिः निर्माल्यं व्यपोह्य 'इदं विष्णुर्वि
 चक्रमे' इत्यर्घ्यं दद्यात् । 'दिवो वा विष्णो'
 इत्याचमनीयम् । अथैनं स्नापयति 'आपो हिष्ठा
 मयोभुवः' इति तिसृभिः 'हिरण्यवर्णाश्शु-
 चयः पावकाः' इति चतसृभिः, 'पवमानस्सु-
 वर्जनः' इत्येतेनानुवाकेन, ब्रह्मजज्ञानं वामदेव्य-
 र्चा यजुःपवित्रेणेति । अथाद्भिस्तर्पयति—केशवं
 तर्पयामि नारायणं माधवं गोविन्दं विष्णुं म-
 धुसूदनं त्रिविक्रमं वामनं श्रीधरं हृषीकेशं प-
 द्मनाभं दामोदरं तर्पयामीति । दैवतानि वस्त्र-
 यज्ञोपवीताचमनीयानि उदकेन व्याहृतिभिर्द-
 त्वा ² व्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य

¹ अत्र स्नानादि.....कल्पयामीति—नैतद्वैधायनगृह्ये

² नारायणंव्याहृतिभिर्दत्त्वा—नैतद्वैधायनगृह्ये.

प्रणवेन वासो ददाति सवित्र्या यज्ञोपवीतं,
 'इदं विष्णुः' इत्याचमनीयं, 'गन्धद्वारां' इति
 गन्धं, 'इरावती' इत्यक्षतं, 'तद्विष्णोः' इति
 पुष्पं, सावित्र्या धूपं, 'उद्दीप्यस्व' इति दीपं,
 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
 हस्ताभ्यां' भगवते महापुरुषाय जुष्टं चरुं नि-
 वेदयामीति नैवेद्यं¹, अथास्मै द्वादशभिर्नामभिः
 (केशवादिभिर्द्वादश²) पुष्पाणि दद्यात् । ततः
 शङ्खाय नमः चक्राय नमः गदायै नमः वनमा-
 लायै नमः श्रीवत्साय नमः गरुत्मते नमः श्रियै
 नमः सरस्वत्यै नमः पुष्ट्यै नमः तुष्ट्यै नमः इति ।
 अथ शिष्टैर्गन्धमाल्यैर्ब्राह्मणानलंकृत्यातिशिष्टैर्ग-
 न्धमाल्यैरात्मानमलंकृत्य³, अथैनमृग्यजुस्सामा-
 थर्वभिस्स्तुतिभिस्स्तुवन्ति । ध्रुवसूक्तं जप्त्वा पु-
 रुषसूक्तं चाथान्यांश्च वैष्णवान्मन्त्रानित्येके⁴ ।
 ॐ भूर्भुवस्सुवर्महरो भगवते महापुरुषाय चरु-
 मुद्रासयामीति चरुमुद्रास्य उद्रासनकाले⁵ 'ॐ

¹ देवस्य त्वा इति हविर्निवेदनम्—इत्येवात्र मुद्रितपृष्ठपुस्तके.

² नैतत्पूर्वोक्तपुस्तके

³ ततः शङ्खाय.....त्मानमलंकृत्य—नैतत्पूर्वोक्तपुस्तके.

⁴ ध्रुवसूक्तं.....नित्येके—नैतत्पूर्वोक्तपुस्तके.

⁵ ॐ भूर्भुवः.....काले—नैतत्पूर्वोक्तपुस्तके.

भूः पुरुषमुद्रासयामि ॐ भुवः पुरुषमुद्रासयामि
 ॐ सुवः पुरुषमुद्रासयामि ॐ भूर्भुवस्सुवः पु-
 रुषमुद्रासयामि' इत्युद्रास्य प्रयातु भगवान्महा-
 पुरुषोऽनेन हविषा तृप्तो वा पुनरागमनाय पु-
 नस्सन्दर्शनाय च इति' । प्रतिमास्थानेष्वप्सु
 अग्नौ वाऽऽवाहनविसर्जनं सर्वं समानं महत्स्व
 स्त्ययनमित्याचक्षत' इत्याह भगवान्वोधायनः

इति । अत्र पूजानन्तरं योगयाज्ञवल्क्यः —

एवं सम्पूज्य देवेशं क्षणं ध्यात्वा निरञ्जनम् ।

ततोऽवलोकयेदर्कं हंसशुचिषदितृचा ॥

स याति ब्रह्मणस्सन्न ध्यात्वेक्षेतानया^३ तु यः ।

इति । एवं कुर्वतः फलमाह भगवान्—

येऽर्चयन्ति सदा विष्णुं शङ्खचक्रगदाधरम् ।

सर्वपापाविनिर्मुक्ता ब्रह्माणं प्रविशन्ति ते ॥

विष्णुरहस्येऽपि—

इति विष्ण्वर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।

ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरनन्तं परमं पदम् ॥

^१ व्याहृतिभिः पुरुषमुद्रासयेत् । ॐ भूः पुरुषमुद्रासयामीत्यादिभिः प्रयातु भगवान्महापुरुषः क्षेमाय विजयाय पुनस्सन्दर्शनाय चेति—इति गृह्यपुस्तके.

^२ प्रतिमास्थानेष्ववाहनोद्वासनवर्जमहर्हस्त्वाचक्षते — इति गृह्यपुस्तके.

^३ स्नात्वेक्षेतानया — क८घ.

इति । अत्र व्यासः —

सर्वेषामेव लोकानां गुरुर्नारायणो हरिः ।
तस्य सम्पूजनं कार्यं सर्वपापहरं हि यत् ॥

इति । शिवार्चनफलं तु शिवधर्मशास्त्रे दर्शितं—

यः प्रदद्याद्गवां लक्षं दोग्घ्रीणां वेदपारगे ।
एकाहमर्चयेद्विंशं तस्य पुण्यं ततोऽधिकम् ॥
मासे मासे तु योऽश्रीयाद्यावज्जीवं द्विजोत्तमान् ।
यस्त्वर्चयेत्सकृद्विंशं सममेतन्न संशयः ॥

इति । तथाऽकरणेऽपि दोषः कूर्मपुराणे दर्शितः—

यो मोहादथवाऽऽलस्यादकृत्वा देवतार्चनम् ।
भुङ्क्ते स याति नरकान्सूकरेष्विव जायते¹ ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां देवतार्चनम्.

देवतास्नानादिविषयाणि.

अथान्यान्यपि देवतास्नानादिविषयाणि² वचनानि कानिचिल्लिख्यन्ते । अत्र विष्णुधर्मे पुलस्त्यः—

गवां शतस्य विप्राणां यदक्षस्य भवेत्फलम् ।
घृतप्रस्थेन तद्विष्णोर्भवेत्स्नानान्न संशयः ॥
भूरिद्युम्नेन सम्प्राप्ता सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।

¹ क्रिमिर्भूत्वेह जायते—ग.

² देवताभिधेकविषयाणि—ग.

घृताढकेन गोविन्दप्रतिमास्नापनात्किल ॥
 द्वादश्यां पञ्चदश्यां वा गव्येन हविषा हरेः ।
 स्नापनं दैत्यशार्दूल महापातकनाशनम् ॥
 अयने चोत्तरे प्राप्ते यस्स्नापयति केशवम् ।
 घृतप्रस्थेन पापं स सकलं वै व्यपोहति ॥
 कपिलां विप्रमुख्याय ददात्यनुदिनं हि यः ।
 घृतस्नानं हि देवस्य ¹ तस्मिन्काले समं हि यत् ॥
 स्नाप्यमानं च पश्यन्ति ये घृतेनोत्तरायणे ।
 ते यान्ति विष्णुसालोक्यं सर्वपापविवर्जिताः ॥
 दध्यादीनां विकाराणां क्षीरतस्तम्भवो यथा ।
 तथैवाशेषकामानां क्षीरस्नापनतो हरेः ॥

नृसिंहपुराणेऽपि—

स्नाप्य दध्ना सकृद्विष्णुं निर्मलं प्रियदर्शनम् ।
 विष्णुलोकमवाप्नोति सेव्यमानस्सुरोत्तमैः ॥

यमोऽपि—

देवमाल्यापनयनं देवागारसमूहनम् ।
 स्नापनं सर्वदेवानां गोप्रदानसमं स्मृतम् ॥

नृसिंहपुराणे—

कुङ्कुमागरुश्रीखण्डकर्मैरच्युताकृतिम् ।

¹ कपिलां विप्रमुख्याय दर्शनं स्पर्शनं तथा ॥ विष्णुलोकमवाप्नोति ददात्यनु-
 दिनं हि यः । घृतस्नानेन देवस्य— क. झ. ग.

आलिप्य भक्त्या राजेन्द्र कल्पकोटिं वसेदिवि ॥

शङ्खोऽपि—

चन्दनकुङ्कुम¹ मृगनाभिभिर्जातीफलवर्जमनुलेपनं

समादध्यात्

इति । एतेषां सम्भव इति शेषः । पद्मपुराणेऽपि—

गन्धेभ्यश्चन्दनं पुण्यं चन्दनादगरुर्वरः ।

कृष्णागरुस्ततश्श्रेष्ठः कुङ्कुमं तु ततो वरम् ॥

नृसिंहपुराणेऽपि—

अपर्युषितनिच्छिद्रैरस्पृष्टैश्चापि जन्तुभिः ।

आत्मारामोद्भवैर्वाऽपि पुष्पैस्सम्पूजयेद्धरिम् ॥

दश दत्त्वा सुवर्णानि यत्फलं लभते नरः ।

तत्फलं लभते विष्णोर्द्रोणपुष्पप्रदानतः ॥

द्रोणपुष्पसहस्रेभ्यः खादिरं पुष्पमुत्तमम् ।

खादिरात्पुष्पसाहस्राच्छमीपत्रं² विशिष्यते ॥

शमीपत्रं³ सहस्राद्धि विल्वपत्रं विशिष्यते ।

विल्वपत्रसहस्राद्धि वकुलं पुष्पमुत्तमम् ॥

वकुलात्पुष्पसाहस्रान्नन्धावर्तं विशिष्यते ।

नन्धावर्तसहस्राद्धि करवीरं विशिष्यते ॥

करवीरसहस्रेभ्यः पालाशं पुष्पमुत्तमम् ।

पालाशपुष्पसाहस्रात्कुशपुष्पं विशिष्यते ॥

¹ चन्दनकूपरकुङ्कुम—ग.

² शमीपुष्पं—ग.

कुशपुष्पसहस्राद्धि वनमाला विशिष्यते ।
 वनमालासहस्राद्धि चम्पकं पुष्पमुत्तमम् ॥
 चम्पकात्पुष्पसाहस्रादशोकं पुष्पमुत्तमम् ।
 अशोकपुष्पसाहस्रात्सेवन्तीपुष्पमुत्तमम् ॥
 सेवन्तीपुष्पसाहस्राद्रोर्जटापुष्पमुत्तमम् ।
 ओर्जटापुष्पसाहसान्मालतीपुष्पमुत्तमम् ॥
 मालतीपुष्पसाहस्रात्सन्ध्यारक्तमनुत्तमम् ।
 सन्ध्यारक्तसहस्राद्धि कुन्दपुष्पं विशिष्यते ॥
 कुन्दपुष्पसहस्राद्धि मल्लिकापुष्पमुत्तमम् ।
 मल्लिकापुष्पसाहस्राज्जातीपुष्पं विशिष्यते ॥
 जातीपुष्पसहस्रेण यो मालां सम्प्रयच्छति ।
 विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
 कल्पकोटिहस्ताणि कल्पकोटिशतानि च ।
 वसेद्विष्णुपुरे श्रीमान्विष्णुतुल्यपराक्रमः ॥

विष्णुरहस्येऽपि—

वर्णानां तु यथा विप्रः तीर्थानां जाह्नवी यथा ।
 सुराणां च यथा विष्णुः पुष्पाणां मालती तथा ॥
 मालत्याऽनुदिनं^१ देवं योऽर्चयेद्भरुडध्वजम् ।
 जन्ममृत्युजरारोगैर्मुक्तोऽसौ मुक्तिमाप्नुयात् ॥

^१ मालत्या मालया—क.

दत्तमात्रं हरेः पुष्पं निर्माल्यं भवति क्षणात् ।
 उपभुङ्क्ते त्वहोरात्रं मालत्याः कुसुमं हरिः ॥
 सुगन्धैर्मल्लिकापुष्पैरर्चयित्वाऽच्युतं नरः ।
 सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥
 योऽर्चयेत्पाटलीपुष्पैस्सर्वपापहरं हरिम् ।
 स पुण्यात्मा परं स्थानं वैष्णवं व्रजतेऽमलम् ॥
 सितरक्तैर्महापुष्पैः कुसुमैः करवीरजैः ।
 अर्चयित्वाऽच्युतं याति यत्रास्ते गरुडध्वजः ॥
 गन्धाढ्यैर्विमलै रम्यैः कुसुमैः कुब्जकोद्भवैः ।
 भक्त्याऽभ्यर्च्य हृषीकेशं श्वेतद्वीपं व्रजेन्नरः ॥
 शुभ्रशुद्धैर्महागन्धैः कुसुमैः पङ्कजोद्भवैः ।
 अधोक्षजं समभ्यर्च्य नरो याति हरेः पदम् ॥
 अर्चयित्वा हृषीकेशं कुसुमैः केतकोद्भवैः ।
 पुण्यं तद्भवनं याति केशवस्य निरामयम् ॥
 अभ्यर्च्य कुन्दकुसुमैः केशवं कल्मषापहम् ।
 प्रयाति भवनं विष्णोर्वन्दितं मुनिचारणैः ॥
 आदरूपिक ¹पुष्पैर्यः पूजयेज्जगतां पतिम् ।
 स पुण्यवान्नरो याति विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥
 अशोककुसुमै रम्यैर्जन्मशोक ²भयापहम् ।
 पूजयित्वाऽच्युतं देवं याति विष्णुमनामयम् ॥

¹ अथ पोपक—घ; अपहाटक—क; आटदूषक—ख. ² रोग—क.

तिलकस्योज्ज्वलैः पुष्पैस्सम्पूज्य मधुसूदनम् ।
 धूतपापो निरातङ्कः कृष्णस्यानुचरो भवेत् ॥
 नीपार्जुनकदम्बैश्च वकुलैश्च सुगन्धिभिः ।
 अभ्यर्च्य केशवं पुष्पैः पुण्यकृद्विष्णुलोकभाक् ¹ ॥
 अगस्त्याम्बुमयैः पुष्पैः किंशुकैः ² स्मृमनोहरैः ।
 समभ्यर्च्य हृषीकेशं जन्मदुःखाद्रिमुच्यते ।
 शतदूर्वामयैः पुष्पैस्तथा काशकुशोद्भवैः ॥
 भूधरं समलङ्कृत्य विष्णुलोकं व्रजेन्नरः ।
 मारुतं केतकं पुष्पं तथा दामनकं पुनः ॥
 उत्तमां तु हरेः प्रीतिं करोति शतवार्षिकीम् ।
 पुरोपवनजैः पुष्पैरलंकृत्य जनार्दनम् ॥
 यत्फलं प्राप्यते पुम्भिरारण्यैस्त्रिगुणं ततः ।
 भक्त्या दत्तं फलं पुष्पं पत्रं दूर्वाङ्कुरं जलम् ॥
 अचिरात्प्रतिगृह्णाति भक्तिग्राह्यो हि केशवः ।

विष्णुधर्मेष्वापि—

भक्त्या दूर्वाङ्कुरैः पुम्भिः पूजितः परमेश्वरः ।
 हरिर्ददाति हि फलं सर्वयज्ञैस्सुदुर्लभम् ॥

विष्णुरहस्येऽपि—

सकृदभ्यर्च्य गोविन्दं बिल्वपत्रेण मानवः ।
 मुक्तिभागी निरातङ्कः कृष्णस्यानुचरो भवेत् ॥

¹ विष्णुलोकं स गच्छति—क. ख. ५ घ.

² सुगन्धै—क.

येऽर्चयन्ति शमीपत्रैः प्रमादेनापि केशवम् ।
 ते प्रसन्ने हृषीकेशे नरा यान्ति परां गतिम् ॥
 हरिं भृङ्गारजेनापि येऽर्चयन्ति सुरेश्वरम् ।
 तेऽपि मुक्ता जरारोगैर्नरा यान्ति हरेः पदम् ॥
 येऽर्चयन्ति¹ तमालस्य पत्रैः पापहरं हरिम् ।
 धूतपाप्माऽच्युतावासं प्रयाति सुकृती नरः ॥
 तुलसी कृष्णगौरा स्थातयाऽभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
 नरो याति तनुं त्यक्त्वा वैष्णवीं शाश्वतीं गतिम् ॥

पञ्चपुराणेऽपि—

सुगन्धतुलसीपत्रैः प्रतिमायास्समन्ततः ।
 निच्छिद्रमास्त्रेद्यस्तु सोऽनन्तं फलमाप्नुयात् ॥
 पुष्पजातिषु सर्वासु सौवर्णे पुष्पमुत्तमम् ।
 तृटिमात्रप्रदानात्तु शक्रार्थासनमाप्नुयात् ॥

तृटिमात्रमणुमात्रम् । विष्णुरहस्येऽपि—

स्वर्णे लक्षाधिकं पुण्यं माला कोटिगुणाधिका ।
 दत्ता भवति कृष्णाय नरैर्भक्तिसमान्वितैः ॥
 एवं शुभैस्सदा पुष्पैः पूजनीयो जनार्दनः ।
 निषिद्धैर्दुःखदैर्देवं नार्चयेत् कथं चन ।

इति । निषिद्धान्यपि तत्रैव दर्शितानि—

न शुष्कैः पूजयेद्देवं कुसुमैर्न महीं गतैः ।

¹ योऽर्चयेत्—इति वरम्.

न विशीर्णदलैश्शिष्टैर्नाशुभैर्नाविकासिभिः ॥
पूतिगन्धोग्रगन्धानि आम्लगन्धानि वर्जयेत् ।

पद्मपुराणेऽपि—

कीटकेशापविद्धानि शीर्णपर्युषितानि च ।
भग्नपत्रं च न ग्राह्यं क्रिमिदुष्टं न चाहरेत् ॥
वर्जयेद्दूर्णनाभेन वासितं यदि शोभनम् ।
स्थलजं नोद्धरेत्पुष्पं छेदयेज्जलजं न तु ॥
यानि स्पृष्टानि चास्पृश्यैर्लोकायुक्तैश्च वर्जयेत् ।

हारीतोऽपि—

स्नानं कृत्वा तु ये कोचित्पुष्पं गृह्णन्ति वै द्विजाः ।
देवतास्तं न गृह्णन्ति न च गृह्णन्ति वै द्विजाः ॥
पितरस्तं न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ।
एतन्मध्याह्नस्नानाभिप्रायम् । द्वितीयभागं प्रकृत्य—
समित्पुष्पकुशादीनां¹ न कालः परिकीर्तितः ।

इति दक्षस्मरणात् । विष्णुरहस्येऽपि—

येऽर्कपुष्पैस्त्रिलोकेशमर्चयन्ति जनार्दनम् ।
तेभ्यः क्रुद्धोऽक्षयं दुःखं क्रोधाद्विष्णुः प्रयच्छति ॥
उन्मत्तकेन ये मूढाः पूजयन्ति त्रिविक्रमम् ।
उन्मादं दारुणं तेषां ददाति गरुडध्वजः ॥

¹ फलादीनां—क.

काञ्जनारमयैः पुष्पैर्येऽर्चयन्त्यसुरद्विषम् ।
 दारिद्र्यं दुःखबहुलं तेभ्यो विष्णुः प्रयच्छति ॥
 गिरिकार्णिकया विष्णुं येऽर्चयन्त्यबुधा जनाः ।
 तेषां कुलक्षयं घोरं कुरुते मधुसूदनः ॥

इति । अत्र हारीतः—

महिषाक्षकणं¹ दारुसिल्लकं² सागरं मदम् ।
 शङ्ख³ जातिफलं श्रीमत्प्रिया धूपा हरेरिमे ॥
 घृततैलैर्विना किञ्चिद्दीपार्थं न समाहरेत् ।

संवर्तोऽपि—

देवागारे द्विजानां च दत्त्वा दीपं चतुष्पथे ।
 मेधावी ज्ञानसम्पन्नश्चक्षुष्मान् जायेत नरः ॥

भविष्योत्तरेऽपि—

प्रज्वालय देवदेवस्य कर्पूरेण तु दीपकम् ।
 अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥

पद्मपुराणेऽपि—

नैवेद्यपात्रं वक्ष्यामि केशवाय महात्मने ।
 हैरण्यं राजतं कांस्यं ताम्रं मृण्मयमेव वा ॥
 पालाशं पद्मपत्रं वा पात्रं⁴ विष्णोरतिप्रियम् ।
 हविश्शाल्योदनं दिव्यमाज्ययुक्तं सशर्करम् ॥

¹ महिषाक्षकं — ग.

² सिल्लकं—क.घ; सिल्लहकं—घ.

³ कम्बु—क.

⁴ पत्रं—ख.

नैवेद्यं देवदेवाय यावकं पायसं तथा ।
 नैवेद्यवस्त्वलाभे तु फलानि विनिवेदयेत् ॥
 फलानामप्यभावे तु तृणगुल्मौषधीरपि ।
 ओषधीनामलाभे तु तोयान्यपि निवेदयेत् ॥
 तदभावे तु सर्वत्र मानसं परमं स्मृतम् ।

बराहपुराणेऽपि—

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्चयेत् ।
 सं यां गतिमवाप्नोति न तां क्रतुशतैरपि ॥

नृसिंहपुराणेऽपि—

नमस्कारेण चैकेन अष्टाङ्गेन हारिं व्रजेत् ।

इति । अष्टाङ्गलक्षणं पुराणे दर्शितं—

उरसा सिरसा दृष्ट्या मनसाऽपि धियाऽपि च ।
 पद्भ्यां कराभ्यां वाचा च प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥

अत्र ब्रह्मा—

विष्णोर्विमानं यः कुर्यात्सकृद्रक्त्या प्रदाक्षिणम् ।
 अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥

पुराणेऽपि—

अग्निष्टोमसहस्रैस्तु वाजपेयशतैरपि ।
 तत्फलं लभते देवि विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ॥
 हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः ।

धारोदकं^१ च निर्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ॥
इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां देवतास्नानादि विषयाणि.

शिवार्चनम्

अथ शिवार्चनम् । तत्र बोधायनः—

अथातो महादेवस्याहरहः परिचर्याविधिं व्याख्यास्यामः । स्नातश्शुचिस्समे^२ देशे गोमयेनोपलिप्य प्रतिकृतिं^३ कृत्वाऽक्षतगन्धपुष्पैर्यथालाभमर्चयित्वा सह पुष्पोदकेन महादेवमावाहयेत् । ॐ भूर्महादेवमावाहयामि ॐ भुवर्महादेवमावाहयामि ॐ सुवर्महादेवमावाहयामि ॐ भूर्भुवस्सुवः महादेवमावाहयामि । आयातु^४ भगवान्महादेव इति । अथ स्वागतेनाभिनन्दयति स्वागतमनु चागतं भगवते महादेवाय एतदासनमुपकृप्तं अत्रास्तां भगवान्महादेव इति । अत्र कूर्चं ददाति भगवतोऽयं कूर्चो दर्भमयास्त्रिवृद्धारितस्सुवर्णस्तं जुषस्वेति । अत्र स्थानानि कल्पयति अग्रतो ब्रह्मणे कल्पयामि विष्णवे कल्पयामि, दक्षिणतः स्कन्दाय^५ कल्पयामि विनायकाय कल्पयामि, पश्चिमतश्शूलाय कल्पयामि महाकालाय कल्पयामि,

^१ प.दोदकं—क, ^२ स्नात्वा शुचौसमे . क.ख.घ. ^३ देवस्य प्रतिकृतिं—गृह्ये.

^४ ॐ भूः पुरुषमवाहयामीत्यादि आयातु—इति गृह्ये. ^५ दुर्गायै—ग.

उत्तरत उमायै कल्पयामि नन्दि¹ केश्वराय कल्प
यामि इति कल्पयित्वा² सावित्र्या³ पात्रमभिम-
न्त्रय प्रक्षाल्य तिरःपवित्रमप आनीय पुनस्तेनैवा-
भिमन्त्रय सह पवित्रेणादिसं दर्शयेत् ॐ मित्यात-
मितोः⁴ । तासां त्वरितरुद्रेण पाद्यं दद्यात्⁵ । प्रण-
वेनार्घ्यम्⁶ । अथ व्याहृतिभिर्निर्माल्यं व्यपोह्य उत्त-
रतश्चण्डीश्वराय⁷ नमः इति । अथैनं स्नापयति
'आपो हिष्ठा मयोभुवः' इति तिसृभिः 'हिरण्य-
वर्णाः' इति चतसृभिः 'पवमानस्सुवर्जनः' इत्येते-
नानुवाकेन⁸ । स्नापयित्वाऽद्भिस्तर्पयति भवं देवं
तर्पयामि शर्वं देवं तर्पयामि ईशानं देवं तर्प-
यामि पशुपतिं देवं तर्पयामि रुद्रं देवं तर्पयामि
उग्रं देवं तर्पयामि भीमं देवं तर्पयामि महान्तं
देवं तर्पयामि इति तर्पयित्वा । अथैतानि वस्त्र-

1 उमायै कल्पयामि शक्त्यै कल्पयामि नन्दि—ग

2 अथ स्वागतेना..... कल्पयित्वा—नैतद्बोधायनगृह्ये.

3 यो रुद्रो अग्नौ इति यजुषा—इति गृह्ये. 'ॐ मित्युतमितोः—क. ख.

5 तासां पाद्यं . इति पाद्यं दद्यात्—इति गृह्ये.

6 नैतद्वाक्यं बोधायनगृह्ये. 7 श्रण्डेशाय —ख.

8 अथ व्याहृतिभिर्निर्माल्यं व्यपोह्यार्घ्यमाचमनीयं दत्वाऽभिषिञ्चति-आपोहिष्ठा-
मयोभुवः इति तिसृभिः, हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः, पवमानस्सुवर्जन इत्येते-
नानुवाकेन, ब्रह्म जज्ञानं, कटुद्राय, त्वरितरुद्रं, वामदेव्यं आपो वा
इदं, इति च इति गृह्यपाठः.

यज्ञोपवीताचमनीयान्युदेकन व्याहृतिभिर्दत्वा¹
 व्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य नमस्ते
 रुद्र मन्यव इतिगन्धं दद्यात् । सहस्राणि सह-
 स्रश इति पुष्पं दद्यात् । ईशानं त्वा भुवना-
 नामधिश्रियं इत्यक्षतान् दद्यात् । सावित्र्या धूपं,
 उद्दीप्यस्वेति दीपं² देवस्य त्वा सावितुः प्रस-
 वेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां भगवते महा-
 देवाय जुष्टं चरुं निवेदयामीति नैवेद्यम्³ । अथा-
 ष्ठीभिर्नामभिरष्टौ पुष्पाणि दद्यात् भवाय देवा-
 यनमः शर्वाय देवाय नमः ईशानाय देवाय-
 नमः पशुपतये देवाय नमः रुद्राय देवायनमः
 उग्राय देवाय नमः भीमाय देवाय नमः महतेदेवा
 य नमः ब्रह्मणे नमः विष्णवे नमः स्कन्दाय नमः
 विनायकाय नमः महाकालाय नमः उमायै नमः

¹ स्नापीयत्वा... दत्वा — नैतद्गृह्ये.

² परिषिच्य पावित्रं पादमूले निधायद्भिस्तर्पयति भवं देवं तर्पयामीत्यष्टाभिः । ॐ न-
 मो भगवते रुद्राय त्रयम्बकाय इति वस्त्रयज्ञापवीते दद्यात् । भवाय देवाय-
 नमः इत्यष्टाभिः पुष्पाणि दद्यात् त्वरितरुद्रेण गन्धपुष्पधूपदीपं ददाति—
 इति गृह्ये.

³ देवस्य त्वा इति हविषो निवेदयेत् । त्रयम्बकमिति परिषेकं दद्यात् । अमृतोपस्तर-
 णमसीति प्रतिपदं कृत्वा हविरविरुद्धं सर्वं स्वादु वस्तु कन्दमूलफलानि-
 दद्यात् — इति गृह्ये.

दुर्गायनमः नन्दिकेश्वराय नम इति । चरुशेषे
 णाष्टभिर्नामभिरष्टाहुतीर्जुहोति भवाय देवाय स्वा-
 हेत्यादिभिः । अथ शिष्टैर्गन्धमाल्यैर्ब्राह्मणानल-
 ङ्कृत्यात्मानं चालङ्कृत्य । अथैनमृग्यजुस्सामाथ-
 र्वाभिस्तुवीन्त सहस्राणि सहस्रश इत्यनुवाकं
 जप्त्वाऽन्यांश्च रौद्रान्मन्त्रान्यथाशक्तीत्यंके । ॐ
 भूर्भुवस्सुवर्महरो भगवते महादेवाय चरुमुद्रासया-
 मीति चरुमुद्रास्य उद्रासनकाले ॐ भूर्महादेवमु-
 द्रासयामि ॐ भुवः महादेवमुद्रासयामि ॐ
 सुवर्महोदेवमुद्रासयामि ॐ भूर्भुवस्सुवर्महादेव-
 मुद्रासयामि

प्रयातु भगवानीश स्सर्वलोकपरायणः ।

अनेन हविषा तुष्टः पुनरागमनाय च² ॥

इति । प्रतिमास्थानेष्वप्स्वग्नौ वा आवाहनविसर्जनवर्जं
 सर्वं समानं महत्स्वस्त्ययनमित्याचक्षते³ महत्स्व

¹ ददातीत्यनन्तरं 'मुहूर्तमात्रमनवेक्षमाण आसीनो हविरुद्रासयामीति निवेद्यमुद्रास्य
 अमृतापिधानमसीति प्रतिपदं कृत्वा त्र्ययं वकं इत्याचमनीयं दद्यात् । सर्वोपक-
 रणैरर्चयित्वा भवाय देवाय नमः इत्यादिभिः अमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इति
 गन्धः नूददाति — इति बोधायनगृह्ये पाठः.

² च पुनस्सन्दर्शनाय च — इत्यधिकः पाठः ख, पुस्तके.

³ गन्धान्ददातीत्यनन्तरं रौद्रीभि ऋग्यजुस्सामाथर्वाभिस्तुवन्त्यन्यैस्तोत्रैश्च नमस्कृ-
 त्य प्रयातु भगवान् महादेव इति विसर्जयति । लिङ्गस्थानेषु आवाहनं विस-
 र्जनवर्जमहरहस्त्वस्त्ययनामत्याचक्षते इत्याह — इति गृह्ये.

स्त्ययनमित्याचक्षत इत्याह भगवान् बोधायनः
इति । त्वारितरुद्र इति सर्वो वै रुद्र इत्यनुवाकेन । एवं
कुर्वतः फलमाह पुराणे नन्दिकेश्वरः—

यः प्रदद्याद्गवां लक्षं दोग्ध्रीणां वेदपारगे ।

एकाहमर्चयेद्विष्णुं तस्य पुण्यं ततोऽधिकम् ॥

मासे मासे तु योऽश्रीयाद्यावज्जीवं द्विजोत्तमान् ।

यस्त्वर्चयेत्सकृद्विष्णुं सममेतन्न संशयः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां शिवार्चनविधिः.

शिवस्नानादिविषयाणि.

अथ शिवस्नानादिविषयाणि । तत्र शिवधर्मे नन्दिकेश्वरः—

कल्पकोटिसहस्रैस्तु यत्पापं समुपार्जितम् ।

घृतस्नानेन ब्रह्मसर्वं दहत्याग्निरिवेन्धनम् ॥

वर्षकोटिसहस्रैस्तु यत्पापं समुपार्जितम् ।

घृताभ्यङ्गेन लिङ्गस्य¹ दहेत्सर्वं न संशयः ॥

कृष्णाष्टम्यां घृतस्नानं कृत्वा लिङ्गे सकृन्नरः² ।

त्रिस्तप्तकुलमुद्धृत्य शिवलोके महीयते ॥

नैरन्तर्येण यो मासं घृतस्नानं समाचरेत् ।

स त्रिस्तप्तकुलोपेतो³ लभते पदमैश्वरम् ॥

अयुतं यो गवां दद्याद्दोग्ध्रीणां वेदपारगे ।

वस्त्रहेमादियुक्तानां क्षीरस्नानस्य तत्फलम् ॥

¹ देवस्य—ख.

² न संशयः—ख.

³ त्रिस्तप्तकुलमुद्धृत्य—ग.

दध्ना तु स्नापयेल्लिङ्गं सकृद्भक्त्या तु यो नरः ।
 सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णु^१ लोके महीयते ॥
 दध्ना तु स्नापयेल्लिङ्गं कृष्णाष्टम्यामुपोषितः ।
 कुलसप्तकमुद्धृत्य शिवलोके महीयते ॥
 मधुना स्नापयित्वा तु सकृद्भक्त्या तु वै नरः ।
 पापकञ्चुकमुद्धृत्य बहिलोके महीयते ॥
 स्नानमिक्षुरसेनापि यो लिङ्गे सकृदाचरेत् ।
 लभेद्वैद्याधरं लोकं सर्वकामसमन्वितम्^२ ॥
 वस्त्रपूतेन तोयेन यो लिङ्गं स्नापयेत्सकृत् ।
 सर्वकामसुतृप्तात्मा वारुणं लोकमाप्नुयात् ॥
 कुशोदकेन यो लिङ्गं सकृत्स्नापयते नरः ।
 काञ्चनेन विमानेन ब्रह्मलोके महीयते ॥
 गन्धचन्दनतोयेन स्नापयेत्सकृदीश्वरम् ।
 गन्धर्वलोकमासाद्य गन्धर्वैश्च सुपू^३ ज्यते ॥
 पुष्पोदकेन सावित्रं कौबेरं हेमवारिणा ।
 रत्नोदकेन चाप्यैन्द्रं लोकं प्राप्य स मोदते ॥
 कपिलापञ्चगव्येन विधिना सकृदाचरेत् ।
 स्नानं शतगुणं प्रोक्त^४ मितरेषां न संशयः ॥
 स्नानं शतफलं ज्ञेयमभ्यङ्गं पञ्चविंशतिः ।

^१ रुद्र—ग.^२ 'स्नानं' इत्यादि पद्यं 'ग' पुस्तके न दृश्यते.^३ माप्नोति गन्धर्वैस्सह पू—ख.^४ ज्ञेय—ख.

फलानां द्वे सहस्रे ¹ तु महान्नानं प्रकीर्तितम् ॥
 वासांसि सुविचित्राणि सारवन्ति मृदूनि च ।
 धूपितानि शिवे दद्याद्विकेशानि नवानि च ॥
 यावत्तद्वस्त्रतन्तूनां परिमाणं विधीयते ।
 तावद्रर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ॥
 त्रिवृतं शुक्लपीतं वा पट्टसूत्रादिनिर्मितम् ।
 दत्त्वोपवीतं रुद्राय भवेद्वेदान्तपारगः ॥
 लिङ्गस्य ² लेपनं कुर्यादिव्यगन्धैस्सुगन्धिभिः ।
 वर्षकोटिशतं दिव्यं शिवलोके महीयते ॥
 गन्धानुलेपनात्पुण्यं द्विगुणं चन्दनस्य तु ।
 चन्दनादगरोर्ज्ञेयं पुण्यमष्टगुणान्वितम् ॥
 कृष्णागरोर्विशेषेण द्विगुणं फलमिष्यते ³ ।
 तस्माच्छतगुणं पुण्यं कुङ्कुमस्य विधीयते ॥
 चन्दनागरुकर्पूरैश्श्लक्ष्णपिष्टैस्सकुङ्कुमैः ।
 लिङ्गं पर्याप्तमालिप्य कल्पकोटिं वसेदिवि ॥
 संवीज्य ⁴ तालवृन्तेन दिव्यगन्धैर्विलेपितम् ।
 वर्षकोटिसहस्राणि वायुलोके महीयते ॥
 मायूरं व्यजनं दत्त्वा शिवायातीव शोभनम् ।
 वर्षकोटिशतं तत्र ⁵ रुद्रलोके महीयते ॥

¹ फलानां च सहस्रं—ख.

² अङ्गस्य—ग.

³ माप्यते—ख.

⁴ संवृत्य—ग.

⁵ पुण्यं—ख.

पुष्पैररण्यसम्भूतैः पत्रैर्वा गिरिसम्भवैः ।
 अपर्युषितनिच्छिद्रैः प्रोक्षितैर्जन्तुवार्जितैः ॥
 आत्मारामोद्भवैर्वाऽपि पुष्पैस्सम्पूजयेच्छिवम् ।
 पुष्पजातिविशेषेण भवेत्पुण्यं विशेषतः ॥
 अर्कपुष्पे तु एकस्मिन् शिवाय विनिवेदिते ।
 शतं¹ दत्त्वा सुवर्णानां² यत्फलं तदवाप्नुयात् ॥
 अर्कपुष्पसहस्रेभ्यः करवीरं विशिष्यते ।
 करवीरसहस्रेभ्यो बिल्वपत्रं विशिष्यते ॥
 बिल्वपत्रसहस्रेभ्यः पद्ममेकं³ विशिष्यते ।
 तथा पद्मसहस्रेभ्यो वकपुष्पं विशिष्यते ॥
 वकपुष्पसहस्रेभ्यश्चैकं दुत्तूरकं वरम् ।
 दुत्तूरकसहस्रेभ्यो बृहतीपुष्पमुत्तमम् ॥
 बृहतीपुष्पसाहस्राद्रोणपुष्पं विशिष्यते ।
 ओणपुष्पसहस्रेभ्यो ह्यपामार्गं विशिष्यते ॥
 अपामार्गसहस्रेभ्यः कुशपुष्पं विशिष्यते ।
 कुशपुष्पसहस्रेभ्यश्शमीपुष्पं विशिष्यते ॥
 शमीपुष्पसहस्रेभ्यश्श्रीमन्नीलोत्पलं वरम् ।
 सर्वासां पुष्पजातीनां प्रवरं नीलमुत्पलम् ॥
 नीलोत्पलसहस्रेण यो मालां सम्प्रयच्छति ।

शिवाय विधिवद्भक्त्या¹ तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
 कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च ।
 वसेच्छिवपुरे श्रीमान्² शिवतुल्यपराक्रमः ॥
 शमीपुष्पं बृहत्याश्च कुसुमं तुल्यमुच्यते ।
 करवीरसमा ज्ञेया जातीविजयपाटलाः ॥
 श्वेतमन्दारकुसुमं सितपद्मसमं भवेत् ।
 नागचम्पकपुन्नागा दुत्तूरकसमास्मृताः ॥
 दुत्तूरकेण यो लिङ्गं सकृत्पूजयते नरः ।
 स गोलक्षफलं प्राप्य शिवलोके महीयते ॥
 बृहतीकुसुमैर्भक्त्या यो लिङ्गं सकृदर्चयेत् ।
 गवामयुतदानस्य फलं प्राप्य दिवं व्रजेत् ॥
 मल्लिकोत्पलपद्मानि जातीपुन्नागचम्पकाः ।
 अशोकश्चैव मन्दारकर्णिकारवकानि च ॥
 करवीरार्कदुत्तूरशमीनागरकेसराः ।
 कुशापामार्गकुसुमकादम्बद्रोणजैरपि ॥
 पुष्पैरेतैर्यथालाभं यो नरः पूजयेच्छिवम् ।
 स यत्फलमवाप्नोति तदेकाग्रमनाऽशृणु ॥
 सूर्यकोटिप्रतीकाशैर्विमानैस्सार्वकालिकैः ।
 पुष्पमालापरिक्षिप्तैर्गीतवादित्रनादितैः ॥
 तन्त्रीमधुरवाद्यैश्च³ स्वच्छन्दगमनालयैः ।

¹ त्रिदिनं भक्त्या — क. ख.

² धीमान्—ती.

³ भ्रमन्ति मधुरालापैः—क. ख.

रुद्रकन्यासमाकीर्णैर्देवदानवदुर्लभैः ।
 दोधूयमानश्चमरैस्स्तूयमानस्सुरासुरैः ॥
 गच्छेच्छिवपुरं दिव्यं यत्र वा रुचितं भवेत् ।
 शिवस्योपरि यः कुर्यात्सुघनं पुष्पमण्डपम् ॥
 शोभितं पुष्पमालाद्यैरापीडान्तं प्रलम्बितैः ।
 अत्याश्चर्यैर्महायानैर्दिव्य ¹ पुष्पोपशोभितैः ॥
 सर्वैः ² परिवृतश्शीमान् गच्छेच्छिवपुरं सुखम् ।
 त्रुटिमात्रं तु यो दद्याद्धेम लिङ्गस्य मूर्धनि ॥
 इन्द्रस्यार्धासने तावद्यावदिन्द्राश्चतुर्दश ।
 एवमेवानुसारेण ³ फलं ज्ञेयं समासतः ⁴ ॥
 सर्वेषां मणिपद्मानां मकुटार्थे ⁵ विशेषतः ।
 स्वयमुत्पाद्य पुष्पाणि यस्स्वयं पूजयेच्छिवम् ॥
 तानि साक्षात्प्रगृह्णाति तद्भक्त्या सततं शिवः ।
 अलाभे वाऽपि पुष्पाणां पत्राण्यपि निवेदयेत् ॥
 पत्राणामप्यलाभे तु तृणगुल्मौषधीरपि ⁶ ।
 ओषधीनामलाभे तु भक्त्या भवति पूजितः ॥
 काननानि ⁷ कदम्बानि रात्रौ देयानि शम्भवे ।
 दिवा शेषाणि पुष्पाणि दिवा रात्रौ च मल्लिकाः ॥

¹ दीप्त—ख.² फलैः—ग.³ रागेण—ख.⁴ समानतः—ग.⁵ मणिपद्मानां मकुटादेः—ग.⁶ फलान्यपि निवेदयेत् । फलानामप्यभावे तु तृणगुल्मौषधीरपि ॥ —क.ख.⁷ कनकानि—क. ख.

निर्गन्धान्पुग्रगन्धानि कुसुमानि विवर्जयेत् ।
 गन्धवन्त्यपि पत्राणि यानि तानि विवर्जयेत् ॥
 गन्धहीनमपि ग्राह्यं पवित्रं यत्कुशादिकम् ।
 कीटकेशोपविद्धानि शीर्णपर्युषितानि च ॥
 स्वयम्पतितपुष्पाणि सजेदुपहतानि च ।
 मुकुलैर्नार्चयेद्देव¹ मपक्वं न निवेदयेत् ॥
 कृष्णागरुमलो धूपस्तुषाग्निरिव काञ्चनम् ।
 शोधयेत्पापसंयुक्तं पुरुषं नात्र संशयः ॥
 कृष्णागरुसकर्पूरैर्धूपं दद्यान्महेश्वरे ।
 नैरन्तर्येण मासार्धं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
 कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च ।
 भुङ्क्ते शिवपुरे भोगांस्तस्यान्ते च महीपतिः ॥
 गुग्गुलुं घृतसंयुक्तं साक्षाद्भुङ्क्ताति शङ्करः ।
 मासार्धमात्रदानेन शिवलोके महीयते ॥
 शिवे कृष्णचतुर्दश्यां यस्साज्यं गुग्गुलुं दहेत् ।
 अपराधसहस्रैकमिहामुत्र कृतं दहेत् ॥
 द्वे सहस्रे फलानां² तु महिषाज्यस्य गुग्गुलोः ।
 दग्ध्वा तमाज्यसम्मिश्रं शिवतुल्यः प्रजायते ॥
 घृतदीपप्रदानेन शिवाय शत³ योजनम् ।

¹ लिङ्ग—ख.

² द्वे सहस्रफलानां—ख.

³ दश—ख.

याम्यं तदालयं हित्वा विमानैस्मूर्यसन्निभैः¹ ॥
 स तस्य² देवदेवस्य गाणापत्यं लभेन्नरः ।
 शालीनां तण्डुलप्रस्थं कुर्यादन्नं सुसंस्कृतम् ॥
 शिवाय तच्चरुं दद्याच्चतुर्दश्यां विशेषतः ।
 यावन्तस्तण्डुलास्तस्मिन्नैवेद्ये परिसङ्ख्यया ॥
 तावद्युगसहस्राणि रुद्र³ लोके महीयते ।
 गुडखण्डघृतानां च भक्षाणां च निवेदिते ॥
 घृतेन पाचितानां च दानाच्छतगुणं फलम् ।
 मज्जका⁴ पानकानां च भक्षार्थं फलमिष्यते ॥
 तदर्थं सलिलस्यापि वासितस्य विशेषतः ।
 मातुलुङ्गफलादीनि पक्वानि विनिवेदयेत् ॥
 शिवाय तत्फलं तस्य यद्भक्षाणां निवेदने⁵ ।
 पञ्चसौगन्धिकोपेतं यस्ताम्बूलं निवेदयेत् ॥
 शिवाय गुरवे चैव तस्य पुण्यफलं शृणु ।
 सुगन्धिदेहस्तेजस्वी सर्वावयवसुन्दरः ॥
 वर्षकोटिशतं दिव्यं⁶ शिवलोके महीयते ।
 शिवस्य पुरतो दद्याद्वर्षणं चारु निर्मलम् ॥
 पर्यङ्कशोभितं कृत्वा श्वेतमाल्यैरलङ्कृतम् ।
 चन्द्रांशुनिर्मलशीमान्सुभगः कामरूपधृत् ॥

¹ सप्रभैः—ख.² तत्र—ग.³ शिव—ख.⁴ मज्जको—ग.⁵ यद्भक्षणनिवेदने—ख.⁶ वर्षाणि द्विशतं दिव्यं—ख.

कल्पायुतसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ।
 प्रणम्य दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्चयेत् ॥
 स यां गतिमवाप्नोति न तां क्रतुशतैरपि ।
 कृत्वा प्रदक्षिणं भक्त्या शिवस्यायतने नरः ॥
 अश्वमेधसहस्रस्य सुखेन लभते फलम् ।

लिङ्गपुराणेऽपि—

प्रदक्षिणं तु यः कुर्यात्सप्रणामं¹ समन्ततः ।
 सव्यापसव्यन्यायेन मृदुगत्या शुचिर्नरः ॥
 पदे पदेऽश्वमेधस्य यज्ञस्य फलमाप्नुयात् ।
 इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां शिवस्तानादिविषयाणि.

पञ्च महायज्ञाः

अथ पञ्च महायज्ञाः । तत्र संवर्तः—

ततः पञ्च महायज्ञान्कुर्यादहरहर्द्विजः ।
 न हापयेत तान्प्राज्ञश्श्रूयन्ते हि श्रुतावपि ॥

ततो देवपूजानन्तरमित्यर्थः ।

पौरुषेण तु सूक्तेन ततो विष्णुं समर्चयेत् ।
 वैश्वदेवं ततः कुर्याद्वलिकर्म तथैव च ॥

इति नारसिंहपुराणस्मरणात् । यमोऽपि—

पञ्च सूना गृहस्थस्य वर्तन्तेऽहरहस्सदा ।
 खण्डिनी पेपिणी चुल्ली जलकुम्भ उपस्करः ॥

¹ त्सप्रासादं — ग, त्सप्रणादं—घ.

एता हि वाह^१ यन्विप्रो बध्यते वै मुहुर्मुहुः ।

एतासां पावनार्थाय पञ्च यज्ञाः प्रकल्पिताः ॥

इति । सूना हिंसास्थानानि ।

अथ सूनां व्याख्यास्यामो जङ्गमस्थावरादीन्प्राणि-
नस्सूदयन्तीति सूनाः

इति हारीतस्मरणात् । खण्डिन्युलूखलादिः । पेपिणी दृष-
दादिः । चुली पाकस्थानम् । जलकुम्भ उदकभाण्डम् । उपस्क-
रश्शूर्पादिः । एता निर्वाहयन् तत्तत्कार्यं प्रापयन् बध्यते पापेन
संयुज्यते इत्यर्थः । अत्र यद्यपि निमित्तश्रवणान्नैमित्तिकत्वं प्राति-
भाति, तथाऽपि नित्यनिमित्तत्वान्नित्यतैवेति । अत एव शङ्कः—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुली पेषण्युपस्करः ।

खण्डिनी चोदकुम्भश्च तस्य पापस्य शान्तये ॥

पञ्चयज्ञविधानं तु गृही नित्यं न हापयेत् ।

व्यासोऽपि—

आपद्यापि च कष्टायां पञ्च यज्ञान्न हापयेत् ।

ते च यज्ञा यमेन दर्शिताः—

ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च ।

भूतयज्ञो नृयज्ञश्च पञ्च यज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥

इति । एतेषां लक्षणमाह तुर्मनुदेवलौ—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

^१ एता निर्वाह — ख.

होमो दैवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

इति । अध्यापनमयध्यनं जपलक्षणं ब्रह्म^१ यज्ञः ।

यत्स्वाध्यायमधीते^२ स ब्रह्मयज्ञः

इति शौनकस्मरणात् ।

यस्तु श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः^३ ।

इति कात्यायनस्मरणात् । तर्पणं पितृतर्पणं पितृश्राद्धं पितृयज्ञः ।

यदाह मनुः—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।

आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि ।

पितृन् श्राद्धेन नृनन्मैर्भूतानि बालिकर्मणा ॥

इति । अथ वा^४ कात्यायनोक्तं द्रष्टव्यम्—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिभौतो नृयज्ञोतिथिपूजनम् ॥

श्राद्धं वा पितृयज्ञस्यात् पित्र्यो बलिरथापि वा !

इति । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था । श्राद्धमत्र नित्यश्राद्धम् ।

तथा च कूर्मपुराणं—

एकं तु भोजयेद्विप्रं पितृनुद्दिश्य सन्ततम् ।

नित्यश्राद्धं तदुद्दिष्टं पितृयज्ञो गतिप्रदः ॥

^१ स ब्रह्म—ख.

^२ मधीयत—ख.

^३ यज्ञस्सुसंस्कृतः—ख.

^४ अतोऽथ—ख.

इति । अनेनादैवं श्राद्धमित्युक्तं भवति । उक्तं च मनुना—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके ।

न चैवात्राशयेत्कं चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजः ॥

इति । पाञ्चयज्ञिके पञ्चयज्ञाङ्गभूते^१ । अपिशब्दात्साति विभवे^२

बहूनपि । अत एव मार्कण्डेयपुराणं—

कुर्यादहरहश्श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पितृनुद्दिश्य विप्रांस्तु भोजयेद्विप्रमेव वा ॥

इति । अत्र विशेषमाह हारीतः—

नित्यश्राद्धमदैवं स्यादर्घ्यपिण्डादिवर्जितम् ।

इति । प्रचेता अपि—

नामन्त्रणं न होमं च नाह्वानं न विसर्जनम् ।

न पिण्डदानं न स्वधा नित्ये कुर्याद्विजोत्तमः ॥

उपवेश्यासनं दत्त्वा सम्पूज्य कुसुमादिभिः ।

निर्दिश्य भोजयित्वा तु किञ्चिदत्त्वा विसर्जयेत् ॥

पुराणेऽपि—

नित्यश्राद्धं तु यन्नाम दैवहीनं तदुच्यते ।

तत्तु^३ षाट्पुरुषं ज्ञेयं दक्षिणापिण्डवर्जितम् ॥

व्यासोऽपि—

नित्यश्राद्धेऽर्घ्यगन्धाद्यैर्द्विजानभ्यर्च्य शक्तितः ।

सर्वान्पितृगणान्सम्यक्सहैवोद्दिश्य भोजयेत् ॥

^१ पञ्चयज्ञान्तर्गते—ग.

^२ सम्भवे—ग.

^३ दत्तं—क. ख.

आवाहनस्वधाकारपिण्डाग्नौकरणादिकम् ।
 ब्रह्मचर्यादिनियमान्विश्वेदेवास्तथैव च ॥
 नित्यग्राह्ये सजेदेतान्भोज्यमन्नं प्रकल्पयेत् ।
 दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या नमस्कारैर्विसर्जयेत् ॥
 एकमप्याशयेद्विप्रं षण्णामप्यन्वहं गृही ।

अत्र मत्स्यपुराणोक्तं द्रष्टव्यं—

यद्येकं भोजयेद्विप्रं त्रीनुद्दिश्य पितृस्तथा ।

अत्रानुकल्पमाह कात्यायनः—

एकमप्याशयेद्विप्रं पितृयज्ञार्थसिद्धये ।
 अथैवं नास्ति चेदन्यो भोक्ता भोज्यमथापि वा ॥
 अप्युद्धृत्य यथाशक्ति किञ्चिदन्नं यथाविधि ।
 पितृभ्य इदमित्युक्त्वा स्वधाकारमुदाहरेत् ॥

तच्चान्नं ब्राह्मणाय दद्यात् । अत एव पितृयज्ञं प्रकृत्य कूर्मपुराणं—

उद्धृत्य वा यथाशक्ति किञ्चिदन्नं समाहितः ।
 वेदतत्त्वार्थविदुषे द्विजायैवोपपादयेत् ॥

इति । तत्राप्यसामर्थ्ये मनूक्तं—

दद्यादहरहश्शाद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
 पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमाहरन् ॥

इति । होमो दैव इति होमो वैश्वदेवः, स देवयज्ञ इत्यर्थः । तथा
 च कूर्मपुराणं—

शालाग्रौ लौकिके वाऽथ जले भूम्यामथापि वा ।

वैश्वदेवस्तु कर्तव्यो देवयज्ञस्स वै स्मृतः ॥

ति । शालाग्रिर्गृह्याग्निः । अत्र बोधायनः—

अहरहर्देवेभ्यस्स्वाहाकुर्यादा काष्ठादथैनं देवयज्ञं
समाप्नोति

ति । आ काष्ठादित्यन्नाभावविषयम् । अत एव प्रचेताः—

तस्मादहरहर्जुहुयादन्नाभावे केनचिदा काष्ठादेवेभ्यः

ति । बलिर्भौत इति बलिहरणं स भूतयज्ञ इत्यर्थः । तथा च
हर्मपुराणं—

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषा¹ द्रूतवलिं हरेत् ।

भूतयज्ञस्स विज्ञोयो भूतिदस्सर्वदेहिनाम् ॥

हारीतोऽपि—

वास्तुपालभूतेभ्यो बलिहरणमहुतः

ति । अहुतो भूतयज्ञः । तत्राप्यन्नाभावे बोधायनोक्तं—

अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेदा पुष्पेभ्योऽथैनं भूतयज्ञं

समाप्नोति

ति । नृत्यज्ञोऽतिथिपूजनमिति—अतिथिपूजनमतिथिभ्योऽन्न-
दानं स मनुष्ययज्ञ इत्यर्थः ।

अतिथिभ्योऽन्नदानं तु नृत्यज्ञस्स तु पञ्चमः ।

ति यम² स्मरणात् । हारीतोपि—

¹ दन्नशेषा—ख.

² मनु—क. ख.

यदेवेभ्यो जुहोति देवलोकं तेनाभियजति यत्पितृ-
भ्यः पितृलोकं तेन यत्स्वाध्यायमधीते ऋषिलोकं
तेन यद्भूतेभ्यो बलिं हरति भूतलोकं तेन यद्वा-
ह्यणांस्तर्पयति मनुष्यलोकं तेन । तस्मादन्नं पितृ-
भ्यो दत्त्वोदीक्षेता ¹ गोदोहनात्

इति । मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादातिथिरुच्यते ।
तस्मिंस्तृप्ते नृयज्ञार्थान्मुच्येतर्णाद्ब्रह्मशूमी ॥

अत्र विशेषमाह नारायणः—

नियुज्यैकमनेकं वा श्रोत्रियं प्राञ्जुखं ² सदा ।

निवीती तद्गतमना ऋषीन्ध्यायन्समाहितः ॥

आसनं चार्घ्यदानं च भुक्ते चाचमनं ततः ।

ऋषीन्सनकादीन्, तेषां मनुष्यत्वात् । कार्ष्णाजिनिरपि—

मनुष्याणां तथा कुर्यात्तर्पणं प्रत्यहं द्विजः ³ ।

हन्तेति हन्तकारं तु गृहस्थः प्रत्यहं यजेत् ⁴ ॥

हन्तेति क्रियते यस्मिन्स हन्तकारः । हन्तेत्युच्चार्य यजेदित्यर्थः ।

अत एव कात्यायनः—

स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम् ।

स्वधाकारः पितॄणां तु हन्तकारस्तथा नृणाम् ॥

¹ तस्मादेवपितृभूतेभ्यो दत्त्वोदीक्षेता—क&ख.

² ब्राह्मणं—ग.

³ कण्ठसेवनम्—ग.

⁴ व्रजेत्—क&ख.

हन्तेतिकरणं हन्तकार इत्यर्थः । अत्रानुकल्पमाह नारायणः—

अशक्तावन्नमुद्धृत्य हन्तेत्येवं प्रकल्पयेत् ।

इति । बोधायनोऽपि—

अहरहर्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादा मूलफलशकेभ्योऽ-
थैनं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति

इति । मुख्यकल्पानन्तरं काष्णार्जनिरपि—

भिक्षां वा पुष्कलं वाऽपि हन्तकारमथापि वा ।

असम्भवे सदा दद्यादुदपात्रमथापि वा ॥

दद्यादातिथय इति शेषः । अत एव मनुष्ययज्ञं प्रकृत्य कूर्म-
पुराणे—

हन्तकारमथाग्रं वा भिक्षां वा शक्तितो द्विजः ।

दद्यादतिथये नित्यं बुध्येत परमेश्वरम् ॥

इति । भिक्षादिलक्षणं तु शातातपेनोक्तं—

ग्रासमात्रं भवेद्भिक्षा पुष्कलं तु चतुर्गुणम् ।

पुष्कलानि च चत्वारि हन्तकारं विदुर्बुधाः ॥

मनुरपि—

ग्रासमात्रं भवेद्भिक्षा अग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।

अग्रं चतुर्गुणीकृत्य हन्तकारो विधीयते ॥

इति । यदा तु पितृयज्ञे भिक्षादाने च ब्राह्मणालाभः¹

तदा प्रतिपत्तिनियमः कूर्मपुराणे दर्शितः—

¹ ब्राह्मणानामसम्भवः—क. ख.

सर्वेषामप्यलाभे¹ तु दत्तं गोभ्यो निवेदयेत् ।

इति । एवं च मन्वादिभिर्वैश्वदेववलिहरणे एव देवयज्ञभूतय-
ज्ञाविति दर्शितम् । आपस्तम्बेन तु मन्त्रभेदात्संज्ञाभेदात्पृथ-
गेवैतद्यज्ञद्वयमुक्तमित्युक्तं, तद्भाष्ये² । अत्र बोधायनः—

प्रवासं गच्छतो यस्य गृहे कर्ता न विद्यते ।

पञ्चानां महतामेषां स यज्ञैस्सह³ गच्छति ॥

प्रवासे कुरुते चैतान्यदन्नमुपपद्यते ।

न चेदुत्पद्यते चान्नमद्भिरेतान् समापयेत् ॥

इति । अत्र कालनियममाह दक्षः—

पञ्चमे च यथाभागे संविभागो यथार्हतः ।

पितृदेवमनुष्याणां भूतानां चोपदिश्यते ॥

इति । संविभागोन्नस्य । अष्टधा विभक्तस्याहः पञ्चमभागे । अतः

एव विष्णुः—

मध्याह्ने त्वथ सम्प्राप्ते बलिं कृत्वाऽऽत्मनो गृहे ।

देवपितृमनुष्याणां शिष्टं भुञ्जीत वाग्यतः ॥

इति । एवं कुर्वतः फलमाह हारीतः—

देवान्पितृनृषींश्चैव भूतानि ब्राह्मणांस्तथा ।

तर्पयन्विधिना विप्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

¹ प्यभावे—क.ख.

² पञ्चमहायज्ञेभ्यो न पृथग्वैश्वदेवमित्यपि न प्रकरणान्तरात्संज्ञाभेदाच्च कमभे-
दावगतेः इति आपस्तम्बसूत्रवृत्तौ (III, 7, 27) सुदर्शनाचार्यः—

³ सयज्ञैस्सह गच्छति—क. घ; सहयज्ञैस्स गच्छति—ग.

इति । शम्भुरपि—

यत्फलं सोमयागेन प्राप्नोति धनवान्द्विजः ।

सम्यक्पञ्चमहायज्ञैर्दरिद्रस्तदवाप्नुयात् ॥

अथाकरणे दोषो गर्गेण दर्शितः—

सूनानिर्णिक्तदोषा ये सर्वे ते वृषलास्मृताः ।

न तेषामधिकारोऽस्ति कचिद्धर्मे दुरात्मनाम् ॥

वृषलश्शूद्रः । व्यासोऽपि—

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी ।

तस्य नायं च न परो लोको भवति धर्मतः ॥

विष्णुपुराणे—

देवादिनिश्वासहतं शरीरं यस्य वेश्मनि ।

न तेन सङ्करं कुर्याद्गृहासनपरिच्छदैः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां पञ्चमहायज्ञाः.

वैश्वदेवविधिः

अथ वैश्वदेवविधिः । तत्र नारायणः—

सभार्यस्तु शुचिस्नानातो विधिनाऽऽचम्य वाग्यतः ।

प्रविश्य सुसमिद्धेऽग्नौ वैश्वदेवं समाचरेत् ॥

इति । सुसमिद्धेऽग्नौ वैदिके वा । तथा च शातातपः—

लौकिके वैदिके वाऽपि हुत्वोत्सृष्टे^१ जले क्षितौ ।

वैश्वदेवस्तु कर्तव्यः पञ्चसूनापनुत्तये ॥

^१ हुतोत्सृष्टे—ग.

वैदिके वैवाहिके । यदाह मनुः—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यकर्म यथाविधि ।

पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥

इति । विशेषश्चतुर्विंशतौ दर्शितः—

प्रातर्होमं तु निर्वर्त्य समुद्धृत्य हुताशनात् ।

शेषं महानसे कृत्वा तत्र पाकं समाचरेत् ॥

इति । अथ वा लौकिकेऽग्नौ पाकः । तदाहाङ्गिराः—

शालाग्नौ तु पचेदन्नं लौकिके वाऽपि नित्यशः ।

इति । शालाग्निर्यज्ञाग्निः । यदा तु लौकिके पाकस्तदा तस्मिन्ने-
व होमः । तदुक्तं कूर्मपुराणे—

यदि स्याल्लौकिके पाकस्ततोऽन्नं तत्र हूयते ।

शालाग्नौ तत्र चेदन्नं विधिरेष सनातनः ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेणापस्तम्बोऽपि—

औपासने पचने वा षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन

जुहुयात्—

इति । अत्र पचने वेति यस्य^१ सर्वाधानं तद्विषयवेमेति व्याख्या-
तं तद्भाष्ये । तदुक्तं च विष्णुना—

आधानाद^२ ग्रिहोत्रस्य आवसथ्यात् बाह्यतः ।

यस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तत्र होमो विधीयते ॥

^१ यत्र — क०ख.

^२ अभावाद—ग

इति । यस्य सर्वाधानं तस्यावसथ्याद्वाह्यतः पृथगग्निहोत्रस्याभा-
वात् गृह्याग्न्य^१ भावेन यस्मिन्लौकिकेऽग्नौ वा पाकस्तत्रैव होम
इत्यर्थः । सोऽपि कथमित्यपेक्षिते शौनकः—

अथ सायम्प्रातस्सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयादग्नि-
होत्रदेवताभ्यस्सोमाय वनस्पतयेऽग्नीषोमाभ्यां द्या-
वापृथिवीभ्यां धन्वन्तरय इन्द्राय विश्वेभ्योदे-
वेभ्यो ब्रह्मणे स्वाहेति । अथ बलिहरणम् ।

इति । हविष्यस्य हविर्योग्यस्येत्यर्थः । अग्निहोत्रदेवताभ्यस्सू-
र्याग्निप्रजापतिभ्य इति यावत् । आपस्तम्बोऽपि—

औपासने पचने वा षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन
जुहुयात् । उभयतः परिषेचनं यथा पुरस्तात्
इति । आद्यैः अग्नये स्वाहेत्यादिस्विष्टतृदनैः । उभयतः कर्मा
दावन्ते चेत्यर्थः । गृह्यकाशायनोऽपि—

वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैः जुहुयाद्ब्रह्मणे प्र-
जापतये गृहेभ्यः काश्यपायानुमतये^२

इति । गौतमोऽपि—

अग्रावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वेदेवाः प्रजापतिस्स्विष्टकृदिति होमाः
इति । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था ।

वैश्वदेवं प्रकुर्वीत स्वशाखाविहितं ततः^३ ।

^१ गृह्याय—रु. & ख.

^२ ब्रह्मणे—नुमतये इत्येतन्न 'ग' पुस्तके.

^३ तथा—ग.

संस्कृतान्नैर्हविष्यैर्वा हविष्यव्यञ्जनान्वितैः ॥

इति स्मरणात्¹ । कात्यायनोऽपि—

उद्धृत्य हविरासिच्य हविष्येण घृतादिना ।

स्वशखाविधिना हुत्वा तच्छेषेण वलिं हरेत् ॥

इति । अत्र हविरुद्धृत्य हविष्येण घृतादिनाऽऽसिच्याभिधार्य
तेन हविषा हुत्वेति सम्बन्धः । अत्रादिशब्दो दध्यादिपरिग्रहार्थः ।

अत एव व्यासः—

जुहुयात्सर्पिषाऽभ्यक्तं तैलक्षारविवर्जितम् ।

दध्यक्तं पयसाऽक्तं वा तदभावेऽम्बुनाऽपि² वा ॥

यदा तु हविष्यद्रव्यालाभस्तदा विशेषश्चतुर्विंशतिमते दर्शितः—

अलाभे येन केनापि फलशाकोदकदिभिः ।

पयोदाधिघृतैः कुर्याद्वैश्वदेवं सृवेण तु ॥

हस्तेनान्नादिभिः कुर्यादद्रिरञ्जलिना जले ।

इति । येन केनापि करणेने³त्यर्थः । अत्रापि यदशनीयं तेनैव
होमः । तदुक्तं परिशिष्टे—

शकं वा यदि वा पत्रं मूलं वा यदि वा फलम् ।

सङ्कल्पयेद्यदा⁴ हारे तेनाग्नौ जुहुयादपि॥

¹ व्यासस्मरणात्—क.घ.

² ऽम्बुनाऽपि—क.ख.

³ कारणेने—ग.

⁴ यथा—ग.

इति । अत्रापस्तम्बोक्तो विशेषः—

न क्षारलवणहोमो विद्यते । तथाऽवरान्नसंसृष्टस्य च अह-
विष्यस्य होमः

इति । अत्र नेति सर्वत्रानुवर्तते । गृह्यपरिशिष्टेऽपि—

उत्तानेन तु हस्तेन अङ्गुष्ठाग्रेण पीडितम् ।

संहताङ्गुलिपाणिस्तु वाग्यतो जुहुयाद्दविः ॥

कात्यायनोऽपि—

योऽनर्चिषि जुहोसग्नौ व्यङ्गारे चैव मोहतः^१ ।

मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजयते ॥

तस्मात्समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कथं चन ।

आरोग्यमिच्छताऽऽयुश्च श्रियमात्यन्तिकीं तथा ॥

शौनकोऽपि—

बहुशुष्केन्धने बह्वौ सुसमिद्धे विशेषतः ।

विधूमे लोलिहाने च होतव्यं कर्मासिद्धये ॥

कात्यायनोऽपि—

जुहूषुश्च बुभूषुश्च^२ पाणिशूर्पास्यदारुभिः ।

न कुर्यादग्निधमनं न कुर्याद्रिचजनादिना ॥

मुखेनैव धमेदग्निं मुखादेषोऽस्य^३ जायत ।

^१ मानव—ग.

जुह्व वल्लहुनेनैव— क; जुह्ववल्लहुते चैव—ख.

^२ धो ह्य—ग.

^३ द्वादशाहमुभयोरध—क.ख.ग&घ.

अत्र व्यवस्थामाह स एव—

नार्घिं मुखेनेति वचो लौकिके योजयेत्ततः ।

इति । आपस्तम्बस्तु वैश्वदेवाद्युपक्रमे व्रतविशेषमाह—

तेषां मन्त्राणामुपयोगे द्वादशाहमथ^१ शश्या ब्रह्म-

चर्यं क्षारलवणवर्जनं चोत्तमस्यैकरात्रमुपवासः

इति । तेषां वैश्वदेवबल्यर्थानाम् । उत्तमस्य 'ये भूताः' इति

मन्त्रस्य । ततो वैश्वदेवश्चरुः,

वैश्वदेवे विश्वे देवाः

इति तेनैवोक्तत्वात् । वैश्वदेवे कर्तव्ये तत्र यत्कर्म तस्मिन्विश्वे-

देवा देवता इत्यर्थः । अत्र पुनरापस्तम्बः—

सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतमिति स्वामिने प्रवूयात्तत्सु

भूतं विराडन्नं तन्मा क्षायीति प्रतिवचनम् ।

इति । ततो^२ वैश्वदेवादिकर्म । एतच्च सायम्प्रातः कार्यं,

सायं प्रातैवैश्वदेवः कर्तव्यो वलिकर्म च ।

अनश्नताऽपि कर्तव्यमन्यथा किल्विषी भवेत् ॥

इति कात्यायनस्मरणात् । अनेनात्मसंस्कार इत्युक्तं भवति ।

उक्तं च परिशिष्टे—

प्रवसेदाहिताग्निश्चेत्तदाचित्कालपर्ययात् ।

यस्मिन्नग्नौ भवेत्पाको वैश्वदेवस्तु तत्र वै ॥

^१ द्वादशाहमुभयोरध—क ख.ग.घ.

^२ अतो—ग.

तत्राहुत्वा तु यो भुञ्क्ते स भुञ्क्ते किल्विषं नरः ।
प्रोषितोऽप्यात्मसंस्कारं कुर्यादेवाविचारयन् ।

गोबिलोऽपि—

यद्येतस्मिन्काले व्रीहियवौ प्रक्रियेयातामन्यतरस्य
हुत्वा कृतमन्येन । यद्येतस्मिन्काले पुनः पुन-
रन्नं पच्येत सकृदेवैकं बालं तत्र कुर्वीत । यद्येक
स्मिन् काले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिर्महानसा-
देवैकं बालं तत्र कुर्वीत

इति । अस्यार्थः—यद्येतस्मिन्काले व्रीहियवाद्येनेकान्न-
पाकः तदा एकस्मादेव पाकाद्धोमादिबालं कुर्वीत
न प्रतिपाकम् । यद्येतस्मिन्कालेऽभ्यागतादिवशेन
पुनः पुनरन्नं पच्येत तदाऽप्येकस्मादेव पाका-
त्सकृदेवैकं बालं कुर्यात् । तथैकान्ययुपजीविनां
भ्रातृपुत्रादीनामेतस्मिन्काले बहुधा पाकेऽपि
गृहपतिपाकात्सकृदेव कुर्वीतेति । अत्रानग्निकं
प्रकृत्यात्रिः—

साग्निकः पितृयज्ञान्तं बलिकर्म समाचरेत् ।
अनाग्निर्हृतशेषं तु बालं काकबालं हरेत् ॥
पुरुषयज्ञादृते नास्ति निरग्नेस्तु महामखः ।

इति । होमोऽपि तस्य वसिष्ठेन दर्शितः—

अनग्रिकस्तु¹ यो विप्रस्सोऽन्नं व्याहृतिभिस्स्वयम् ।

हुत्वा शाकलमन्त्रैश्च शिष्टं काकवलिं हरेत् ॥

शाकलमन्त्राः 'देवकृतस्यैनसः' इत्याद्याः । विष्णुरपि—

अन्नं व्याहृतिभिर्हुत्वा हुत्वा मन्त्रैश्च शाकलैः ।

प्रजापतेर्हविर्हुत्वा पूजयेदतिथिं ततः ॥

इति । अत्र यमः—

अकृत्वा वैश्वदेवं तु भुञ्जते ये द्विजाधमाः ।

वृथा तेनान्नपाकेन काकयोनिं व्रजन्ति ते ॥

व्यासोऽपि—

अकृत्वा वैश्वदेवं तु यो भुङ्क्तेऽनापदि द्विजः ।

स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्छिराः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां वैश्वदेवविधिः

बलिहरणम्.

अथ बलिहरणम् । तत्र कात्यायनः—

उद्धृत्य हविरासिच्य हविष्येण घृतादिना ।

स्वशाखाविधिना हुत्वा तच्छेषेण वलिं हरेत् ॥

इति । अत्र हविरुद्धृत्य हविष्येण घृतादिना हविरासिच्या-

भिघार्य तेन हविषा हुत्वेति सम्बन्धः । अत्र गोविलः—

स्वयं पत्नी यावद्वसेद्बलिं हरेदपि वाऽन्यो ब्राह्मणः

¹ अनेकान्तस्तु. क.

इति । यावद्गृहे वसेत्तावत्स्वयं वाऽन्यो बलिं हरेदित्यर्थः ।

ब्राह्मणग्रहणं पुत्रादिप्रदर्शनार्थम् । अत एवात्रिः—

पुत्रो भ्राताऽथवा ऋत्विक्छिष्यश्चशुरमातुलाः ।

पत्नीश्रोत्रिययाज्याश्च दृष्टास्ते बलिकर्मणि ॥

इति । एतत्प्रवासादिविषयम् । अत एव परिशिष्टे—

प्रवासेदाहिताग्निश्चेत्कदाचित्कालपर्ययात् ।

यस्मिन्नग्नौ भवेत्पाको वैश्वदेवस्तु तत्र वै ।

तत्राहुत्वा तु यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते किल्बिषं नरः ॥

प्रोषितोऽप्यात्मसंस्कारं कुर्यादेवाविचारयन् ।

पुत्रो भ्राता तथा पत्नी शिष्यो वाऽस्य बलिं हरेत् ॥

इति । पत्नी चेदमन्त्रकं,

सायमन्नस्य सिद्धस्य पन्नचमन्त्रं बलिं हरेत्

इति मनुस्मरणात् । यदा तु गृहेऽन्यः कर्ता नास्ति तदा

प्रवासेऽपि स्वयमेव कुर्यात् । तदाह बोधायनः—

प्रवासं गच्छतो यस्य गृहे कर्ता न विद्यते ।

पञ्चानां महतामेषां सह यज्ञैस्स गच्छति ॥

अत्र शौनकः—

अथ बलिहरणं—एताभ्यश्चैव दैवताभ्योऽद्भ्यः¹

ओषधिवनस्पतिभ्यो गृहाय गृहदेवताभ्यो वास्तु-

¹ अद्भ्यः इति न क, खपुस्तकयोः.

देवताभ्य इन्द्रायेन्द्रपुरुषेभ्यो यमाय यमपुरुषेभ्यो
वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यस्सोमाय सोमपुरुषेभ्य इति
प्रतिदिशं ब्रह्मणे ब्रह्मपुरुषेभ्य इति मध्ये विश्वे-
भ्यो देवेभ्यस्सर्वेभ्यो भूतेभ्यो दिवाचारिभ्य
इति दिवा नक्तंचारिभ्य इति नक्तं रक्षोभ्य इ-
त्युत्तरतस्स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं
दक्षिणा निनयेत्.

इति । अस्यार्थः—एताभ्य इति वैश्वदेवदेवतानां ग्रहणम् ।
तासां प्रकृतत्वात् । चकारो वक्ष्यमाणदेवतासमुच्चयार्थः । एव-
कारो मा भूद्रह्यान्तरोक्तानां बलिहरणमिति । एतच्च सूर्या-
येत्यारभ्य वास्तुदेवताभ्य इत्यन्तैः प्रागपवर्गं यथा प्राचि वि-
धि^१ भवति, 'प्राञ्चश्चेष्टा' इति परिभाषितत्वात् । ततस्त-
स्यान्ते प्रतिदिशमिन्द्राद्यै^२ स्तेषां मध्ये ब्रह्मणे ब्रह्मपुरुषेभ्य
इति । सर्वस्य प्रधानस्योत्तरतो^३ विश्वेभ्यो देवेभ्य इति ।
सर्वेभ्यो भूतेभ्य इति मध्य एव, तस्याधिकारात् । ब्रह्मा-
दीनामुत्तरतो रक्षोभ्य इति, तेषां प्रकृतत्वात् । अत एव
तेषां दक्षिणतस्स्वधा पितृभ्य इति । सर्वे मन्त्रास्स्वाहा-
न्ताः । अत्र निनयेदिति वचनं पितृयज्ञार्थं^४ मेतत्कर्मान्तरं बलि-
हरणमिति^५ वक्तुम् । कर्मान्तरत्वं च स्वाहाकारनिवृत्त्यर्थम् ।

^१ हवि — ख. ^२ मिन्द्रादिभ्य इति वरम्. ^३ सर्वप्राधान्योत्तरतः—कख.

^४ पितृयज्ञाख्य -- ग.

^५ न बलिहरणमिति—ग.

कर्मान्तरत्वे¹ कालान्तरेऽपि स्यात्तन्मा भूदिति शेषग्रहणमिति । एतत्सर्वं गृह्यवृत्तावुक्तम् । आपस्तम्बोऽपि—

अपरेणाग्निं सप्तमाष्टमाभ्यामुदगपवर्गमुदपानसन्निधौ नवमेन मध्येऽगारस्य दशमैकादशाभ्यां प्रागपवर्गम् । उत्तरपूर्वदेशेऽगारस्योत्तरैश्चतुर्भिः । शय्यादेशे कामलिङ्गेन । देहल्यामन्तरिक्षलिङ्गेनोत्तरेणापिधान्याम् । उत्तरैर्ब्रह्मसदने दक्षिणतः पितृलिङ्गेन प्राचीनाविषवाचीनपाणिः कुर्यात् । रौद्र उत्तरो यथा देवताभ्यः । तयोर्नाना परिषेचनं धर्मभेदात् । नक्तमेवोत्तमेन वैहायसम् ।

इति । अस्यार्थः—उत्तरैश्चतुर्भिः प्रागपवर्गं तस्याधिकारात् । ब्रह्मसदनेऽगारमध्ये । अत्रापि प्रागपवर्गमित्यनुवर्तते । ब्रह्मसदनादक्षिणतः पितृलिङ्गेन तस्य प्रकृतत्वात् । रौद्र उत्तरतः पैतृकादिति शेषः । तयोर्नाना परिषेचनमित्युत्तरत्र वचनात् । यथा देवताभ्य इति, यथोत्तानेन पाणिना देवताभ्यो बलिदानं तद्वदस्यापि न पुनः पैतृकवदित्यर्थः² । अत्र बलिधर्मानाह स एव—

बलीनां तस्य तस्य देशे संस्कारो हस्तेन परि-

मृज्यावोक्ष्य न्युप्य पश्चात्परिषेचनम्

इति । एकदेशसमवेतानां तु परिषेचनं तन्त्रेणैव विभवात्³ ।

¹ कर्मान्तरे—क. ² पैतृमेधिकवदि—कनिख. ³ सम्भवात्—क.

तदपि तेनैवोक्तं— .

एवं बलीनां देशे देशे समवेतानां सकृत्सकृ-
दन्ते परिषेचनं सति सूपसंस्पृष्टेन कार्याः

इति । अस्यापवादः—

तयोर्नाना परिषेचनं धर्मभेदात्.

इति । तयोः पैतृकरौद्रयोरेकदेशसमवेतत्वेऽपि नाना पृथ-
क्परिषेचनं प्राचीनावीतत्वेऽपि धर्मभेदत्वादित्यर्थः । नक्तमे-
वोत्तमेन वैहायसमिति—विहायस्थाकाशे भवो वैहायसः तमु-
त्तमेन 'ये भूताः' इति मन्त्रेण नक्तमेव दद्यादित्यर्थः । के-
चिदुत्तमेनैव नक्तं नान्येनेति रात्रावन्यमन्त्रनिवृत्तिमिच्छन्ति ।

एतत्सर्वं भाष्यकारेणोक्तम् । गृह्यकात्यायनोपि—

मणिके त्रीन्पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्यै धात्रे विधात्रे
च द्यार्योः प्रतिदिशं वायवे दिशां च मध्ये
त्रीन्ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय ¹ विश्वेभ्यो देवेभ्यो
विश्वेभ्यश्च ² भूतेभ्यस्तेषामुत्तरत उषसे भूतानां
च पतये परं पितृभ्यस्स्वधा नम इति दक्षि-
णतः पितृभ्यस्त्रिभ्य उत्तरापरस्यां दिशि निन-
येत् 'यत्क्षेम तत्ते निर्णेजनम्' ³

¹ नैतत्पदं 'क,' 'ख' योः.

² नैतत्पदं 'ग' पुस्तके.

³ दक्षिणतः पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्यां दिशि निनयेत् यत्वेतन्निर्णेजनम्—
ग ; दक्षिणतः पितृभ्यस्त्रिभ्य उत्तरापरस्यां दिशि निनयेन् यत्क्षेम तत्ते
निर्णेजनम्—घ.

इति । अयमर्थः—मणिके उदपानसमीपे । प्रतिदिशं वायवे
तथा दिशां च । प्रतिदिशमिति शेषः । अत्र प्राचयै दिश
इत्येवं प्रयोगः । 'मध्ये' एतेषामिति शेषः । त्रयाणामुत्तरतो
विश्वेभ्य इति द्वौ । 'परं' तयोरुत्तरतः उपसे भूतानां च
पतय इति । त्रयाणां दीक्षिततः पितृभ्य इति पात्रं निर्णि-
ज्य यत्क्षेम^१ तत्ते इत्युत्तरापरस्यां दिशि निनयेत् । एतत्सर्वं
तद्भाष्यकारेणोक्तम् । अत्र नमोऽन्तास्सर्वे मन्त्राः—

अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते ।

इति कात्यायनस्मरणात् । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था,
न जातु परशाखोक्तं द्विजः कर्म समारभेत्^२ ।

इति वसिष्ठस्मरणात् । अत्र मार्कण्डेयपुराणं—

एवं गृह्यवर्लिं कृत्वा गृहे गृहपतिश्शुचिः ।

आप्यायनाय भूतानां कुर्यादुत्सर्गमादरात् ॥

इति । उत्सर्गोऽन्नस्य । सोऽपि कथमित्यपेक्षिते विष्णुपुराणं—

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि

सिद्धास्सयक्षोरगदैरसङ्गाः ।

प्रेताः पिशाचास्तरवस्समस्ताः

ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाश्च

^१ यक्षेम तत्ते—ग.

^२ समाचरेत्—घ.

बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धवद्धाः¹ ।
 प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयाऽन्नं
 तेभ्यो निसृष्टं सुखिनो भवन्तु ॥
 येषां न माता न पिता न बन्धुः
 नैवान्नसिद्धिर्न तथाऽस्ति तृप्तिः ।
 तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत्
 ते यान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु ॥
 भूतानि सर्वाणि तथाऽन्नमेतत्
 अहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति ।
 तस्मादहं भूतहिताय भूतं
 अन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥
 चतुर्दशो लोकगणो य एषः
 तत्र स्थिता ये खलु भूतसङ्घाः ।
 तृप्त्यर्थमन्नं हि मया निसृष्टं
 तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥
 इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितः ।
 भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ॥
 इति । ततश्चादिभ्योऽन्नं दद्यात् । तदपि तत्रैवोक्तं—
 श्वचण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यात्ततो नरः ।
 ये चान्ये पतिताः केचिदामपात्रास्समागताः ॥

¹ कर्मनिबद्धभावात्—क.

मनुरपि—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।

वायसानां क्रिमीणां च शनकैर्निक्षिपेद्भुवि ॥

अत्र श्ववायसबलिमन्त्रौ व्यासोक्तौ—

श्वानौ द्वौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।

ताभ्यां षिण्डं प्रदास्यामि रक्षेतां पथि मां सदा ¹ ॥

ऐन्द्रवारुणवायव्या याम्यनैऋतिकाश्च ये ² ।

ते काकाः ³ प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मदर्पितम् ॥

अत्र पतितादीनां दानमनित्यं तेषामनियतत्वात् । के चित्त्वा-
गतानामपि दद्यादित्याहुः । तदाहापस्तम्बः—

सर्वान्वैश्वदेवे भागिनः कुर्विता श्वचण्डालेभ्यः ।

नानर्हद्भ्यो दद्यादित्येके

इति । अनर्हद्भ्यश्चण्डालादिभ्यः । अत्र व्यासः—

दत्त्वाऽनेन विधानेन बलिं पश्चादुपस्पृशेत् ।

इति । एवं कुर्वतः फलमाह मनुः—

एवं यस्सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।

स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना ⁴ ॥

इति । आपस्तम्बोऽपि—

य एतानव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यस्स्वर्गः पु-
ष्टिश्च । अग्रं च देयम् ।

¹ पथि सर्वदा—क.

² याम्या वै नैऋतास्तथा—ग.

³ वायसाः—ग.

⁴ प्रजापतिर्मे—ग.

इति । श्रोत्रियायेति शेषः । ^{३३}तथो च वसिष्ठः—

गृहदेवताभ्यो बलिं हरेच्छ्रोत्रियायाग्रं दत्त्वा ब्रह्म-
चारिणे चानन्तरं पितृभ्यो दद्यात्.

इति । ब्रह्मचारिणे भिक्षां दत्त्वेत्यर्थः । अत एव यमः—

भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ।

इति । सोऽपि विधिगौतमेन दर्शितः—

स्वस्ति वाच्य भिक्षादानमप्यपूर्वम्

इति । भिक्षमाणं ब्रह्मचारिणं स्वस्तीति वाचयित्वा तद्धस्ते
जलं प्रदाय भिक्षादानं कार्यमित्यर्थः । यतेः पुनराद्यन्तयो-
रुदकदानं कार्यम् । तथा च व्यासः—

यतिहस्ते जलं दद्याद्भैक्षं दद्यात्पुनर्जलम् ।

तद्भैक्षं मेरुनल्यं रयत्तज्जलं सागरोपमम् ॥

अत्र वचनद्वयेऽपि दद्यादित्यभिधानाद्यतिं ब्रह्मचारिणं वा न^१
प्रत्याचक्षीतेति गम्यते । अत एवापस्तम्बः—

स्त्रीणां च प्रत्याचक्षणाणां समाहितो ब्रह्मचा-
रीष्टं दत्तं हुतं प्रजां पशून् ब्रह्मवर्चसमहाग्रं
वृद्धे । तस्मादु ह वै ब्रह्मचारिसङ्घं चरन्तं न
प्रत्याचक्षीत.

पुराणेऽपि—

अपूजयन् हि काकुत्स्थ तपस्विनमुपागतम् ।

^१ वा भिक्षमाणं न—क.

दुःखाशी च परे लोके स्वानि मांसानि खादति ॥

व्यासोऽपि—

यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ ।

तयोरन्नमदत्वा तु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति । अत्र पराशरः—

दद्याच्च भिक्षात्रितयं परिव्राड्ब्रह्मचारिणाम् ।

इच्छया च ततो दद्याद्विभवे सत्यवारितम् ॥

इति । एतदपि व्रताध्ययनादियोगविषयं,

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुव्रताय वा ।

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्,

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः ॥

इति वसिष्ठस्मरणाच्च । यदा तु वैश्वदेवादर्वाग्भिक्षुरागच्छति

तदा व्यासोक्तं द्रष्टव्यं—

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते ।

उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्वा त्रिसर्जयेत् ॥

वैश्वदेवकृतं दोषं शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् ।

न हि भिक्षुकृतं दोषं वैश्वदेवो व्यपोहति ॥

भिक्षुः परिव्राट् । एवं ब्रह्मचारिण्यपि द्रष्टव्यम् । अत एव

विष्णु¹ पुराणं—

भिक्षां तु भिक्षवे दद्यात् परिव्राड्ब्रह्मचारिणाम् ।
अकल्पितान्नादुद्धृत्य सर्वव्यञ्जनसंयुताम् ॥

भिक्षां¹ प्रकृत्य यमः—

हस्तदत्ता तु या भिक्षा सलिलव्यञ्जनानि च ।

भोक्ता² त्वशुचितां याति दाता³ स्वर्गं न गच्छति ॥

यदा तु भिक्षुकालाभस्तदा विष्णुनोक्तं—

भिक्षुकालाभेऽन्नं गोभ्यो दद्यादग्नौ वा प्राक्षिपेत्

इति । ते च भिक्षुका व्यासेन दर्शिताः—

ब्रह्मचारी यतिश्चैव त्रिद्यार्थी गुरुपोषकः ।

अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः ॥

पुराणेऽपि—

व्याधितस्यार्थहीनस्य कुटुम्बात् प्रच्युतस्य च ।

अध्वानं वा प्रपन्नस्य भिक्षाचर्या विधीयते ॥

इति । भिक्षादिपरिमाणं मनुनोक्तं—

ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा अग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।

अग्रं चतुर्गुणाकृत्य हन्तकारो विधीयते ॥

इति । एवं कुर्वतः फलमाह यमः—

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षां यः प्रयच्छति मानवः ।

गोपदानसमं पुण्यं तस्याह भगवान्यमः ॥

¹ भिक्षान्नं — क.

² भुक्त्वा — क.

³ तथा — क.

ब्रह्मपुराणेऽपि—

यः पात्रपूरणीं भिक्षां यतिभ्यस्संप्रयच्छति ।

विमुक्तस्सर्वपापेभ्यो नासौ दुर्गतिमाप्नुयात् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां बलिहरणम्.

अतिथिपूजा.

अथातिथिपूजा । तत्र विष्णुः—

भिक्षां च दत्त्वाऽतिथिपूजने परं यत्नमानिष्ठेत्.

इति । भिक्षादानानन्तरमप्यतिथिनिरीक्षणाय गृहाङ्कणे कंचि-
त्कालं तिष्ठेदित्यर्थः । तथा च मार्कण्डेयपुराणं—

आचम्य च ततः कुर्यात्प्राज्ञो द्वारावलोकनम् ।

मुहूर्तस्याष्टमं भागमुद्रीक्ष्यो ह्यतिथिर्भवेत् ॥

द्वारेऽवलोकनं द्वारावलोकनम् । ब्रह्मगर्भोऽपि—

गोदोहकालं कांक्षेत कृत्वा भूतबलिं द्विजः ।

इति । अयं च कालनियमः कालान्तरे तस्य निरीक्षणमनाव-
श्यकमिति वक्तुम् । अत एव विष्णुपुराणं—

ततो गोदोहमात्रं वा कालं तिष्ठन्गृहाङ्कणे ।

अतिथिग्रहणार्थाय तदूर्ध्वं वा यथेच्छया ॥

इति । सोऽपि किंलक्षण इत्यपेक्षिते शातातपः—

प्रियो वा यदि वा प्रेक्ष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।

प्राप्तस्तु वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिस्त्वर्गसङ्क्रमः ॥

मनुरपि—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणस्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

न मित्रमतिथिं कुर्यान्नैकग्रामनिवासिनम् ।

अज्ञातकुलनामानमन्नकाल उपस्थितम् ॥

बुभक्षुमागतं श्रान्तं याचमानमकिञ्चनम् ।

ब्राह्मणं प्राहुरतिथिं संपूज्यशक्तितो बुधैः ॥

इति । ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियव्युदासार्थम् । अत एव मनुः—

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे¹ राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥

इति । यत्तु वायुपुराणे—

न घोरो नापि न सङ्कीर्णो नाविद्यो नाविशेषवित् ।

न च सन्तानसम्बन्धो न सेवनपरोऽतिथिः ॥

इति । तदतिथिवहुत्वे द्रष्टव्यम् । अत एव शङ्खः—

यदि तु बहूनां न शक्रुयादेकस्मा एव दद्याद्यः प्रथ-

ममुपागतस्तस्य यश्चोत्रियस्तस्मै दद्यादिति वा ।

दाने विशेषो मार्कण्डेयेन दर्शितः—

न पृच्छेद्गोत्रचरणं स्वाध्यायं वाऽपि पण्डितः ।

शोभनाशोभनाकारं तं मन्येत प्रजापतिम् ॥

¹ ब्राह्मणस्य त्वनतिथिर्गृहे—क.ख.

पुराणेऽपि—

स्वाध्यायगोत्रचरणमष्टा च तथा कुलम् ।

हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही ॥

तथा प्रजापतिश्शुक्रो बहिर्वसुगणो यमः ।

प्रविश्यातिथिमेवैते भुञ्जतेऽन्नं नरेश्वर ॥

इति । एवं भोक्ताऽपि कुलं¹ न ब्रूयात् । तदाह विष्णुः—

देशं गोत्रं कुलं विद्यामन्नार्थं यो निवेदयेत् ।

वैवस्वतेषु धर्मेषु वान्ताशी स तु कीर्तितः ॥

इति । अतिथौ यत्कर्तव्यं तदाह मनुः—

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

इति । उदकग्रहणं पाद्यादिप्रदर्शनार्थं,

स तस्य स्वागतमर्घ्यमाचमनमासनं च प्रदद्यात्.

इति हारीतस्मरणात् । पराशरोऽपि—

आतिथिं तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत् स्वागतादिना ।

तथाऽऽसनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च ॥

श्रद्धया चान्नदानेन प्रियश्चोत्तरेण च ।

गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद्गृही ॥

यमोऽपि—

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनुताम् ।

उत्थाय चासनं दद्यात्स धर्मः पञ्चलक्षणः ॥

उत्थायेति श्रोत्रियातिथिविषयम् । अत एवापस्तम्बः—

ब्राह्मणायानधीयानायासनमुदकमन्नमिति देयम् ।

न प्रत्युत्तिष्ठेत् । अभिवादनायैवोत्तिष्ठेदभिवाद्यश्चेत्.

इति । अत्रासनादिदाने विशेषमाह स एव—

असमुदेतश्चेदतिथिर्ब्रुवाण आगच्छेदासनमुदकमन्नं

श्रोत्रियाय ददामीत्येव दद्यात् । एवमस्य समृद्धं

भवति ।

विद्यावित्तादिविहीनोऽसमुदेतः । तथाऽऽहिताग्नावपि विशेष-
स्तेनैव दर्शितः—

आहिताग्निश्चेदतिथिरभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युदेत्

ब्रूयात् । ब्रात्य कावात्सीरिति । ब्रात्योदकमिति ।

ब्रात्य तर्पयंस्त्विति । ब्रात्य कावाक्सीरिति मन्त्रेण

सम्भाष्योत्तरेण मन्त्रद्वयेनोदकमन्नं च दद्यादित्यर्थः ।

अत्र पुनरापस्तम्बः—

पयउपसेचनमन्नमग्निष्टोमसम्मितं सर्पिषोकथ्य—

सम्मितं मधुनाऽतिरात्रसम्मितं मांसेन द्वादशाह-

सम्मितमुदकेन प्रजावृद्धिरायुषश्च ।

इति । अन्नाभावे च तेनैवोक्तं—

काले स्वामिनावन्नार्थिनं न प्रयाचक्षीयाताम् ।

अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागिति ।

एतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदा चनेति ।

आतिथिवहुत्वे तु मनुनोक्तं—

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।

उत्तमेष्टमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥

अन्नादिकं तु सममेवैकपङ्क्तौ । यथाऽऽह हारीतः—

विद्यातपोऽधिकानां च प्रथमासनमुच्यते ।

पङ्क्तौ सहस्थितानां तु भोजनादि समं स्मृतम् ॥

इति । अत एव विषमदाने दोषमाह वासिष्ठः—

यद्येकपङ्क्तौ विषमं ददाति

स्नेहाद्रयाद्वा यदि वार्थहेतोः ।

वेदेषु दृष्टामृषिभिश्च गीतां

तां ब्रह्महत्यां मुनयो वदन्ति ॥

अत्र मार्कण्डेय पुराणं—

मांसमन्नं तथा शाकं गृहे यच्चोपपादितम् ।

न वै स्वयं तदश्रीया¹ दतिथिं येन नार्चयेत् ॥

आपस्तम्बोऽपि—

ऊर्जं पुष्टिं प्रजां पशूनिष्टापूर्तमिति गृहाणामश्नाति

यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति

इति । अतिथिभोजनानन्तरं वासिष्ठः—

ततो गच्छन्तमासीनमासीमान्तमनुव्रजेत् ।

अनुज्ञानाद्वा² ।

¹ तथाऽश्रीया—ग.

² भोजयित्वापासीत । आसीमान्तमनुव्रजेदनुज्ञानाद्वा—इति वासिष्ठस्मृतौ पाठः.

आसीमान्तमिति श्रोत्रियादाविषयं,

अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तमासीमान्तमनुव्रजेत् ।

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । एवं कुर्वतः फलमाह मनुः—

अतिथिं पूजयेद्यस्तु श्रान्तं चादुष्टमानसम् ।

सवृषं गोशतं तेन दत्तं स्यादिति मे मतिः ॥

विष्णुरपि—

स्वाध्यायेनाग्निहोत्रेण यज्ञेन तपसा तथा ।

नावाप्नोति गृही लोकान्यथा त्वतिथिपूजनात् ॥

इति । तथा अकरणे^१ दोषो व्यासेन दर्शितः—

पथि^२ श्रान्तमविज्ञातमतिथिं क्षुत्पिपासितम् ।

यो न पूजयते भक्त्या तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

अतिथिर्यस्य भग्नशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।

स दत्त्वा दुष्कृतं तस्य पुण्यमादाय गच्छति ॥

देवलोऽपि—

अतिथिर्गृहमागत्य यस्य प्रतिनिवर्तते ।

असत्कृतो निराशश्च स सद्यो हन्ति तत्कुलम् ॥

अतो न तं प्रसाचक्षीतेति भावः । एवं सूर्योद्देऽपि द्रष्टव्यम् ।

तथा च मनुः—

अप्रणोद्योऽतिथित्सायं सूर्योद्दो गृहमेधिना ।

^१ अथाकरणेऽपि—क.

^२ परि—क.

काले प्राप्तस्तृकाले वा नास्यानश्नन्यहे वसेत् ॥
 इति । काले वैश्वदेवान्ते प्राप्तः । सूर्योदो वा अन्यो वा
 सायमतिथिरप्रणोद्यः अपत्याख्येय इत्यर्थः । सूर्योदस्य लक्षण-
 माह प्रचेता —

यस्स्वयं वैश्वदेवान्ते सायं वा गृहमागतः ।

देववत्पूजनीयोऽसौ सूर्योदस्सोऽतिथिस्मृतः ॥

अत्रापि विमुखेऽतिथौ दोषो विष्णुपुराणे दार्शितः—

देवातिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।

तदेवाष्टगुणं पुंसां सूर्योदे विमुखे गते ॥

अत एव लुब्धकायातिथयेऽन्नाद्यभावे भोजनार्थं कपोत आत्मा-
 नमेव प्रददौ । तथाऽऽह व्यासः—

देवतानामृषीणां च संवादिषु पुनः पुनः ।

श्रुतपूर्वो मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥

सुदूरादाश्रमात्प्राप्तः क्षुत्तृष्णाश्रमकर्षितः ।

यः पूज्यतेऽतिथिस्सम्यगयूपः ऋतुरेव सः ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

तमग्निं त्रिः परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥

इति । यदा तु क्षत्रियादिरतिथिरूपेणागच्छति तदा मनूक्तं—

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।

भुक्तवत्क्षुक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।

भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥

इति । आनृशंस्यमनैष्ठुर्यम् । भृत्याः भरणीयाः पोष्या ¹ इत्यर्थः ।

शूद्रेषु विशेषमाहापस्तम्बः —

‘शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुञ्ज्यात्’

इति । ते च पोष्या दक्षेण दर्शिताः—

माता पिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनास्समाश्रिताः ।

अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः ॥

एतच्च भृत्यभरणमावश्यकम् । अन्यथा दोषश्रवणात् । तथा चाग्निः ² —

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ।

नरकः पीडने तस्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत् ॥

इति । मनुरपि—

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।

न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥

यत्तु याज्ञवल्क्येनोक्तं,

भोजयेच्चागतान्काले सखिसम्बन्धिवान्धवान् ।

इति, तत्स्वकुटुम्बाविरोधेन सत्यन्ने द्रष्टव्यम् । यदाहापस्तम्बः—

ये नित्या भाक्तिकास्तेषामनुपरोधेन संविभागो

विहतः । काममात्मानं भार्या पुत्रं वोपरुन्ध्यात् ।

¹ प्रेष्याः—क.

² च स्मृतिः—क & ख.

इति । भक्तमन्त्रं तदेषां ते भक्तिकाः । संविभागोऽन्नस्य ।
मनुरपि—

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम् ।
तद्भवत्यसुखोदरकं जीवतश्च मृतस्य च ॥

इति । अतस्सधनस्यैवायं वान्धवादिऽभोजननियम इत्यवगन्त-
व्यम् । उक्तं चादिपुराणे—

ज्ञातिर्वन्धुजनः क्षीणः तथाऽनाथस्समाश्रितः ।
अन्योपि धनयुक्तस्य पोष्यवर्ग उदाहृतः ॥

अख्याप्यावश्यकमेव भरणम् । यतोऽनन्तरमेवोक्तं—

अभुक्तवत्सु चैतेषु भुञ्जन्भुङ्क्ते तु किल्बिषम् ।
मृतश्च गत्वा नरकं श्लेष्मभुग्जायते नरः ॥

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
सीदता यत्कृतं पापं तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥

इति । अतिथिपूजानन्तरं विष्णुपुराणं—

ततस्सुवासिनीदुःखिगर्भिणीवृद्धबालकान् ।
भोजयेत्संस्कृतान्नेन प्रथमं तु ततो गृही ॥

अत्र व्यासः—

गवाह्निकं परगवे दद्यात्संवत्सरं तु यः ।
अकृत्वा स्वयमाहारं तद्रूपं सार्वकालिकम् ॥

इति । अत्र मन्त्रः—

सौरभेयास्सर्वहिताः पवित्राः पापनाशनाः ।

प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायमतिथिपूजा.

अन्नदानविधिः

अथ प्रसङ्गादन्नदानविषयाणि कानिचिद्वचनानि लिख्यन्ते ।

तत्र व्यासः—

ग्रासमप्येकमन्नस्य यो ददाति दिने दिने ।

स्वर्गलोकमवाप्नोति नरकं च न पश्यति ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यस्योपरि तिष्ठतः ।

अन्नप्रदाता दुर्भिक्षे सुभिक्षे हेमवस्त्रदः ॥

अग्नौ हुत्वाऽथ दानेन यत्पुण्यफलमाप्यते ।

तेन तुल्यं विशिष्टं वा ब्राह्मणे तर्पिते फलम् ॥

ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।

अन्नदानं हि शूद्रे च स्याद्विप्रे चाविशेषतः ॥

विष्णुरपि—

कृत्वा तु पातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।

ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन लिप्यते ॥

अत्र देवलः—

अघृतं भोजयेद्विप्रं यो गृहे सति सर्पिषि ।

परत्र निरयं घोरं स यात्येव न संशयः ॥

मृष्टमन्नं स्वयं भुक्त्वा पश्चात्कदशनं नरः ।
ब्राह्मणान्भोजयेन्मूर्खो नरके चिरमावसेत् ॥

इति । ते च ब्राह्मणाश्श्रोत्रिया एव । यदाह व्यासः—
वेदविद्याव्रतलाते श्रोत्रिये गृहमागते ।
क्रीडन्योषधयस्सर्वा यास्यामः परमां गतिम् ॥
सन्ध्याहीने व्रतभ्रष्टे विप्रे वेदविवर्जिते ।
दीयमानं रुदत्यन्नं किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥

मनुरपि—

विद्यातपस्समिद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
तत्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥

इति । अत्रापि विशेषमाह यमः—

अपचन्तमतिक्रम्य पचन्तं यस्तु भोजयेत् ।
मूषिकाणां भवेद्योनौ वर्षाणामधिकं शतम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायामन्नदानविधिः.

भोजनविधिः

अथ भोजनविधिः । तत्र मनुः—

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भृशेष्वन्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चाद्विघसं तं तु¹ दम्पती ॥

विघसं भुक्ताशिष्टम् । तथा च व्यासः—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।

¹ पश्चाद्विघसं तु—इति मुद्रितमनुस्मृतौ पाठः.

विघसं भुक्तशिष्टं तु यज्ञशिष्टं तथाऽमृतम् ॥

इति । अनेन न कदाचिदप्यात्मार्थमन्नं पचेदित्यर्थादुक्तं
भवति । उक्तं च देवलेन—

नात्मार्थं पाचयेदन्नं नात्मार्थं घातयेत्पशून् ।

देवार्थं ब्राह्मणार्थं च पचमानो न लिप्यते ॥

मनुरापि—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥

अत्र दिङ्मियममाह स एव—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रसङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः ॥

आयुषे हितमायुष्यम् । तत्प्राङ्मुखो भुञ्जीत । यशसे हितं यशस्यं

दक्षिणामुखो भुञ्जीत । श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः । ऋतं सत्यम् ।

तदिच्छन्नुदङ्मुख इत्यर्थः । विष्णुरपि—

प्राङ्मुखोऽश्रीयाद्दक्षिणामुखो वा

इति । अत्रापस्तम्बः—

दक्षिणामुखो भुञ्जीत । अनायुष्यं त्वेवंमुखस्य भो-
जनं मातुरित्युपदिशन्ति.

इति । एतच्च भोजनं रहसि कार्यम् । तथा च देवलः—

आहारं तु रहः कुर्याद्विहारं चापि सर्वतः ।

गुप्तो हि लक्ष्म्या युक्तस्त्यात्प्रकाशे हीयते श्रिया ॥

इति । रहो गुप्तप्रदेशः । पद्मपुराणेऽपि—

गुप्ते चैव प्रदेशे तु प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ।
सुखासने समासीनः पादौ कृत्वा महीतले ॥

इति । अत्र विशेषमाह देवलः—

उपलिप्ते शुचौ देशे पादौ प्रक्षाल्य वाग्यतः ।
प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत शुचिः पीठमाधिष्ठितः ॥

भविष्यत्पुराणेऽपि—

सद्यः कृतोपलेपे तु बहिराचम्य वाग्यतः ।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा सम्यग्विधृतभोजनः ॥

बहिर्भोजनशालात इति शेषः ।

यस्तु भोजनशालायां भोक्तुकाम उपस्पृशेत् ।
आसनस्थो न चान्यत्र स विप्रः पङ्क्तिदूषकः ॥

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । कृतोपलेपे गोमयेनेति शेषः । तथा च
बोधायनः—

मन्त्रेणैव द्विराचम्य गोमयेनोपलेपिते ।
भस्मना वारिणा वाऽपि कारयेन्मण्डलं ततः ॥

इति । अत्र विशेषमाह शङ्खः—

आदित्या वसवो रुद्रा ब्रह्मा चैव पितामहः ।
मण्डलान्युपजीवन्ति तस्मात्कुर्वीत मण्डलम् ॥
चतुष्कोणं द्विजाग्रयस्य त्रिकोणं क्षत्रियस्य तु ।
मण्डलाकृति वैश्यस्य शूद्रस्याभ्युक्षणं स्मृतम् ॥

इति । अत्र यमः—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥

इति । पादग्रहणमङ्गपञ्चकोपलक्षणार्थम् । अत एव व्यासः—

पञ्चाद्रौ भोजनं कुर्यात्प्राञ्जुखो मौनमास्थितः ।

हस्तौ पादौ तथैवास्थ्येषु¹ पञ्चाद्रता मता ॥

मार्कण्डेयोऽपि—

नैकवासास्तथाऽश्रीयाद्भिन्नभाण्डेन मानवः ।

अनार्द्रपाणिपादश्च तथैवानार्द्रमस्तकः ॥

इति । न भिन्नभाण्डेनेति ताम्रादिव्यतिरिक्तविषयम् । अत एव

पैठीनसिः—

ताम्ररजतसुवर्णशङ्खशुक्लशमस्फटिकानां भिन्नमभि-

न्नमिति न दोषः.

इति । प्रचेता अपि—

न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषितैः ।

अन्यत्र ताम्ररौप्याब्जसौवर्णाद्भ्राजनाद्विजः ॥

इति । अब्जं शङ्खादि । भोजनपात्रं प्रकृत्य पैठीनसिः—

ब्रह्मपत्रे तु यो भुङ्क्ते मासमेकं निरन्तरम् ।

त्रिंशच्चान्द्रायणैस्तुल्यं महापातकनाशनम् ॥

सौवर्णे राजते पात्रे ताश्रे पद्मपलाशयोः ।

भोजने भोजने चैव त्रिरात्रात्फलमश्रुते ॥

ब्रह्मपत्रं पलाशपत्रम् । पुराणेऽपि—

पलाशेषु च पत्रेषु मध्यमेषु च भारत ।

यः करोत्यशनं तस्य प्राजापत्यं दिनेदिने ॥

य इच्छेदूर्ध्वगामित्वं परं स्थानं च शाश्वतम् ।

पद्मपत्रे तु भोक्तव्यं मासमेकं निरन्तरम् ॥

पैठीनसिरापि—

एक एव तु यो भुङ्क्ते विमले कांस्यभाजने ।

भोजने भोजने चैव त्रिरात्रफलमश्रुते ॥

एक एव तु यो भुङ्क्ते विमले कांस्यभाजने ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥

कांस्यभाजनं यत्यादिव्यतिरिक्तविषयम् । तदाह प्रचेताः—

ताम्बूलाभ्यञ्जने चैव कांस्यपात्रे च भोजनम् ।

यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत् ॥

अत्र वर्ज्यान्याह पैठीनसिः—

वटार्काश्वत्थपर्णेषु कुम्भीश्रयोदुम्बरेषु च¹ ।

श्रीकामो नैव भुञ्जीत कोविदारकरञ्जयोः ॥

हारीतोऽपि—

न काष्ण्यायसे मृण्मये वा पात्रेऽश्रीयत्

¹ कुम्भितिन्दुकजेषु वा—ग.

इति । प्रचेता अपि—

मृण्मये पर्णपृष्ठे वा कार्पासे तान्तवे तथा ।

नाश्रीयान्न पिबेच्चैव न करे न तथाऽऽसने ॥

इति । तथाऽऽसनान्यपि वर्ज्यानि तेनैव दर्शितानि—

गोशकृन्मृण्मयं^१ भिन्नं तथा पालाशमेव च ।

लोहवद्धं सदैवार्कं वर्जयेदासनं बुधः ॥

इति । अत्र कूर्मपुराणं—

पञ्चाद्रौ भोजनं कुर्याद्रूमौ पात्रं निधाय तु ।

उपवासेन तत्तुल्यं मनुराह प्रजापतिः ॥

व्यासोऽपि—

भूमौ पात्रं प्रतिष्ठाप्य यो भुङ्क्ते वाग्यतश्शुचिः ।

भोजने भोजने चैव त्रिरात्रफलमश्नुते ॥

न्यस्तपात्रस्तु भुञ्जीत पञ्चग्रासान्महामुने ।

शेषमुद्धृत्य भोक्तव्यं श्रूयतामत्र कारणम् ॥

विप्रुषां दोषसंस्पर्शः पादचेलरजस्तथा ।

मुखेन भुङ्क्ते विप्रेन्द्र पित्रर्थं तु न लिप्यते^२ ॥

इति । पित्रर्थं भूमौ पात्रं प्रतिष्ठाप्य न तल्लेपनीयम् । इतरमुद्धृत्य

तत्पात्रे भुञ्जीतेत्यर्थः । वाग्यमनं प्रकृत्य पुराणेऽपि—

स्नास्यतो वरुणशक्तिं जुह्वतोऽग्निश्शूयं हरेत् ।

भुञ्जतो मृत्युरायुष्यं तस्मान्मौनं त्रिषु स्मृतम् ॥

^१ गवां शकृन्मयं—क.

^२ विद्यते—क & ख.

इति । यत्तु अत्रिणोक्तं—

मौनव्रतं महाकष्टं हुङ्कारेणापि नश्यति ।

तथा सति महान्दोषस्तस्मात्तं नियतं चरेत् ॥

इति । तत्काष्ठमौनाभिप्रायम् । एतच्च ग्रासादुपरि वेदितव्यम्,

अनिन्दन्भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।

पञ्चग्रासं महामौनं प्राणाद्याप्यायनं हि तत् ॥

इति वृद्धमनुस्मरणात् । अकुत्सयन् अनिन्दन्नित्यर्थः । अत्र
शातातपः—

हस्तदत्तानि चान्नानि प्रत्यक्षलवणं तथा ।

मृत्तिकाभक्षणं चैव गोमांसाशनवत्स्मृतम् ॥

वृद्धवसिष्ठोपि—

घृतं वा यदि वा तैलं विप्रो नाद्यान्नखच्युतम् ।

यमस्तमशुचिं प्राह तुल्यं गोमांसभक्षणे ॥

पैठीनसिरपि—

लवणं व्यञ्जनं चैव घृतं तैलं तथैव च ।

लेह्यं पेयं च विविधं हस्तदत्तं न भक्षयेत् ॥

इति । केन तर्हि देयमित्यपेक्षिते मनुः—

दर्व्या देयं घृतान्नं तु समस्तव्यञ्जनानि च ।

उदकं यच्च पक्वान्नं यो दर्व्या दातुमिच्छति ।

स भ्रूणहा सुरापश्च स स्तेनो गुरुतल्पगः ॥

अत्र बोधायनः—

सर्वावश्यकावसाने ¹ सुप्रक्षालितपाणिपादोऽप आ-
चम्य ² सम्मृष्टोपलिप्ते ³ देशे प्राङ्मुख उपविश्य त-
द्धृत ⁴ माह्रियमाणं भूर्भुवस्सुवरोमित्युपस्थाय वाचं
यच्छेत् । न्यस्तमन्त्रं महाव्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं
परिषिच्य सव्येन पाणिनाऽविमुञ्चन्नमृतोपस्तरण-
मसीति पुरस्ता ⁵ दपः पीत्वा पञ्चान्नेन प्राणाहुती-
र्जुहोति प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि शिवो माऽऽवि
शाप्रदाहाय प्राणाय स्वाहेति । एवमपाने व्याने
उदाने समानेऽपि ⁶ । पञ्चान्नेन प्राणाहुतीर्हुत्वा
तूष्णीं भूयो व्रतयेत्प्रजापतिं मनसा ध्यायन् ना-
तिसुहि ⁷ तोऽमृतापिधानमसीति तदुपरिष्ठादपः

¹ सर्वावस्थानेषु—ग.

² सुप्रक्षा.....अचम्य—नेदं बोधायनसूत्रे.

³ शुचौ संस्कृते ग; शुचौ संवृते—ख.

⁴ उद्धृत—क, ख & ग.

⁵ तदुपरिष्ठा—क & ख & ग.

⁶ एवम.....नेऽपि—नेदं बोधायनसूत्रे.

⁷ ध्यायन्नान्तरा वाचं विसृजेद्यदन्तरा वाचं विसृजेद्भूर्भुवस्सुवरोमिति
जपित्वा पुनरेव भुञ्जीत । त्वक्केशनखकीटाखुपुरीषाणि दृष्ट्वा तद्देशापिण्ड-
मुद्धृत्याद्भिर्भ्युक्ष्य भस्मावकीर्य पुनरद्भिः प्रोक्ष्य वाचा च प्रशस्तमुपयू-
ञ्जीत । अथाप्युदाहरन्ति—

आसीनः प्राङ्मुखोऽश्रीयाद्वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् !

अस्कन्दयन्स्तन्मनाश्च भुक्त्वा चाग्निमुपस्पृशेत् ॥

इति । सर्वभक्ष्यापूपकन्दमूलफलमांसादीनि दन्तैर्नावधेत् । —इति सूत्रेऽ-
धिकः पाठः.

पीत्वाऽऽचान्तो हृदयदेशमभिमृशति प्राणानां ग्र-
न्थिरसि रुद्रो मा विशान्तकस्तेनान्नेनाप्यायस्वेति
पुनराचम्य दक्षिणे पादाङ्गुष्ठे पाणी मिस्रावयति,
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः । ईशस्सर्व-
स्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् ॥

इति । हुतानुमन्त्रणमूर्ध्वहस्तस्समाचरेत् । श्रद्धायां प्राणे निवि-
श्यामृतं हुतं प्राणमन्नेनाप्यायस्वेति । एवमपानव्यानोदानस-
मानाभिः पञ्चभिः^१ । ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेत्यक्षरेणात्मानं
योजयेत्^२ । सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यत इति । अ-
थाप्युदाहरन्ति—

यथा हि तूलमैषीकमग्नौ प्रोतं प्रदीप्यते ।

तद्वत्सर्वाणि पापानि दहन्ते ह्यात्मयाजिनः ॥

इति । गोविलोऽपि—

अथातः प्राणाहुतिकल्पो व्याहृतिभिर्गायत्र्याऽभि-
मन्त्रय ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायं
सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातः अन्तश्चरासि
भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः । त्वं यज्ञस्त्वं
विष्णुस्त्वं वषट्कारस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः आ-
पो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोममृतो-
पस्तरणमसीत्यपः पीत्वा दशहोतारं मनसाऽ-

^१ प्यायस्वेति पञ्च—इति सूत्रपाठः.

^२ ऽमृतत्वायेत्यात्मानमक्षरेण चात्मानं योजयेत्—इति सूत्रपाठः.

नुद्रुत्यात्वरयन् ¹ पञ्चग्रासान्गृहीयात् प्राणाय
स्वाहेति । गार्हपत्यमेतेन जुहोति । अपानाय
स्वाहेति । अन्वाहार्यपचनमेतेन जुहोति । व्यानाय
स्वाहेति । आहवनीयमेतेन जुहोति । उदानाय
स्वाहेति । सभ्यमेतेन जुहोति । समानायस्वाहेति ।
आवसथ्यमेतेन जुहोति ।

इति । एते मन्त्रा स्वाहाकारान्ताः प्रणवाद्याश्च । तथा च
शौनकः—

स्वाहान्ताः प्रणवाद्याश्च नाम्ना ² मन्त्रास्तु वायवः ।
जुह्वन्नेव ग्रसेदन्नं दशनैश्च न संस्पृशेत् ॥

अत्र विशेषमाह स एव—

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठलग्नं प्राणाहुतौ भवेत् ।
मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैरपाने जुहुयाद्बुधः ॥
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्व्याने तु जुहुयाद्भुविः ।
तर्जनीं तु बहिः कृत्वा उदाने जुहुयाद्बुधः ॥
समाने सर्वहस्तेन समुदायाहुतिर्भवेत् ।

विष्णुरपि—

श्रूयतां कथयामीह हूयते च यथा मुखे ।
भूमौ पात्रं ³ प्रतिष्ठाप्य ॐङ्कारेणैव संयुतम् ॥

¹ नुद्रुत्य परं—ख.

² नाममन्त्रा—ग.

³ पादं—ख.

तदन्नं पञ्चभिश्चैव अङ्गुलीभिर्मुखे क्षिपेत् ।

इति । अन्नोपकल्पनानन्तरं भविष्यत्पुराणं—

भोजनात्किञ्चिदन्नाग्रं धर्मराजाय वै बलिम् ।

दत्त्वाऽथ चित्रगुप्ताय प्रेतेभ्यश्चेदमुच्चरेत् ॥

यत्र क चन संस्थानां क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम् ।

प्रेतानां तृप्तयेऽक्षयमिदमस्तु यथासुखम् ॥

इति । अत्र विष्णुपुराणं—

अश्रीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम् ।

लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः ॥

प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्रीयान्मध्ये तु काठिनाशनम् ।

अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति ॥

मरीचिरपि—

भुक्त्वा दध्नाऽनुपानं तु न कर्तव्यं च वारिणा ।

भुक्त्वा क्षीरोदनं पश्चान्नातितृप्तः स्पृशेद्बुधः ॥

वृद्धमनुरपि—

पीत्वाऽपोशनमश्रीयात्पात्रदत्तमगर्हितम् ।

भार्याभृतकदासेभ्य उच्छिष्टं शेषयेत्ततः ॥

अत्र केषु¹ चिदपवादमाह पुलस्त्यः—

भोजनं तु न निश्शेषं कुर्यात्प्राज्ञः कथं चन ।

अन्यत्र दधिसक्ताज्यपललक्षीरमध्वपः ॥

इति । पल्लं मांसम् । एतदपि सायं प्रातः कार्यं,
 सायं प्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन्भुञ्जीत
 इति गौतमस्मरणात् । अनेनार्थान्नान्तरा^१ भुञ्जीतेत्युक्तं भवति ।
 उक्तं च मनुना—

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।
 नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥

अग्निहोत्रसम इत्यनेन कालद्वयेऽपि भोजनमावश्यकमिसाह ।
 अत एव श्रुतिः—

तस्मात्सायं प्रातरावश्यकं भोजनं स्यात्

इति । भोजनं प्रकृत्यापस्तम्बः—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्षाष्णोदशारण्यवासिनः ।
 द्वात्रिंशतं गृहस्थस्यापरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥
 आहिताग्निरनङ्गांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः ।
 अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥

इति । उपवासादौ बोधायनोक्तं—

गृहस्थो ब्रह्मचारी च योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत् ।
 प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णो भवेतु तः ॥
 प्राणाग्निहोत्रमन्त्रांस्तु निरुद्धे भोजने जपेत् ।
 त्रेताग्निहोत्रमन्त्रांस्तु द्रव्यालाम्भे यः जपेत् ॥

^१ अनेनार्थान्न मन्त्रे—क. ख.

इति । भोजनानन्तरं देवलः—

भुक्तोच्छिष्टं समादाय सर्वस्मात्किञ्चिदाचमन् ।
उच्छिष्टभागधेयेभ्यस्सोदकं निर्वपेद्भुवि ॥

इति । मन्त्रस्तु—

रौरवेऽपुण्यनिलये पद्मार्बुदनिवासिनाम् ।
अर्धिनामुदकं दत्तं^१ अक्षय्यमुपतिष्ठतु ॥

इति । अत्र गद्यव्यासः—

ततस्तृप्तस्सन् 'अमृतापिधानमसि' इत्यपः प्राश्य
तस्माद्देशान्मनागपसृत्य विधिवदाचामेत्.

इति । अपां प्राशने विशेषमाह स एव व्यासः—

हस्तं प्रक्षाल्य गण्डूषं यः पिबेत्पापमोहितः ।
न दैवं नैव पित्र्यं च आत्मानं नैव साधयेत्^२ ॥
अर्थं पीत्वाऽथ गण्डूषमर्थं त्याज्यं महीतले ।
रसातलगतान्नागांस्तेन प्रीणाति नित्यशः ॥

अत्र देवलः—

भुक्त्वाऽऽचम्य तयो^३ क्तेन विधानेन समाहितः ।
शोधयेन्मुखहस्तौ च मृद्भिर्घर्षणकैरपि ॥
आचम्य च ततः कार्यं दन्तकाष्ठस्य भक्षणम् ।
भोजने दन्तलत्रांश्च निर्हृत्याचमनं चरेत् ॥

^१ नित्यं—ग.

^२ उ देव चैव पित्र्य च आत्मानं च साधयेत्—क.

^३ भुक्त्वाऽन्नं च यथो.

दन्तलग्नमसंहार्यं लेपं मन्येत दन्तावत् ।
न तत्र बहुशः कुर्याद्यत्नमुद्धरणं प्रति ॥
भवेदशौचमत्यर्थं तृणवेधाद्रूपे कृते ।

इति । अत्र व्यासः—

मा करेण करं स्प्राक्षीर्मा जङ्घे मा च चक्षुषी ।
जानुनी स्पृश^१ कौन्तेय भर्तव्यस्ते महाजनः ॥

इति । शातातपोऽपि—

आचम्य पात्रमुत्सार्य^२ किञ्चिदार्द्रेण पाणिना ।
मुख्यान्प्राणान्समालभ्य नार्भि पाणितलेन च ॥
भुक्त्वा चापि प्रतिष्ठेत न चाप्यार्द्रेण पाणिना ।
पार्णि मूर्ध्नि समाधाय स्पृष्ट्वा चार्णि समाहितः ॥
ज्ञातिश्रेष्ठश्चमवाप्नोति प्रयोगकुशलो नरः ।

इति । आपस्तम्बोऽपि—

आचम्य चोर्ध्वौ पाणी धारयेदा प्रोदकीभावात् ।
ततोऽग्निमुपस्पृशेत्.

इति । प्रगतमुदकं याभ्यां तौ प्रोदकौ । विष्णुपुराणेऽपि—

स्वस्थः प्रशान्तचित्तस्तु कृतासनपरिग्रहः ।
अभीष्टदेवतानां तु कुर्वीत स्मरणं बुधः ॥
अग्निराप्याययत्वन्नं पार्थिवं पवनेरितः ।

^१ कुक्षिं संस्पृश—ग; जानुभ्यां स्पृश—ख.

^२ मुत्सृज्य—ख.

दत्तावकाशं नभसा ¹ जरयत्वस्तु मे सुखम् ॥
 अन्नं बलाय मे भूयादपा ² मग्नयनिलस्य च ।
 भवत्वेतत्परिणतं ³ ममास्त्वव्याहतं ⁴ सुखम् ॥
 प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोरपि ।
 अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममास्त्वव्याहतं ⁴ सुखम् ॥
 अगस्तिराग्निर्वडवानलश्च भुक्तं मयाऽन्नं जरयत्वशेषम् ।
 सुखं ममैतत्परिणामसम्भवं यच्छत्वरोगं मम चास्तु देहे ⁵ ॥
 विष्णुस्समस्तेन्द्रियदेहदेही प्रधानभूतो भगवान्यथैकः ।
 सत्येन तेनात्तमशेषमन्नमारोग्यदं मे परिणाममेतु ॥
 विष्णुरत्ता तथैवान्नं परिणामश्च वै यथा ।
 सत्येन तेन मे भुक्तं ⁶ जीर्यत्वन्नमिदं तथा ॥
 इत्युच्चार्य स्वहस्तेन परिमृज्याथ चोदरम् ⁷ ।
 अनायासप्रदायीनि कुर्यात्किर्माण्यतन्द्रितः ॥

इति । मार्कण्डेयोऽपि—

भूयोऽप्याचम्य कर्तव्यं ततस्ताम्बूलभक्षणम् ।
 श्रवणं चेतिहासस्य तथा रामायणस्य वा ⁸ ॥

कुर्यादिसध्याहारः । विष्णुरपि—

भुक्तोपविष्टो विश्रान्तो ब्रह्म किञ्चिद्विचिन्तयेत् ⁹ ।

¹ दत्तावकाशं नभसो —ख.

² अन्नं जरय मे भूमेरपा —ख.

³ तत्परिणतौ—ग.

⁴ स्त्वविकलं—ख.

⁵ सम्भवो भवत्वरोगो मम चास्तु देहः —ख.

⁶ मद्भुक्तं—ग.

⁷ परिमृज्यात्तथोदरम्—ग.

⁸ ततः कुर्यात्समाहितः । विष्णुरपि—क. ख.

⁹ द्विचारयेत्—क. ख.

दक्षोऽपि—

इतिहासपुराणाभ्यां षष्ठसप्तमकौ नयेत् ।

अष्टमे लोकयात्रा तु बहिस्सन्ध्या ततः पुनः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां भोजनविधिः.

भोक्तृनियमाः.

अथ भोक्तृनियमाः । तत्र हारीतः —

मार्जनार्चनवलिकर्मभोजनानि दैवेन तीर्थेन कुर्यात्

इति । दैवं तीर्थमङ्गुल्यग्रम् । आपस्तम्बोऽपि—

यत्नेन धारयेद्विप्रः पवित्रं दक्षिणे करे ।

भुञ्जानस्तु विशेषेण अन्नदोषैर्न लिप्यते ॥

अत्रिरापि—

ब्रह्मयज्ञे जपे चैव ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते ।

भोजने वर्तुलः प्रोक्तः एवं धर्मो न हीयते ।

विष्णुपुराणेऽपि—

प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ।

भुञ्जीतोद्धृतसाराणि न कदाचिन्नरेश्वर ॥

वसिष्ठोऽपि—

न च मुखशब्दं^१ कुर्यात्सर्वाभिरङ्गुलीभिरश्रीया-

त्पाणिं च नावधूनुयात्

^१ मुखेन शब्द—क.

इति । मार्कण्डेयोऽपि—

आपोऽशनं सर्वतीर्थं यावदन्नं न लङ्घयेत् ।
बाहुना लङ्घितं त्वन्नमभोज्यं मनुरब्रवीत् ॥
यस्तु पाणितले भुङ्क्ते यस्सवायु समश्नुते ।
अङ्गुलीं चोद्धरेद्यस्तु गोमांसाशनवत् स्मृतम् ॥

सवायु समश्नुते सशब्दं ग्रसत इत्यर्थः । ब्रह्मपुराणेऽपि—

ग्रासशेषं न चाश्नीयात् पीतशेषं पिबेन्न तु ।
शाकमूलफलेक्षूणि दन्तच्छेदैर्न भक्षयेत् ॥

बोधायनोऽपि—

सर्वभक्षापूपकन्दमूलफलमांसानि दन्तैर्नावद्यात् ।
नातिसुहितः.

अतिसुहितोऽतितृप्त इत्यर्थः । मनुरपि—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

यमोऽपि—

नोच्छिष्टं भक्षयोर्त्किञ्चिन्न गच्छन्वा कदाचन ।
खट्वारूढो न भुञ्जीत न पाणिस्थं कदा चन ॥

मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

नास्त्रातो न च संविष्टो न चैवान्यमना नरः ।
न चैव शयने नोर्व्यामुपविष्टो न शब्दवत् ॥

न चैकवस्त्रो न वदन्प्रेक्षतामप्रदाय च ।

भुञ्जीत पुरुषस्स्नातस्सायं प्रातर्यथाविधि ॥

नाश्रीयादिसनुवृत्तौ मार्कण्डेयोऽपि—

पादप्रसारणं कृत्वा न च वेष्टितमस्तकः ।

उशनाऽपि—

नादत्वा मृष्टमश्रीयान्न बहूनां च पश्यताम् ।

नाश्रीयुर्बहवश्चैव तथा चैकस्य पश्यतः ॥

हारीतोऽपि—

न च तदश्रीयाद्येनान्नेन देवपितृमनुष्ययज्ञान्न
कुर्यात्.

इति । वृद्धमनुरपि—

न पिबेन्न च भुञ्जीत द्विजस्सव्येन पाणिना ।

नैकहस्तेन च जलं शूद्रेणावर्जितं पिबेत् ॥

पिबतो यत्पतेत्तोयं भोजने मुखनिस्सृतम् ।

अभोज्यं तद्भवेदन्नं भोक्ता भुञ्जीत किल्बिषम् ॥

पीतावशेषितं कृत्वा ब्राह्मणः पुनरापिबेत् ।

त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्भामहस्तेन वा पुनः ॥

एकहस्तेनावर्जितं जलमित्यर्थः । चतुर्विंशतावपि—

हस्तादृतेऽम्बु चान्येन नाश्रन्पात्रादृते पिबेत् ।

विष्णुरपि—

नोच्छिष्टो घृतमश्रीयादश्रीयाच्चातिजीर्णतः ।

इति । आदिपुराणेऽपि—

नोच्छिष्टो ग्राहयेदाज्यं जग्धशिष्टं न संयजेत् ।
शूद्रभुक्तावशिष्टं तु नाद्याद्भाण्डस्थितं तथा ॥

इति । देवलोऽपि—

एकवस्त्रो न भुञ्जीत कवाटमपिधाय वा ।
यानस्थश्शकटस्थो वा पादुकानिकटेऽपि वा ॥

आत्रिरपि—

आसने पादमरोप्य यो भुङ्क्ते ब्राह्मणः क्वचित् ।
मुखेन धमितं चान्नं तुल्यं गोमांसभक्षणे ॥

बोधायनोऽपि—

भोजनं च जपं¹ दानमुपहारः प्रतिग्रहः ।
न बहिर्जानु कार्याणि तद्वदाचमनं स्मृतम् ॥

इति । बृहस्पतिरपि—

न स्पृशेद्गामहस्तेन भुञ्जानोऽन्नं कदा चन ।
न पादौ न शिरो वस्ति न पदा भाजनं स्पृशेत् ॥

वस्तिर्नाभेरधः । आपस्तम्बोऽपि² —

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ ।
जप्ये भोजनकाले च पादुके परिवर्जयेत् ॥

¹ भोजनं पूजनं—क; हवनं भोजनं—इति बोधायन धर्मे.

² नैतच्छ्लोकद्वयमापस्तम्बे दृश्यते.

नोत्सङ्गे भाजनं कृत्वा भुञ्जीत स्नातको द्विजः ।
न च पाणितले कृत्वा न शय्यायां न चासने ¹ ॥

आदिपुराणेऽपि—

शयनस्थो न भुञ्जीत न चान्यासनसंस्थितः ।
न सन्ध्योर्न मध्याह्ने नार्धरात्रे कदा चन ॥
नार्द्रवासा नार्द्रशिरा न चायज्ञोपवीतवान् ।
न यन्त्रारूढपादस्तु न च सार्धं तु भार्यया ॥
शून्यालये न चाश्रीयान्न च देवाग्निवेशमनि ।
मातापित्रोरथोच्छिष्टं वालो भुञ्जन्भवेत्सुखी ॥

विष्णुपुराणेऽपि ² —

नाश्रीयद्भार्यया सार्धं नाकाशे न तथोत्थितः ।
शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ॥
प्रौढपादः आसनाद्यारोपितपादः । अवसक्थिका जान्वोर्म-
ध्यस्य च वस्त्रादिना बन्धनम् । यत्तु—

ब्राह्मण्या सह योऽश्रीयदुच्छिष्टं वा कदा चन ।
न तस्य दोषमिच्छन्ति नित्यमेव मनीषिणः ॥
उच्छिष्टमितरस्त्रीणां योऽश्रीयद्ब्राह्मणः क्वचित् ।
प्रायश्चित्ती स विज्ञेयस्सङ्कीर्णो मूढचेतनः ॥

इति, न तत्सर्वथा दोषाभावप्रतिपादनपरं, कदाचनेति वचनात् ।
अत एवादिपुराणं—

¹ भाजने—क.

² विष्णुरपि—क. ख.

ब्राह्मण्या भार्यया सार्धं कचिद्भुज्जीत वाऽध्वनि ।

अधोवर्णास्त्रिया सार्धं भुक्त्वा पतति तत्क्षणात् ॥

इति । अत्र पैठीनसिः—

नानियुक्तोऽग्रासनं गच्छेत्

इति । भोक्तुमिति शेषः । शङ्खोऽपि—

नाग्रासनस्थः पूर्वमश्रीयत्

इति । शातातपोऽपि—

अग्रासनोपविष्टस्तु यो भुङ्क्ते प्रथमं द्विजः ।

बहूनां पश्यतां सोऽज्ञः पङ्क्त्या हरति किल्बिषम् ॥

इति । गोबिलोऽपि—

एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सह भोजने ।

यद्येकोऽपि सजेत्पात्रं नाश्रीयुरितरेऽप्यनु ॥

मोहात्तु भुङ्क्ते यस्तत्र स सान्तपनमाचरेत् ।

भुञ्जानेषु तु विप्रेषु यस्तु पात्रं परित्यजेत् ॥

भोजने विघ्नकर्ताऽसौ ब्रह्महा च तथोच्यते ।

आदिपुराणेऽपि—

एकपङ्क्तिरनुत्थाय मध्ये चेदाचमेत्परः ।

तदा शेषं विहायैव ततस्सम्यगुपस्पृशेत् ॥

अप्येकपङ्क्त्या नाश्रीयद्ब्राह्मणैस्स्वजनैरपि ।

को हि जानाति किं तस्य प्रच्छन्नं पातकं भवेत् ॥

इति । यतस्सर्वेषां पातकं भवतीत्यभिप्रायः । अत एव बृहस्पतिः—

एकपङ्क्त्युपविष्टानां दुष्कृतं यदुरात्मनाम् ।
सर्वेषां तत्समं तावद्यावत्पङ्क्तिर्न भिद्यते ॥

इति । पङ्क्तिभेदोऽपि तेनैव दर्शितः—

अग्निना भस्मना वाऽपि स्तम्भेन सलिलेन वा ।
द्वारेण चैव मार्गेण पङ्क्तिभेदो बुधैस्स्मृतः ॥

हारीतोऽपि—

उदकं च तृणं भस्म द्वारं पथास्तथैव च ।
एभिरन्तरितं कृत्वा पङ्क्तिदोषो न विद्यते ॥

इति । अत्रात्रिः—

आचान्तोऽप्यशुचिस्तावद्यावत्पात्रमनुद्धृतम् ।
उद्धृतेऽप्यशुचिस्तावद्यावद्भूमिर्न लिप्यते ॥
भूमावपि हि लिप्तायां तावत्स्यादशुचिः पुमान् ।
आसनादुत्थितस्तस्माद्यावन्न स्पृशते महीम् ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां भोक्तृनियमाः.

ग्रहणविषयाः

अथ भोजननियमप्रसङ्गान्न्यदपि तद्विषयं किञ्चिदुच्यते ।

तत्र मनुः—

चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा विमुक्तयोः ।
अमुक्तयोरस्तगयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा परेऽहनि ॥

इति । अत्र चन्द्रसूर्यग्रहशब्देन तद्युक्तमहोरात्रं लक्ष्यते । एवं च चन्द्रसूर्यग्रहणयुक्तेऽहोरात्रे तद्विमोचनात्पूर्वं न भुञ्जीतेत्युक्तं भवति । उक्तं च मार्कण्डेयेन—

चन्द्रस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भार्गव ।

ग्रहणं तु भवेत्तत्र न पूर्वं भोजनक्रिया ॥

नाचरेत्सग्रहे तस्मिंस्तथैवास्तमुपागते ।

यावत्स्यान्नोदयस्तत्र नाश्नीयात्तावदेव तु ॥

इति । तत्र तस्मिन्नहोरात्र इत्यर्थः । अत्रोदयग्रहणं कथंचिन्मुक्तादर्शनेऽप्युदये सति भोजनं यथा स्यादित्येवं कैश्चिद्ब्रह्मचार्या-तम् । अनेनैवाभिप्रायेण शातातपोऽपि—

अहोरात्रं तु नाश्नीयाच्चन्द्रसूर्यग्रहो यदा ।

मुक्तं दृष्ट्वा तु भुञ्जीत स्नानं कृत्वा विधानतः ॥

इति ! चन्द्रग्रहे तु विशेषमाह मार्कण्डेयः—

ग्रहणं तु भवेदिन्दोः प्रथमादधियामतः ।

भुञ्जीतावर्तनात्पूर्वं प्रथमे प्रथमादधः ॥

इति । प्रथमादधि प्रथमयामादूर्ध्वमित्यर्थः । आवर्तनं मध्यन्दिनम् । अनेन यस्मिन्यामे ग्रहणं ततः पूर्वं यामत्रयं परिहाय भुञ्जीतेत्युक्तं भवति । सूर्यग्रहे तु स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषः—

सूर्यग्रहे तु नाश्नीयात्पूर्वं यामचतुष्टयम् ।

चन्द्रग्रहे तु यामांस्त्रीन् बालवृद्धातुरौर्विना ॥

बालवृद्धातुरैरित्युभयत्र सम्बध्यते । अत एव मार्कण्डेयः—

सायाह्ने ग्रहणं चेत्स्यादपराह्णे न भोजनम् ।

अपराह्णे न मध्याह्ने मध्याह्ने न तु सङ्गवे ॥

भुञ्जीत सङ्गवे चेत्स्यान्न पूर्वं भोजनक्रिया ।

इति । एवं च यदुक्तं कूर्मपुराणे—

नाद्यात्सूर्यग्रहात्पूर्वमहि सायं शशिग्रहात् ।

ग्रहकाले तु नाश्नीयात्स्नात्वाऽश्नीयाद्विमुक्तयोः ॥

मुक्ते शशिनि भुञ्जीत यदि न स्यान्महानिशा ।

स्नात्वा दृष्ट्वाऽपरेऽह्नयद्याद्रस्तास्तमितयोस्तयोः ॥

अत्राहस्सायंशब्दावनुवादकौ वचनान्तरप्राप्तकालोपलक्षणार्थौ
वेत्यनुसन्धेयम् । अत्र व्यासः—

सर्वं भूमिसमं दानं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः ।

सर्वं गङ्गासमं तोयं राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥

इन्दोर्लक्षगुणं पुण्यं रवेश्शतगुणं ततः ।

गङ्गातोये तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटी रवेर्दश ॥

इन्दोः कोटिसहस्रस्य यत्फलं लभते नरः ।

तत्फलं जाह्नवीस्नाने राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥

चन्द्रसूर्यग्रहे चैव योऽवगाहेत जाह्नवीम् ।

स स्नातस्सर्वतीर्थेषु किमर्थमटते महीम् ॥

सूर्यवारे रविग्रासस्सोमे सोमग्रहस्तथा ।

चूडामणिरिति ख्यातः तत्रानन्तं फलं लभेत् ॥

वारेष्वन्येषु यत्पुण्यं ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।

तत्पुण्यं कोटिगुणितं ग्रासे चूडामणौ स्मृतम् ।

षट्त्रिंशन्मतेऽपि—

सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुदर्शने ।

स्नात्वा कर्माणि कुर्वीत गृतमन्नं विवर्जयेत् ॥

सूतकग्रहणं सचेलस्नानप्राप्त्यर्थम् । अत एव वृद्धवासिष्ठः—

सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुसूतके ।

सचेलं तद्ववेत् स्नानं सूतकान्नं च वर्जयेत् ॥

सूतकान्नं राहुसूतकान्नम् । अत्र शातातपः—

सर्वस्वेनापि कर्तव्यं श्राद्धं राहुसमागमे ।

अकुर्वाणस्तु तच्छ्राद्धं पङ्के गौरिव सीदति ॥

ऋष्यगृह्णोऽपि—

राहुग्रस्ते तु वै सूर्ये यस्तु श्राद्धं प्रकल्पयेत् ।

तेनैव सकला पृथ्वी दत्ता विप्रस्य वै करे ॥

स्नानं दानं तपश्श्राद्धमनन्तं राहुदर्शने ।

आसुरी रात्रिरन्यत्र तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥

राहुदर्शनग्रहणं सङ्क्रान्त्यादेरपि प्रदर्शनार्थं—

राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।

स्नानदानादिकं कुर्यान्निशि काम्यव्रतेषु च ॥

इति देवलस्मरणात् । अस्यो मरणम् । श्राद्धद्रव्यं च शाता-

तपोक्तं—

आपद्यनग्नौ तीर्थे च चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ।

आमश्राद्धं द्विजः कुर्याच्छूद्रो दद्यात्सदैव हि ॥

बोधायनोऽपि—

अन्नाभावे द्विजाभावे प्रवासे पुत्रजन्मानि ।

हेमश्राद्धं सग्रहे च शूद्रः कुर्यात्सदैव हि¹ ।

इति । अत्र कालानियमो वृद्धवासिष्ठेन दर्शितः—

त्रिदशास्पर्शसमये तृप्यन्ति पितरस्तथा ।

मनुष्या मध्यमे काले मोक्षकाले तु राक्षसाः ॥

अत्र लिङ्गपुराणं—

चन्द्रसूर्यग्रहे स्नायात्सूतके मृतकेऽपि वा ।

अस्नायी मृत्युमाप्नोति स्नायी पापं न विन्दति² ॥

सूतके मृतके चैव न दोषो राहुदर्शने ।

तावदेव भवेच्छुद्धिर्याचिन्मुक्तो न³ दृश्यते ॥

त्रिरात्रं समुपोष्यैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।

स्नात्वा दत्त्वा च विधिवन्मोदते ब्रह्मणा सह ॥

एकरात्रमुपोष्यैव स्नात्वा दत्त्वा च शक्तितः ।

कञ्चुकादिव सर्पस्य निष्कृतिः पापकोशतः ॥

शातातपोपि—

अयने विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ।

अहोरात्रोषितस्नातस्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

¹ नैतद्वोधायनसूत्रेषु दृश्यते.

² सूतके मृतके तथा --क.

³ न्मूर्तिर्न—क.

एवं च यदुक्तं षट्त्रिंशन्मते—

सूर्यग्रहो यदा रात्रौ दिवा चन्द्रग्रहस्तथा ।

तत्र स्नानं न कुर्वीत दद्याद्दानं न च क्वचित् ॥

तद्यद्भूभागावस्थितानामुपरागो न दृश्यते तद्विषयमित्यवगन्त-
व्यम् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां ग्रहणविषयाः .

सायंसन्ध्या.

अथ सायंसन्ध्या । तत्र व्यासः—

सूर्येऽस्तशिखरं याते पादशौचक्रियान्वितः ।

बहिस्सन्ध्यामुपासीत कुशपाणिस्सर्माहितः ॥

इति । अस्तशिखरं प्राप्तेऽर्धास्तमित इत्यर्थः । अत एव संवर्तः—

प्रातस्सन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि ।

सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्धास्तमितभास्कराम् ॥

अत्र विशेषमाहापस्तम्बः—

सन्ध्ययोश्च बहिर्ग्रामादासनं वाग्यतश्च विप्रतिषेधे

शुतिलक्षणं बलीयः .

इति । अहोरात्रसन्ध्ययोर्ग्रामाद्बहिर्वाग्यतस्य सन्ध्योपासनं
भवति । यस्य तु बहिस्सन्ध्यात्वे शुतिलक्षणविहरणाङ्गबाध-
स्तस्य गृहेऽपि सन्ध्याद्वयमविरुद्धमित्यर्थः । अत एवात्रिः—

सन्ध्याद्वयं¹ तु कर्तव्यं द्विजेनात्मविशुद्धये ।

उभे सन्ध्ये तु कर्तव्ये ब्राह्मणैः स्वगृहेष्वपि ॥

इति । अत्र व्यासः—

बहिस्सन्ध्या दशगुणा गर्तप्रस्रवणेषु च ।

ख्याततीर्थे शतगुणा सहस्रं जाह्नवीजले ॥

शातातपोऽपि —

अनृतं मद्यगन्धं च दिवामैथुनमेव च ।

पुनाति वृषलखान्नं बहिस्सन्ध्याभ्युपासितम् ¹ ॥

वसिष्ठोऽपि ² —

गृहे त्वेकगुणा सन्ध्या गोष्ठे शतगुणा स्मृता ।

शतसाहस्रिका नद्यामनन्ता विष्णुसन्निधौ ॥

इति । अत्र 'अनन्ता शिवसन्निधौ' इति शातातपीयो विशेषः ।

अत्रायं प्रयोगः—कृतप्राणायामस्सायं सन्ध्यामुपासिष्य इति सङ्कल्प्य पूर्ववन्मार्जनान्ते 'अग्निश्च' इत्यपः पिबेत् । तदाहतुः क्रमेण याज्ञवल्क्यशौनकौ—

प्राणानायय्य संप्रोक्ष्य ऋचेनाब्दैवतेन तु ।

सायमाग्निश्च मेत्युक्त्वा प्रतस्सूर्येत्यपः पिबेत् ॥

तस्य प्रकृतिश्छन्दः । सूर्य ऋषिः । अग्निमन्युमन्युपत्सहानि देवता । सायंसन्ध्याचमने विनियोगः । ततो मार्जनादि समानमा गायत्रीजपात् । तत्र विशेषमाह व्यासः—

प्रस्यञ्जुखोपाविष्टस्तु वाग्यतस्सुसमाहितः ।

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीं तु जपेत्ततः ॥

¹ स्सन्ध्या ह्युपासिता — क.

² व्यासोऽपि—क.

अक्षसूत्रं समादाय सम्यगातारकोदयात् ।

शङ्खोऽपि—

कुशब्रुस्यां समासीनः कुशोत्तरायां वा कुशपवित्र-
पाणिरुदङ्मुखस्सूर्याभिमुखो वा अक्षमालामादाय

देवतां ध्यायञ्जपं कुर्यात्

इति । ब्रुसी आसनम् । कुशोत्तरा कुशच्छन्ना । देवता चात्र
गायत्रीप्रतिपाद्या,

‘मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम्’

इति बृहस्पतिस्मरणात् । ततः पूर्ववद्गायत्रीविसर्जनान्तं कृत्वा
स्वशाखाधीतैर्मन्त्रैरादित्यमुपतिष्ठेत्,

उपस्थानं स्वकैर्मन्त्रैरादित्यस्य तु कारयेत् ।

इति वसिष्ठस्मरणात् । ते च मन्त्रा नारायणेन दर्शिताः—

वारुणीभिरादिसमुपस्थाय प्रदक्षिणं कुर्वन् दिशो
नमस्कुर्यादिगीशांश्च पृथक्पृथक्.

इति । वारुण्यश्च ‘इमं मे वरुण’, ‘तत्त्वा यामि’, ‘यच्चि द्विते’
‘यक्तिं चेदं’ ‘कित वासः’, इति । तासां प्रथमातृतीययो-
र्गायत्री छन्दः । द्वितीयापञ्चम्योस्त्रिष्टुप्छन्दः । चतुर्थी जगती ।
आद्यानां तिसृणां शुनश्शेफ ऋषिः । अनन्तरयोः क्रमेण वसि-
ष्ठात्री । वरुणो देवता । आदिसोपस्थाने विनियोगः । बोधाय-
नस्तु गायत्रीजपान्ते रात्र्युपस्थानमाह—

वारुणीभ्यां रात्रिमुपतिष्ठत इमं मे वरुण तच्चा
ग्रामीति द्वाभ्याम् .

इति । अत्राङ्गिराः—

उभे सन्ध्ये तु यो विप्रो मौनमास्ते समाहितः ।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु ब्रह्मलोके महीयते ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां सायंसन्ध्याविधिः .

शयनविधिः .

अथ शयनविधिः । तत्र याज्ञवल्क्यः—

उपास्य पाश्चिमां सन्ध्यां हुत्वाऽग्नीस्तानुपास्य च ।

भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा नातितृप्त्याऽथ संविशेत् ॥

संविशेत्स्वोपेदित्यर्थः । चकारो वैश्वदेवादेरपि समुच्चयार्थः,

सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्तव्यो बलिकर्म च ।

अनश्नताऽपि सततमन्यथा किल्बिषी भवेत् ॥

इति कात्यायनस्मरणात् । एतच्च पाकान्तरादादाय कार्यं न
पुनर्भुक्तशिष्टेन,

न च श्राद्धस्य यच्छिष्टं गृहे पर्युषितं च यत् ।

दम्पत्योर्भुक्तशिष्टं च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति तस्याभोज्यत्वस्मरणात्,

यदार्याणामभोजनं स्यान्न तेन यजेत .

इत्यापस्तम्बस्मरणात् । अत एव बिष्णुपुराणं—

पुनः पाकमुपादाय सायमप्यवनीपते ।

वैश्वदेवनिमित्तं वै पत्न्या सार्धं बलिं हरेत् ॥

तत्रापि श्वपचादिभ्यस्तैवान्नापवर्जनम् ।
 अतिथिं चागतं तत्र स्वशक्त्या पूजयेत्ततः ॥
 देवातिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।
 तदेवाष्टगुणं पुंसां सूर्योदये विमुखे गते ॥
 कृतपादादिशौचश्च भुक्त्वा सायं ततो गृही ।
 गच्छेच्छय्यामस्फुटितां दृढदारुमयीं नृप ॥

इति । गच्छेच्छय्यां शयनार्थमिति शेषः । तत्कथमित्यपेक्षिते हारीतः-

सुप्रक्षालितचरणः सर्वतो रक्षां कृत्वा उदक-
 पूर्णघटादिमङ्गलोपेतः आत्माभिरुचितामनुपहतां
 'सुत्रामाणं' इति पठन् शय्यामधिष्ठाय रात्रि
 सूक्तं जप्त्वा विष्णुं नमस्कृत्य 'सर्पापसर्प भद्रं ते'
 इत्येतच्छ्लोकद्वयं जप्त्वा इष्टदेवतास्मरणं कृत्वा
 समाधिमास्थाय अन्यांश्च वैदिकान्मन्त्रान् सावित्रीं
 जप्त्वा मङ्गलश्रुतिं शङ्खं च शृण्वन् दक्षिणशिरा-
 स्स्वपेत् .

इति । रक्षा चात्र गारुडैर्मन्त्रैः,

माङ्गल्यं पूर्णकुम्भं च शिरस्स्थाने निधाय च ।
 वैदिकैर्गारुडैर्मन्त्रैः रक्षां कृत्वा स्वपेत्ततः ॥

इति पुराणस्मरणात् । रात्रिसूक्तं 'रात्री व्यख्यदायती'
 इसष्टर्चम् । दक्षिणशिरा इति प्रदशनार्थं,

प्राच्यां दिशि शिरश्शस्तं याम्यायामथ वा नृप ।

सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम् ॥

इति पद्मपुराणस्मरणात् । अत्र विशेषमाह व्यासः—

शुचिदेशं विविक्तं तु गोमयेनोषलेपयेत् ।

प्रागुदक्प्रवणे चैव संविशेत्तु सदा बुधः ॥

इति । विविक्तं रहः । गोबिलोऽपि—

स्नातस्संवेशनवेलायां वैणवं दण्डमुपनिदधाति

शयनसमीपे सर्वां रात्रिं निश्चलं स्वत्स्ययनार्थम्

इति । पुराणेऽपि—

रात्रिसूक्तं जपेत्स्मृत्वा देवांश्च सुखशायिनः ।

नमस्कृत्याव्ययं विष्णुं समाधिस्थस्स्वपेन्निशि ॥

इति । सुखशायिनो गोबिलेन दर्शिताः—

अगस्त्यो माधवश्चैव मुचुकुन्दो महाबलः ।

कपिलोमुनिरास्तीकः पञ्चैते सुखशायिनः ॥

अत्र मार्कण्डेयः—

शून्यालये श्मशाने च एको वृक्षे चतुष्पथे ।

महादेवगृहे वाऽपि मातृवेश्मनि न स्वपेत् ॥

न यक्षनागायतने स्कन्दस्यायतने तथा ।

कूलच्छायासु च तथा शर्करालोष्टपांसुषु ॥

न स्वपेच्च तथा दर्भे विना दीक्षां कथं चन ।

धान्यगोदेवविप्राणां गुरुणां च तथोपरि ॥

न चापि भिन्नशयने नाशुचौ नाशुचिस्स्वयम् ।
 नार्द्रवासा न नग्नश्च नोत्तरापरमस्तकः ॥
 नाकाशे सर्वतश्शून्ये न च चैत्यद्रुमे तथा ।

प्रचेता अपि—

न सन्ध्यायां शयीत न देवसमीपे न वेदसमाप्तौ
 नाशुचिर्न नग्नो न विशीर्णखट्वायां नान्यवर्णोप-
 शायितयां नाश्मपीठोपहितायां न भूतयक्षग्रहाय-
 तनेषु न श्मशानवल्मीकमहावृक्षच्छायासु च,

इति । विष्णुरपि—

नार्द्रपादवासास्स्वपेन्न पलाशशयने^१ न पञ्चदारुकृते
 न गजभग्नकृते न विद्युद्ग्रहे^२ नाग्निप्लुष्टे न घटासि-
 क्तद्रुमजे न श्मशानशून्यालयदेवतायतनेषु न च
 पलमध्ये न नारीमध्ये न धान्यगोगुरुहुताशनसुरा-
 णामुपरि नोच्छिष्टो न दिवा .

इति । विष्णुराणेऽपि—

नाविशालां न वा भग्नां नासमां मलिनां न च ।
 न च जन्तुमयीं शय्यामाधितिष्ठेदनास्तृताम् ॥

^१ नोर्द्रपादस्सृप्यनोन्नराशीरः न नग्नो नार्द्रवेशे नाकाशे न पालाशे शकने—
 इति मुद्रिताविष्णुस्मृतौ पाठः

^२ द्रग्ध कृते न । भग्ने नाग्निप्लुष्टे—इति तत्रैव .

इति । दक्षोऽपि—

प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् ।
यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अत्र कूर्मपुराणं—

इत्येतदखिलं प्रोक्तमहन्यहनि वै द्विजाः ।
ब्राह्मणानां कुल्यजातमपवर्गफलप्रदम् ॥
नास्तिक्यादथवाऽऽलस्याद्ब्रह्मणो न करोति यः ।
स याति नरकान्धोरान्काकयोनौ च जायते ॥
नान्यो विमुक्त ये पन्था मुक्ताऽऽश्रमविधिं स्वकम् ।
तस्मात्कर्माणि कुर्वीत तुष्टये परमोष्ठिनः ॥

इति । इति स्मृतिचन्द्रिकायां शयनविधिः.

आद्विकं व्यदधादेवः केशवार्य सुतस्सुधीः ।
सर्वैर्वाचनिकैरर्थैरच्युतः प्रीयतामिति ॥

इति श्री सकल विद्याविशारद श्री केशवादित्य
भट्टोपाध्यायासुत याज्ञिक देवणभट्टोपाध्याय
विरचितायां स्मृतिचन्द्रिकायां
आह्निककाण्डः समाप्तः.

